CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ पदावली

शम्भुसिंह मनोहर

रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर-2

Devayani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ पदावली

(विशद व्याख्या एवं सारगर्भित समीक्षा सहित)

[संशोधित संस्करण]

लेखक–सम्पादक

डॉ॰ शम्भुसिंह मनोहर

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रस्तावना

डॉ॰ भोगीलाल ज॰ सांडेसरा

डायरेक्टर, ओरियंटल इन्स्टीट्यूट

महाराजा सयाजिराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा

रिसर्च पब्लिकेशन्स

त्रिपोलिया बाजार, जयपुर–2

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रास्ताविक

श्री शंभुसिंहजी मनोहर-सम्पादित **'मीराँ पदावली'** का यह संक्षिप्त प्रास्ताविक लिखने में मुझे आनन्द होता है। हिन्दी एवं गुजराती में मीराँ-विषयक अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं और विविध पद-संग्रह भी प्रकट हो चुके हैं, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ की एक विशेषता है। पहले 'समीक्षा-खण्ड' में श्री मनोहर ने मीराँ के जीवन तथा कृतित्व के बारे में पूरे सात प्रकरणों में व्याप्त संक्षिप्त अपितु साधार विवेचन प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं, दूसरे 'व्याख्या-खण्ड' में डाकोर की प्रति पर आधारित 'मीराँ-पदावली' (पद 1–130) दी है, जिसमें प्रत्येक पद के साथ 'व्याख्या' एवं 'शब्दार्थ' भी जोड़े गए हैं।

'शब्दार्थ' विभाग को मैं विशिष्ट महत्त्वपूर्ण समझता हूँ, क्योंकि मारु-गुर्जर भाषा के एक गम्भीर अभ्यासी के द्वारा मीराँ के पदों में प्रयोजित शब्द-विधि का साधार अध्ययन प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न यहाँ किया गया है। अन्य मारु-गुर्जर कवियों के द्वारा प्रयोजित शब्दों के अर्थ एवं अर्थच्छाया के निर्णय में यह अच्छा सहायक होगा।

'शब्दार्थ' विभाग में समाविष्ट शब्दों का एक अलग कोश ग्रन्थ के अन्त में दे दिया गया होता तो तात्कालिक 'रेफरेन्स' के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता।

यह 'मीराँ-पदावली' अनेक दृष्टिकोणों से अभिनन्दनीय है। उसके सम्पादक को मैं बधाई देता हूँ और इस प्रकाशन का सत्कार करता हूँ।

भोगीलाल ज० सांडेसरा
डाइरेक्टर, ओरियंटल इन्स्टीट्यूट
महाराजा सयाजिराव विश्वविद्यालय,
बड़ौदा

23 जनवरी '69

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित

रिसर्च पब्लिकेशन्स, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर द्वारा प्रकाशित
हेमा प्रिन्टर्स एवं कीर्तिमान प्रिन्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

समर्पण

अतुल स्नेहशीला दिवंगता बहिन

ललित

को

जिसकी याद
हर राखी के दिन
मेरी सूनी कलाई को
आँसुओं से भिगो जाती है !

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

संशोधित संस्करण का प्राक्कथन

'मीराँ-पदावली' का यह संशोधित संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव हर्ष है। पूर्व प्रकाशित 'मीराँ-पदावली' का पाठ श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा डाकोर की प्रति के आधार पर सम्पादित 'मीराँ-पदावली' पर आधारित था, जो इन पंक्तियों के लेखक सहित अधिकांश राजस्थानी विद्वानों की दृष्टि में विकृत और संदिग्ध था, जैसाकि हमने उक्त संस्करण के प्राक्कथन में स्पष्ट निर्देश किया था। अतः हमारी यह हार्दिक इच्छा थी कि उस त्रुटि का शीघ्र परिमार्जन किया जाए, परन्तु यह तभी सम्भव था, जब पुस्तक का नया संस्करण निकले।

यह सुयोग अब उपस्थित हुआ है। फलतः 'मीराँ-पदावली' का यह नया संस्करण संशोधित रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें स्वीकृत पाठ मीराँ के पदों के अधिक प्रामाणिक संकलनों, विशेषतः स्व० पुरोहित हरिनारायणजी द्वारा सम्पादित एवं राजस्थान-प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित 'मीराँ-वृहत्पदावली' पर आधारित है। इस दृष्टि से, यह न केवल मीराँ की काव्य-भाषा के ही सम्भावित सच्चे स्वरूप का ज्ञापन करता है, अपितु मीराँ-काव्य के भाव पक्ष अर्थात् उसके अशेष भाव-संभार तथा संवेदनाओं का भी सम्यक् प्रतिनिधित्व करता है।

पदावली के साथ-साथ समीक्षा में भी यत्र-तत्र आवश्यक संशोधन एवं परिवर्द्धन किए गए हैं। यद्यपि हमारी इच्छा मीराँ-काव्य के कुछ उपेक्षित पक्षों पर अधिक विस्तार से प्रकाश डालने की थी, तथापि स्थानाभाव से यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी, मीराँ की भक्ति-भावना एवं काव्य-चेतना का व्यापक परिचय देने की दृष्टि से यह समीक्षा उपादेय सिद्ध होगी।

इसे सुरुचि एवं शुद्धता के साथ-साथ तत्परता से प्रकाशित करने हेतु मैं अपने प्रकाशक श्री पी० सी० जैन को धन्यवाद देता हूँ। साथ ही, पदानुक्रमणिका तैयार करने हेतु सौ० बहू सन्तोषकुमारी, एम०ए० एम०-फिल० को स्नेहमयी आशिष!

शम्भुसिंह मनोहर

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

भक्ति-मूर्ति मीराँबाई को लेकर इधर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उनकी पदावलियों के अनेक संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। स्वतन्त्र शोध-ग्रन्थ भी निकल गए हैं। परन्तु फिर भी मीराँ हमारे इतिहासकारों के लिए 'एक उलझी हुई पहेली' ही बनी हुई है। फलतः मीराँ के जीवन व उसकी रचनाओं के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ फैल जाना आश्चर्यजनक नहीं है। वस्तुतः इनका अन्तिम रूप से निवारण तो तभी होगा, जब मीराँ की पदावली का संशोधित एवं प्रामाणिक पाठ प्रकाश में आएगा, परन्तु पाठ-संशोधन होने तक मीराँ-विषयक इन अनर्गल स्थापनाओं को पोषण देते रहना भी उचित नहीं है। मीराँ के विषय में प्रचलित (या प्रचारित ?) इन भ्रान्तियों का मूल कारण मीराँ-पदावली के प्रामाणिक पाठ का अभाव उतना नहीं, जितना मीराँ की उपलब्ध पदावली में प्रयुक्त शब्दों व विशिष्टार्थक प्रयोगों को ठीक से न समझना है; उन शब्दों को, जिनका अर्थ राजस्थान की काव्य-परम्पराओं एवं सांस्कृतिक आदर्शों के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। इनके सम्यक् परिज्ञान के अभाव में हमारे विद्वज्जनों ने 'मीराँ-पदावली' में प्रयुक्त अनेक शब्दों का अर्थ के नाम पर अनर्थ कर डाला है, जिनका यत्किंचित् परिचय व्याख्या-खण्ड के अन्तर्गत शब्दार्थ-विवेचन के प्रसंग में पाठकों को मिल सकेगा। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण मीराँ द्वारा प्रयुक्त 'जोगी' या 'जोगिया' शब्द है, जिसका सही मर्म न समझ पाने के कारण हमारे कुछ विद्वानों ने मीराँ को नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित मान लिया है, तो कुछ ने विवेक और औचित्य की सारी सीमाओं का अतिक्रमण कर मीराँ का किसी नाथ पंथी जोगी से प्रणय-सम्बन्ध होने की बात भी कह दी है! अपनी भ्रान्तिवश वे मीराँ के निर्मल चरित्र एवं उसके अनन्य कृष्ण-प्रेम पर कितना गम्भीर लाँछन लगा बैठे हैं—इसका उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। प्रस्तुत कृति में समीक्षा एवं व्याख्या खण्डों के अन्तर्गत मीराँ-विषयक ऐसी ही अनेक अनर्गल स्थापनाओं एवं भ्रांत मान्यताओं के निराकरण का विनम्र प्रयास किया गया है, ताकि उस भक्त-कवयित्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का महत्त्व सम्यक् रूप से उभर सके।

यहाँ यह निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ कि प्रस्तुत कृति में मीराँ-पदावली का पाठालोचन मेरा प्रतिपाद्य नहीं है, तथापि उसके प्रामाणिक पाठ-निर्धारण के सम्बन्ध में इसमें कुछ आधारभूत सिद्धान्तों की ओर संकेत किया गया है। पाठगत मत-वैभिन्य होने पर भी मैंने प्रस्तुत कृति में श्री परशुराम चतुर्वेदी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

द्वारा डाकोर की प्रति के आधार पर सम्पादित मीराँ-पदावली के पाठ को ही ज्यों का त्यों रखा है, क्योंकि राजस्थान विश्वविद्यालय सहित अधिकांश विश्वविद्यालयों में यही पदावली एम० ए० के पाठ्यक्रम में नियत है। परन्तु जहाँ-जहाँ पाठगत मतभेद है, वहाँ-वहाँ प्रस्तावित पाठ का भी निर्देश कर दिया गया है। साथ ही, 'मीराँ-पदावली' में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ-निर्णय में मैंने केवल प्रस्तुत पदावली तक ही अपने को सीमित नहीं रखा है। प्रत्युत, अन्य सभी प्रमुख संग्रहों व संकलनों में उपलब्ध पाठांतरों को भी विचाराधीन रखते हुए मध्यकालीन राजस्थानी अथवा 'जूनी गुजराती' काव्यों में प्रयुक्त उन शब्दों की विशिष्ट प्रयोग-परम्परा को भी अपने अर्थ-निर्णय का आधार बनाया है, ताकि 'मीराँ-पदावली' में प्रयुक्त उन शब्दार्थों की प्रामाणिकता में कोई सन्देह न रहे।

कहीं-कहीं मीराँ-पदावली के सन्दर्भ में 'राजस्थानी सबद कोस' में दिए गए अर्थों को भी मैंने स्वीकार नहीं किया है, जिनका सयुक्ति स्पष्टीकरण कर दिया गया है। तात्पर्य यह कि मीराँ-पदावली के अर्थ-निर्णय में राजस्थानी शब्दों की विशिष्ट प्रयोग-परम्परा को ध्यान में रखते हुए ही मैंने 'मीरा-पदावली' (1 से 130 पदों तक) की यथासम्भव अधिकृत व्याख्या प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया है। अपने द्वारा निर्देशित शब्दार्थों की पुष्टि में मैंने प्राचीन व मध्यकालीन राजस्थानी साहित्य से प्रभूत उद्धरण भी दे दिए हैं, जो मीराँ-काव्य के व्यापक तुलनात्मक अध्ययन में उपादेय सिद्ध होंगे।

पुस्तक के लेखन में मैंने जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है, उनका पुस्तकान्त में उल्लेख कर दिया गया है। इनमें मुझे डॉ० प्रभात द्वारा लिखित शोध-ग्रन्थ 'मीराँबाई' से विशेष सहायता मिली है, जिसके लिए उनका कृतज्ञ हूँ। डॉ० प्रभात ने मीराँ पर अद्यावधि बिखरी सामग्री का सम्यक् विवेचन-विश्लेषण कर अपने सुलझे हुए एवं महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, जिनसे अनेक भ्रान्तियों का निराकरण होने के साथ-साथ मीराँ-विषयक अध्ययन भी निश्चित रूप से आगे बढ़ा है। कुछ विचार-बिन्दुओं पर मतभेद होते हुए भी प्रस्तुत लेखक उनकी स्थापनाओं का आदर करता है।

मैं अपने शोध-निर्देशक श्रद्धेय डॉ० सत्येन्द्रजी से, अपने मूल शोध-कार्य से विरत हो, बीच-बीच में इन अवान्तर लेखन-कार्यों में उलझ जाने के लिए क्षमा चाहता हूँ। मुझे विश्वास है, मेरे इन सात्विक व्यतिक्रमों का वे अनुमोदन कर देंगे एवं प्रस्तुत कृति को उनका अशब्द-मौन आशीर्वाद प्राप्त होगा।

मुझे इस पुस्तक के लेखन का प्रस्ताव करने का श्रेय मित्रवर श्री डॉ० हरिचरण शर्मा को है तथा मेरे अनन्य मित्र श्री डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी ने अनेक परम्परागत

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मान्यताओं के विरुद्ध मेरी स्थापनाओं का मुक्त-कंठ से समर्थन कर मेरा उत्साहवर्द्धन किया है। मेरी अत्यन्त प्रिय एवं गौरवमयी शिक्षण संस्था—महाराजा कॉलेज जयपुर के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री महताबचंद्र सक्सेना (जिनके नाम का मैं कभी-कभी पुनरुक्ति-दोष के दृष्टान्त-रूप में उपयोग करने की धृष्टता कर लेता हूँ !) ने भी अपनी सहज-सौहार्द्र पूर्ण तत्परता से वांछित पुस्तकें सुलभ कर मेरी महती सहायता की है। बिहारी के दोहों को लक्ष्य कर कही गई उक्ति, किंचित् रूपान्तर के साथ, उन पर शब्दशः चरितार्थ होती है :—

'देखन में छोटे लगें, काम करें गम्भीर।'

अपने इन सब मित्रों के प्रति अकथ्य आभार !

साथ ही मेरे पुत्रों—आयुष्मान् राघवेन्द्र एवं रवीन्द्र ने अपने पठन-कार्य में संलग्नता के उपरान्त भी अनेक प्रकारेण मेरे भार को हल्का कर इसके लेखन में अपना अप्रत्यक्ष योगदान दिया है। मुन्नी (स्वयंप्रभा) और पप्पू (रतीन्द्र) ने अपने दल-बल सहित मेरे अध्ययन-कक्ष की छत पर भूकम्प लाकर जहाँ मुझे 'आराम हराम है' का मर्म समझाया है वहाँ मेरी लाड़ली बेटी 'गुड्डी' (स्नेहप्रभा) ने मेरा पैन छिपा-छिपाकर मुझे अनचाहा विश्राम भी दिया है ! इस अन्यतम सहयोग के लिए हार्दिक स्नेह !

अन्त में, यदि इस कृति से विद्वानों की मीराँ के विषय में प्रचलित अनेक भ्रांत धारणाओं एवं पिष्टपेषित मान्यताओं पर तनिक भी पुनर्विचार करने की आवश्यकता अनुभव हुई तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

शम्भुसिंह मनोहर

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनुक्रमणिका

समीक्षा–खण्ड

1. मीराँ का जीवन-वृत्त 1–26
2. मीराँ की रचनाएँ 27–32
3. मीराँ के आराध्य एवं उसकी प्रेम-भावना 33–51
4. मीराँ-पदावली की भाषा 52–65
5. मीराँ-काव्य का लोकतात्त्विक विवेचन 66–78
6. मीराँ व अन्य कवि 79–91
7. मीराँ का 'जोगी' या 'जोगिया' कौन ? 92–95

व्याख्या–खण्ड

मीराँ पदावली (1–101 पदों तक) 97–210

परिशिष्ट—पदानुक्रमणिका 211–214

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ-पदावली

(समीक्षा)

1

मीराँ का जीवन-वृत्त

राजस्थान की धरती भक्ति, वीर और श्रृंगार की त्रिवेणी रही है। एक ओर यहाँ का कण-कण मातृभूमि पर उत्सर्ग होने वाले वीरों के रक्त से रंजित है तो दूसरी ओर वह सन्तों और भक्तों की अमृतमयी वाणी से सिंचित भी, जिन्होंने समय-समय पर अवतीर्ण होकर मरणधर्मा मानवों को जीवन के चरम प्राप्य एवं परम काम्य की प्राप्ति का सन्देश दिया है। ये सन्त और भक्त उत्कृष्ट कोटि के कवि भी रहे हैं। यही कारण है कि इनकी वाणी काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त होकर लोकमानस को रसाप्लावित करती हुई जन-जन का कंठहार बन गई है।

राजस्थान के इन भक्त-कवियों में मीराँ का नाम सर्वोपरि है। मीराँ, जिसके गीतों में न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरों की संचित प्रेम-पीड़ा ने अभिव्यक्ति पाई थी, प्राणों में न जाने कितने युग-युगान्तरों का सुप्त वाड़व धधक उठा था तथा नयनों में न जाने कितने विरह-सिन्धुओं से उठा अश्रु-ज्वार एक साथ उमड़ पड़ा था !

यह कितने दुःख की बात है कि कृष्ण-प्रेम की अनन्य प्रतिमूर्ति, उस भक्त-कवयित्री का प्रामाणिक एवं क्रमबद्ध जीवन-वृत्त अद्यावधि ज्ञात नहीं हो सका है, जिसके अभाव में अनेक किंवदन्तियों एवं भ्रान्त-धारणाओं को अनायास पोषण मिल गया है। ऐसी स्थिति में, अल्प मात्रा में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री तथा अन्य अंतर्साक्ष्यों व वहिर्साक्ष्यों के आधार पर मीराँ के जीवन और व्यक्तित्व की स्थूल रूपरेखा से ही हमें सन्तोष कर लेना पड़ता है।

संक्षेप में मीराँ का जीवन-वृत्त निम्नांकित है—

मीराँ का पितृ-वंश

मीराँ राठौड़ों की एक उपशाखा मेड़तिया वंश की थी। क्षत्रियों के प्रसिद्ध छत्तीस वंशों में राठौड़ वंश अपनी उद्भट वीरता एवं अप्रतिम शौर्य के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है, जैसाकि उनकी प्रशस्ति में कहे गए एक कवि के निम्न दोहे से प्रकट है—

Devavani Parishad New Delhi

 CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

बल हट बंका देवड़ा, किरतब बंका गोड़।
हाडा बंका गाढ़ में, रण बंका राठोड़ ।।

इस राठौड़ (राष्ट्रकूट) वंश के आदि पुरुष कौन थे, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु राजस्थान में जोधपुर के राठौड़ राजवंश के आदि पुरुष राव सीहाजी थे, जो प्रतापी कन्नौजराज जयचन्द्र के पौत्र बताए जाते हैं। इन्हीं राव सीहाजी की वंश-परम्परा में राव जोधाजी हुए, जिन्होंने वर्तमान जोधपुर नगर बसाया। राठौड़ों की मेड़तिया शाखा के प्रवर्तक राव दूदाजी इन्हीं राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र थे।

राव दूदाजी ने अपने भाई वरसिंह सहित मेड़ता पर, जो उन दिनों मालवे के सुलतान महमूद खिलजी के अधिकार में था, अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया तथा नगर के साथ-साथ उन्होंने उस प्रान्त के 360 गाँवों पर भी अधिकार कर लिया। तभी उन्होंने तत्कालीन मेड़ता नगर की पुरानी बस्ती के दक्षिण में नया मेड़ता नगर बसाया। संवत् 1559 में वे अपने भाई वरसिंहजी सहित सपरिवार मेड़ते में आकर रहने लगे। इस प्रकार राठौड़ों की मेड़तिया शाखा का प्रारम्भ हुआ।

मीराँ के माता-पिता

राव दूदाजी के दो रानियों से पाँच पुत्र और एक पुत्री हुई। उनके चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह थे। मीराँ इन्हीं रत्नसिंह की पुत्री थी। मीराँ की माता के नाम के विषय में इतिहास मौन है। जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायणजी के अनुसार "मीराँ बाई की माता का नाम वीरकुँवरि और नाना का नाम सुलतानसिंह था। ये जाति के झाला राजपूत थे और गोगूँदा गाँव में ब्याहे थे।"[1]

मीराँ की जन्म–तिथि

मीराँ की जन्म-तिथि के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। श्री ललिताप्रसाद सुकुल ने डाकोर के प्रति में (67) ख संख्या के पद की प्रथम पंक्ति में आए "रास पूणों जणमिया री राधका अवतार" के आधार पर "रास पूनों" को मीराँ की जन्म-तिथि माना है, जो निराधार है।

मिश्र-बन्धुओं ने मीराँ का जन्म संवत् 1573 माना है,[2] जिसका आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अनुसरण किया है।[3] वस्तुतः यह मीराँ का भोजराज से हुए विवाह का संवत् है, जन्म-संवत् नहीं, जैसाकि राजस्थानी ख्यातों में प्राप्त उल्लेख से प्रमाणित है, जिसको महामहोपाध्याय पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुंशी देवीप्रसाद, हरविलास शारदा आदि विद्वानों ने भी एकमत से स्वीकार किया है।

श्री नरोत्तमदास स्वामी के अनुसार मीराँ का जन्म संवत् 1555 और 1561 के बीच माना जा सकता है।[4]

1 मीराँ–वृहत्पदावली; पृ. 3 सं. पुरोहित हरिनारायणजी।
2 मिश्र-बन्धु-विनोद, भाग 1, पृ. 225.
3 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 184.
4 मीराँ मन्दाकिनी, पृ. 3.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

डॉ. प्रभात के अनुसार "विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री के विश्लेषण, तिथि-गणना तथा ऐतिहासिक घटनाओं के साक्ष्य के आधार पर मीराँ की जन्म-तिथि श्रावण सुदी 1 शुक्रवार, संवत् 1561 निर्धारित होती है।"1

परन्तु हमें पुरोहित हरिनारायणजी सहित अधिकांश विद्वानों द्वारा मान्य संवत् 1555 ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

मीराँ का जन्म-स्थान

मीराँ का जन्म मेड़ता परगने के बाजोली नामक ग्राम में हुआ था। वहाँ से कुड़की गाँव में आगए थे तथा वहीं उनकी माता का देहान्त हुआ। फलतः उनका जन्म-स्थान कुड़की ही लिखा जाता है। मुंशी देवीप्रसादजी ने लिखा है–"रत्नसिंहजी की इकलौती लड़की यही मीराँबाई थी, जो ग्राम कुड़की में पैदा हुई थी।"2 धोलेराव गाँव के मेड़तियों के भाट पाबूदानसिंहजी तथा स्थानीय जनश्रुति से भी इसकी पुष्टि होती है। इस सम्बन्ध में चौकड़ी का भी नाम लिया जाता है, परन्तु यह प्रमाण-पुष्ट नहीं है।

मीराँ का बाल्य-काल व विवाह

जैसा कि कह आए हैं, मीराँ राव दूदाजी की पौत्री थी। राव दूदाजी परम धर्मात्मा व्यक्ति थे एवं वे भगवान् चतुर्भुज के उपासक थे। उन्होंने मेड़ता में भगवान् चतुर्भुज का एक मन्दिर भी बनवाया था जो मेड़तिया राठौड़ों के आराध्य हैं। भक्त पितामह के कारण मीराँ के परिवार में धार्मिक भावनाओं का प्राधान्य स्वाभाविक ही था। यद्यपि मीराँ के शैशव-काल के विषय में लोकानुश्रुतियों एवं भक्तों के अतिरंजनापूर्ण उल्लेखों के अतिरिक्त और कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं होता, तथापि एक बात प्रायः अशक्य प्रतीत होती है कि मीराँ में भगवद्प्रेम के संस्कार बचपन से ही विद्यमान थे। उन्हें शैशव से ही श्री गिरिधरलाल का इष्ट था। मीराँ को बचपन से ही कृष्ण-भक्ति की ओर प्रेरित करने वाली दो घटनाओं का प्रायः उल्लेख किया जाता है। एक बार किसी बरात को देखकर मीराँ ने सहज भोलेपन से अपनी माँ से पूछा बताया—माँ, मेरा वर कौन है? अपनी अबोध कन्या के इस अप्रत्याशित प्रश्न से अवाक् हुई माँ ने तब गिरिधरलाल की मूर्ति की ओर संकेत कर दिया। तभी से मीराँ ने मन ही मन गिरिधरलाल को अपना आराध्य मान लिया। एक ऐसी ही घटना उन्हें बाल्यावस्था में किसी साधु द्वारा कृष्ण की मूर्ति प्राप्त होने तथा उससे उनका सहज अनुराग हो जाने विषयक है। कृष्ण-प्रेम का वही अंकुर आगे चलकर विरहाश्रुओं से सिंचित हो प्रगाढ़ प्रेम-वल्लरी में परिणत हो गया। श्याम-प्रेम का यह रंग मीराँ के मन पर कितना गहरा छा गया था—यह उनके इस पद से ही प्रकट है, जिसमें उन्होंने स्वप्न में गोपाल के साथ हुए अपने परिणय की कथा यों कही हैं—

> माई री म्हाँने सुपने में परण गया गोपाल।
> राती पीरी चूनर पहरी, मंहदी पान रसाल।

1 मीराँबाई, डॉ. प्रभात, पृ. 119.
2 मीराँबाई का जीवन–चरित्र, पृ. 9.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

काँई करां और संग भंवर, म्हाँने जग जंजाल।
मीराँ प्रभु गिरधर न लाल सूं, करी सगाई हाल।

18 वर्ष की वय में मीराँ विवाह की वेदी पर बैठा दी गई। संवत् 1573 में उसका विवाह मेवाड़ के प्रसिद्ध वीर राणा साँगा के पुत्र भोजराज के साथ बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर सैंकड़ों घोड़े, ऊँट, रथ, सुखपाल सहित प्रचुर धन-द्रव्य दहेज में दिया गया। साथ ही, मीराँ के विद्या-गुरु गदाधरजी भी मीराँ के साथ चित्तौड़ गए, जिन्हें वहाँ एक बड़ी जागीर मीराँ ने निकाल दी थी। इनके वंशज 'गजाधरे' कहलाते हैं तथा मेड़तिया राठौड़ों के ठिकानों–बदनोर और रूपाहेली में इनका विशेष मान है। उस समय शैशव से ही अपने गिरधरलाल में अनुरक्त मीराँ के भावुक एवं कल्पनाशील मन ने यदि गिरधर की मूर्ति भी नित्य-पूजा के लिए अपने साथ ससुराल ले चलने का आग्रह किया हो तो कुछ अस्वाभाविक नहीं था। कुछ भक्तों ने इस घटना की आदर्श मूलक व्याख्या करने का प्रयास किया है, किन्तु इसमें तथ्य इतना ही है कि बचपन का वह कृष्णानुराग विवाह के उपरान्त भी बना रहा एवं आयु तथा जीवन की क्रूर प्रताड़नाओं के साथ वह उत्तरोत्तर पुष्ट एवं प्रगाढ़ होता चला गया।

मीराँ के पति

मीराँ का विवाह किसके साथ हुआ–इस प्रश्न को लेकर भी अनेक भ्रान्तियाँ खड़ी होगई हैं। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार एवं अन्वेषक कर्नल जेम्स टॉड का अन्धानुकरण करते हुए कुछ विद्वानों ने उनका विवाह राणा कुम्भा से होना माना है, जो सर्वथा भ्रान्त और निराधार है। वस्तुत: मीराँ का विवाह राणा साँगा के पुत्र भोजराज से ही हुआ था, जिसकी पुष्टि संत-परम्परा के उल्लेखों, साहित्यिक साक्ष्यों, ऐतिहासिक शोधों व ख्यातों के प्रमाण आदि विविध स्रोतों से होती है। उदाहरणत: संत हरिदास के पद की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

एक राणी गढ़ चित्तौड़ की।
मेड़तणी निज भगति कु भावै, भोजराइजी का जोड़ा की।

इस प्रकार रामदास लालस-कृत 'भीम-प्रकाश' की हस्तलिखित पोथी, जो संवत् 1856 में लिखी गई थी, के विवरण से भी इसकी पुष्टि होती है—

भोजराज जेठो अभंग, कुँवर पदे मृत कीध।
मेड़तणी मीराँ महल, प्रेमी भगत प्रसीध।।

इन सब उद्धरणों व अन्य साक्ष्यों के आधार पर मीराँ का भोजराज की पत्नी होना तो सर्वथा असंदिग्ध है, परन्तु ये भोजराज राणा साँगा के पाटवी (अर्थात् ज्येष्ठ) पुत्र थे अथवा अन्य पुत्रों में से एक थे, इस पर विद्वानों में मतभेद है। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार एवं पुरातत्वविद् रायबहादुर पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार भोजराज राणा साँगा के दूसरे पुत्र थे। मुंशी देवीप्रसादजी ने ओझाजी के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है—कविराजाजी के मरे पीछे उनके असिस्टेंट पण्डित गौरीशंकरजी से कई महीने तक लिखा पढ़ी होती

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रही तो उन्होंने भी यही लिखा कि मीराँबाई का हाल जियादातर तो किस्सा कहानी है और वह सब जगह मशहूर है। मीराँबाई महाराणा के **दूसरे बेटे** भोजराज की राणी और मेड़ते के राव दूदाजी के बेटे रतनसिंह की बेटी थी।[1]

राजस्थानी ख्यातों में 'मुँहणोत नैणसी की ख्यात' का अपना विशिष्ट स्थान है। उसमें राणा साँगा के पुत्रों के विषय में स्पष्ट उल्लेख है—"**रतनसिंह टीकायत** के अतिरिक्त विक्रमादित्य, उदयसिंह, भोजराज और कर्णनामी और भी पुत्र राणा साँगा के थे।"[2]

टीकायत राजस्थान में ज्येष्ठ या पाटवी पुत्र को कहते हैं, जो हिन्दी में 'युवराज' का पर्याय है। इससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि मीराँ के पति भोजराज राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र नहीं थे, जैसा कि कुछ विद्वानों ने मान लिया है। इसके अतिरिक्त किशनगढ़ नरेश सावन्तसिंह (नागरीदास) ने भी लिखा है—

"मेड़ते मीराँबाई तिनकौ राना के छोटे भाई सों ब्याही।"[3]

मीराँ के एक पद में आए अन्तःसाक्ष्य से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। वह है—"जेठ बहू को नातो नाहीं, राणाजी म्हे सेवक थे स्वामी।" यदि मीराँ के पति भोजराज ही पाटवी (ज्येष्ठ) पुत्र होते तो मीराँ के किसी जेठ के विद्यमान होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः मीराँ के जेठ रतनसिंह थे, जो राणा साँगा के पाटवी पुत्र थे।

इस प्रसंग में, हमें हिन्दी के कुछ विद्वानों व विदुषियों की बुद्धि पर तरस आता है जिन्होंने राजस्थान के राजकुलों में प्रचलित सम्बोधन-परम्परा से अपरिचित होने के कारण 'मेड़तणी' शब्द को लेकर दुनिया भर की अनर्गल कल्पना कर डाली है। उदाहरणतः मीराँ के पदों में प्रयुक्त 'मेड़तणी' शब्द के प्रयोग के आधार पर प्रो. बहुगुणा यह मान्यता प्रस्तुत करते हैं कि राव दूदाजी ने संवत् 1518 में मेड़ता बसाया था, अतः मीराँ उसके पहले भी विद्यमान थी। तात्पर्य यह है कि उसका राणा कुंभा की पत्नी होना संभव लगता है। इसी भाँति, श्रीमती पद्मावती शबनम 'मेड़तणी' शब्द का एक नया और विचित्र अर्थ प्रस्तुत करती हैं—'रूप-शील गुण वाली' तथा इसके आधार पर उन्होंने यह कल्पना कर डाली कि मीराँ (अर्थात् 'रूप शील-गुण वाली' ?) मेड़ता बसने से पहले भी विद्यमान थी। तात्पर्य यह कि वह कुंभा की समकालीन होने से उनकी पत्नी थी। इन विद्वानों व विदुषियों को यह पता नहीं कि राजस्थान में क्षत्रिय ललनाओं को, विवाहोपरान्त, उनके पति-कुल में उनके पितृ-कुल के नाम से पुकारने की एक सामान्य परिपाटी है, जो आज दिन तक चली आ रही है। उदाहरणार्थ हाडा वंशीय रानी को हाडी जी, भाटी वंशीय

1 मीराँबाई का जीवन-चरित्र, मुंशी देवीप्रसाद, पृ. 2.
2 मुँहणोत नैणसी की ख्यात, प्रथम भाग, पृ. 47.
3 नागरसमुच्चय; पद प्रसंगमाला, पृ. 193.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

को भटियानीजी आदि । अतः मेड़तणी का आशय है गढ़ मेड़ता के संस्थापक राव दूदा के मेड़तिया गोत्र की वधू । इसका अर्थ न सुन्दरी है और न रूप-शील-गुण वाली । यद्यपि मेड़तिया राठौड़ों की ललनाएँ स्वभावतः इन गुणों से युक्त होती हैं, तथापि यदि कोई काली-कलूटी या कलह-प्रिया भी हो तो इस वंश की वहू को 'मेड़तणी' ही कहा जाएगा । अतः इस शब्द का रूढ़ व परम्परागत अर्थ न समझ मीराँ के समय को खींच-तान कर उसे राणा कुंभा की समकालीन बनाने के प्रयास में इन विद्वानों ने अपने निपट अज्ञान का ही परिचय दिया है । राजस्थान के राजकुलों की विशिष्ट परम्पराओं से परिचय के अभाव में हमारे हिन्दी के विद्वानों ने ऐसी न जाने कितनी भ्रान्तियों को जन्म दे दिया है, जिनका उल्ललेख करना भी उन्हें अनावश्यक महत्त्व देना है । मीराँ के भोजराज की पत्नी होने विषयक असंदिग्ध एवं अकाट्य प्रमाणों के होते हुए इस प्रकार की अनर्गल कल्पनाओं का कोई अर्थ नहीं है । राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार एवं अन्वेषी कर्नल जेम्स टॉड ने मीराँ का जो राणा कुंभा की पत्नी होना लिख दिया था तो उसकी सीमाएँ थीं । कर्नल टॉड एक विदेशी था । उसे प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में जनश्रुतियों का ही सहारा लेना पड़ा था । अतः यदि टॉड से ऐसे कुछ स्खलन होगए हों तो कोई आश्चर्य नहीं है । केवल इनके कारण ही हमें उसकी अमूल्य सेवाओं को भुला नहीं देना चाहिए । उस पुरातत्त्व-प्रेमी ने प्रचण्ड ग्रीष्म, शीत और वर्षा में नाना कष्ट झेलते हुए ऊँटों-घोड़ों पर पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक स्थलों की लम्बी एवं कष्टकर यात्राएँ कर जो महत्त्वपूर्ण सामग्री बटोरी है, उसके लिए प्रत्येक राजस्थान वासी और पुरातत्व-प्रेमी को उसका कृतज्ञ होना चाहिए । परन्तु हमारे इन आधुनिक हिन्दी विद्वानों को क्या कहा जाए, जो राजस्थान के इतिहास और इसकी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं को जाने या जानने का प्रयास किए बिना बन्द कमरों में बैठे-बैठे मीराँ पर अपने ज्ञान-ग्रन्थ रच डालते हैं तथा अपनी ही कल्पना के बल पर मीराँ की जीवन-समस्याओं को सुलझाते हैं !

सीधी सी बात है । राव दूदाजी ने संवत् 1518 में मेड़ता बसाया था ।[1] अतः तभी से अपने द्वारा अधिकृत मेड़ता के नाम पर राठौड़ों की मेड़तिया नामक उपशाखा का प्रवर्तन हुआ । राव दूदाजी के वंशज 'मेड़तिया' कहलाए और उनकी कन्याएँ अपने पति-कुल में 'मेड़तणी' के नाम से सम्बोधित हुई, जैसा कि उन्हें आज दिन तक कहा जाता है । अतः इस प्रयोग को लेकर बहकने की जरूरत नहीं है । मीराँ का भोजराज के साथ विवाह संवत् 1573 में हुआ था । अतः चित्तौड़ के राजमहलों में उसे बहू 'मेड़तणी' नहीं कहा जाता तो और क्या कहते ? मध्ययुग शौर्य और वीरता का युग था । अतः उस युग के समस्त सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन-मूल्य वीरता और पराक्रम पर ही आधारित थे । यही कारण है कि उस युग

1 मारवाड़ का इतिहास, रेऊ; पृ. 95. ख्यातों में इसका समय सं. 1519 दिया है ।
एवं
मारवाड़ रा परगनां री विगत; भाग 2, पृ. 39; सं. डॉ. नारायणसिंह भाटी ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की क्षात्र-ललनाएँ अपने वीर पितृ-कुल से गौरवान्वित हुईं, ससुराल में भी उसी सम्बोधन से सम्बोधित किये जाने में गर्व का अनुभव करती थी। नाम उनके भी होते थे, परन्तु वे नाम मात्र के थे। प्रयोग में नाम की अपेक्षा उन्हें उनके पितृवंशीय अभिधान से ही पुकारा जाता था तथा इसी में वे अपने को सम्मानित अनुभव करती थीं। यह परम्परा आज तक चली आ रही है, यद्यपि अब आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित क्षत्रिय युवक अपनी पत्नियों को उनके नाम से पुकारने में रसानुभव करने लगे हैं तथा कुछ ऐसी ही मनोवृत्ति क्षत्रिय ललनाओं की भी हो गई है, जो एक सामयिक प्रभाव है। परन्तु मीराँ-काव्य का अध्ययन करते समय हमें मध्ययुगीन परिवेश को ही ध्यान में रखना होगा।

'मीराँ'-नाम : व्युत्पत्ति

मीराँ नाम की व्युत्पत्ति को लेकर भी विद्वानों ने अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार 'मीराँ' शब्द फारसी 'मीर' से व्युत्पन्न है तथा किसी मुसलमान संत द्वारा दिया हुआ उपनाम है।[1] कबीर के चार दोहों में आए 'मीराँ' शब्द के परमात्मा या ईश्वरवाची अर्थ के आधार पर उन्होंने 'मीराँबाई' का अर्थ लगाया 'ईश्वर की पत्नी' जो सर्वथा असंगत व निर्मूल है, क्योंकि 'बाई' शब्द राजस्थान में बहन व बेटी के लिए ही प्रयुक्त होता है, पत्नी के लिए नहीं। अतः यह उपनाम वाली बात निराधार है। इसी प्रकार श्री नरोत्तमदास स्वामी की यह मान्यता कि मीराँ का मूल रूप 'वीरां' है,[2] कोई महत्त्व नहीं रखती। राजस्थानी में 'वीरा' शब्द तो अवश्य है, जो 'भाई' का वाचक है परन्तु 'वीरां' कोई शब्द नहीं होता। अतः स्वामीजी की मान्यता कल्पना-प्रसूत होने के साथ-साथ निरर्थक भी है। कुछ ऐसी ही बेतुकी कल्पना श्री ललिताप्रसाद सुकुल और पं. के. का. शास्त्री ने की है, जिन्होंने मीराँ की व्युत्पत्ति क्रमशः 'मेडता'[3] व 'मिहिर'[4] से जोड़ी है। वस्तुतः 'मीराँ' नाम की व्युत्पत्ति को लेकर किए गए इन काल्पनिक और हास्यास्पद प्रयासों का उल्लेख करना भी इनको अवांछित महत्त्व देना है। अतः इन अनर्गल स्थापनाओं के विवेचन में व्यर्थ समय नष्ट न कर मै अपनी मान्यता को संक्षेप में प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ।

वस्तुतः मीराँ का मूल नाम क्या था, और यदि मीराँ ही था तो उसका आधार क्या था—ये प्रश्न अद्यावधि अनिर्णीत हैं, एवं इस विषय में अन्तिम व निर्विवाद रूप से कुछ नहीं जा सकता।

इस सम्बन्ध में पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम पुरोहित हरिनारायणजी की धारणा को ही अपेक्षाकृत अधिक संगत समझते हैं, जिनके अनुसार मीराँ नाम

1 सरस्वती (प्रयाग) भाग 40, अंक 3 तथा 'योग प्रवाह'।
2 राजस्थानी-साहित्य (उदयपुर) वर्ष 1, अंक 2.
3 मीराँ स्मृति ग्रन्थ; मीराँ : निरुक्त; तथा मुंशी देवीप्रसाद कृत मीरांबाई का जीवन-चरित्र।
4 कविचरित, भाग 1.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अजमेर शरीफ के सिद्ध मीराँ शाह की मनौती के फलस्वरूप उत्पन्न होने के कारण दिया गया है ।[1]

इसके साथ ही, कर्नल जेम्स टॉड द्वारा लिखित 'पश्चिमी भारत की यात्रा' (Travels in Western India) में अचलेश्वर (आबू) की यात्रा-वर्णन के प्रसंग में एक उल्लेख आता है—"अन्दर घुसते ही आँखें **'पर्वत की देवी मीराँ'** की ओर आकृष्ट होती हैं, जो इस अनेक रूप देवता की पत्नी है। पहली दृष्टि में यही मूर्ति पूज्य-प्रतिमा दिखाई पड़ती है और फिर नीचे झुककर चट्टान में बने हुए एक गहरे छिद्र में, जो 'ब्रह्मखाल' कहलाता है, देखने पर शिव का उज्ज्वल नख दिखाई पड़ता है, जो अतीत काल से लाखों भक्तजनों को अर्घ्य प्रदान करने के लिए आकृष्ट करता रहा है ।"[2]

इसके नीचे अनुवादक की पाद-टिप्पणी है—"ग्रन्थकार ने यहाँ Mera शब्द लिखा है। पार्वती के पर्यायों में तो ऐसा कोई शब्द मिलता नहीं है ।"[3]

यदि 'मीराँ' नामक कोई 'पर्वत की देवी' रही हो, जैसा कि कर्नल टॉड ने लिखा है और जो प्रत्यक्ष-दृष्ट होने के कारण अविश्वसनीय नहीं है, तो संभवत: मीराँ नामकरण का आधार उक्त नामधारिणी स्थानीय देवी रही हो। जो हो, यह अनुमान मात्र है, जिसके विषय में सम्यक् अनुसंधान अपेक्षित है ।

इस प्रसंग में, मीराँ का मूल जन्म-नाम 'पेमल' होने की बात भी कही जाती है, जिसका आधार कदाचित् ब्रह्मदासजी दादूपंथी-रचित भगतमाल का यह उल्लेख है–

न हुवौ घटनास पियौ विष पेमल, जास धणी वल् तास जरै ।[4]

परन्तु विश्वस्त व प्रामाणिक स्रोत से इस तथ्य की पुष्टि हुए बिना हम इस विषय में कोई मत नहीं दे सकते ।

वैधव्य

मीराँ ने लौकिक सुहाग का सुख अधिक दिन नहीं देखा। विवाह के कोई 10 वर्ष बाद, संवत् 1583 के लगभग राणा साँगा के जीवन-काल में ही उसके पति भोजराज की मृत्यु होगई। इससे मीराँ के जीवन में एक नया मोड़ आगया। मीराँ की लौकिक रति, जिसे पति के असामयिक निधन के कारण विकसित एवं पल्लवित होने का अवसर ही न मिला था, अब भक्ति के प्रबल जन्मजात संस्कारों से उदात्तीकृत हो कृष्ण-प्रेम में पर्यवसित होगई। मीराँ का ऐहिक सौभाग्य-सिन्दूर लुट गया परन्तु गिरधर के अखण्ड सौभाग्य का रंग अब सदा के लिए उस पर छा गया। उसकी जीवन-वृत्तियाँ अब समस्त सांसारिक एषणाओं एवं राग-विरागों से मुक्त हो एकमात्र अपने आराध्य कृष्ण में ही एकनिष्ठ होगईं। मीराँ के किसी भी पद में पति-शोक-जन्य उद्गार न मिलने का यही कारण है। उसका लौकिक विरह

1 संतवाणी पत्रिका, वर्ष 1, अंक 11, पृ. 24.
2 पश्चिमी भारत की यात्रा; कर्नल टॉड, अनु. पं. गोपालनारायण बहुरा, पृ. 89.
3 वही, पृ. 89.
4 भगतमाल; पृ. 13; सं. उदयराज उज्ज्वल ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ही कृष्ण-प्रेम का विकल विहाग बन कर उसके गीतों में फूट पड़ा। वैधव्य की दारुण व्यथा श्याम के वियोग में आकुल आत्मा की करुण पुकार बन उसके रोम-रोम में सिसक उठी।

कुछ विद्वानों ने अपनी मौलिकता का नया शिगूफा छोड़ने की दृष्टि से यह मान्यता रखी है कि मीराँ विधवा नहीं, सधवा थी। इस 'अत्यन्त मौलिक' मत का प्रवर्तन करने वालों में श्रीमती पद्मावती शबनम[1] व श्री दुर्गादत्त गोस्वामी[2] का नाम उल्लेखनीय है। यदि ऐतिहासिक तथ्य का सफाया करने की चेष्टा का नाम ही मौलिकता है तब तो निश्चय ही शबनमजी का दावा कुछ कम मौलिक नहीं है। वस्तुतः इस मान्यता का आधार कुछ तो मीराँ के नाम से प्रचलित प्रक्षिप्त पदांश, लोकगीत या मीराँ-लीला करने वालों के संवाद-रूप में लिखित गीत हैं, जो सर्वथा अप्रामाणिक हैं, और कुछ ऐसे पद हैं, जिनका उक्त विद्वानों ने गलत अर्थ ग्रहण कर यह भ्रान्त स्थापना की है। उक्त पदों का गलत अर्थ समझने का कारण यह है कि कुछ तो मीराँ को राणा कुम्भा की पत्नी मानकर चलते हैं एवं कुछ मीराँ के पति भोजराज को पाटवी या ज्येष्ठ पुत्र मानकर, जबकि वे राणा साँगा के द्वितीय पुत्र थे, जैसा कि हम नैणसी की ख्यात व अन्य विश्वस्त एवं प्रामाणिक साक्ष्यों के आधार पर पूर्व पृष्ठों में निवेदन कर आए हैं। अतः इस वंशानुक्रम को ठीक से न समझने के कारण हुई भ्रान्ति के आधार पर कोई मान्यता स्थापित करना अपने अज्ञान को ही मौलिकता की कसौटी बनाना है। यह हम देख चुके हैं कि मीराँ के पति भोजराज ही थे एवं वे राणा साँगा के द्वितीय पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र तो रत्नसिंह थे। इस विषय में नैणसी की ख्यात में एक और स्पष्ट उल्लेख मिलता है—[3]

"एक दिन राणी ने दीवाण से अर्ज की कि दीवांण घणां वर्ष सलामत रहै, परन्तु विक्रमादित्य और उदयसिंह बालिक हैं। **रावलै टीकायत और राज्य का स्वामी रत्नसिंह**..............."

इससे स्पष्ट है कि रत्नसिंह ही टीकायत या पाटवी कुँवर थे एवं वे मीराँ के जेठ थे। अत: निम्न पद को लेकर श्री दुर्गादत्त गोस्वामी ने अपने मत की पुष्टि में जो लम्बी-चौड़ी व्याख्या प्रस्तुत की है, वह सब निरस्त हो जाती है—

राणा बरजै, राणी बरजै, बरजै सब परिवारी,
कुँवर पाटवी सो भी बरजै और सहेल्यां सारी।

इस पर टिप्पणी करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—"इससे तो यह भी मालूम होता है कि उस समय मीराँ के सास और श्वसुर जीवित थे।.............फिर पाटवी कुँवर भी विरोध करता है। यह मीराँ के देवर कैसे हो सकते हैं ? बड़े भाई

1 मीराँ : एक अध्ययन, पृ. 64.
2 'मरु-भारती' अक्टूबर 1664 में प्रकाशित 'मीराँ विधवा नहीं, सधवा थी' शीर्षक श्री दुर्गादत्त गोस्वामी का लेख।
3 मुँहणोत नैणसी की ख्यात, प्रथम भाग, पृ. 47.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

के जीवित रहते छोटा भाई पाटवी राजकुमार नहीं हो सकता। पाटवी राजकुमार राजवंश का सबसे बड़ा राजपुत्र ही हो सकता है।"

स्पष्ट ही, गोस्वामीजी को मीराँ के पति भोजराज के ही 'पाटवी कुँवर' होने की भ्रान्ति होगई, जबकि तथ्य यह है कि यहाँ पाटवी कुँवर से स्पष्टतः रत्नसिंह से आशय है। यहाँ नैणसी के उक्त उद्धरण में एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है। इसमें विक्रमादित्य और उदयसिंह के साथ भोजराज का उल्लेख नहीं है। भोजराज राणा साँगा के दूसरे पुत्र थे। अतः जिस समय राणी ने 'दीवाण' (राणा; भगवान् एकलिंगजी के दीवान होने के कारण वे इस उपाधि से सम्बोधित किए जाते हैं) को अर्ज की, उस समय यदि भोजराज जीवित होते तो क्या राणी अपने अन्य पुत्रों, विक्रमादित्य य उदयसिंह के साथ उनका भी उल्लेख न करती? यदि इससे भोजराज का उस समय जीवित रहना न भी सिद्ध हो तो कम से कम यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो ही जाता है कि टीकायत रत्नसिंह ही थे एवं मीराँ ने जहाँ कहीं 'राणा' का सम्बोधन किया है, वह या तो रत्नसिंह के लिए हो सकता है या विक्रमादित्य व उदयसिंह के लिए, भोजराज के लिए नहीं, जो कभी राणा हुए ही नहीं। पिता, राणा साँगा के जीवन-काल में ही उनका निधन हो जाने तथा बाद में टीकायत रत्नसिंह के मेवाड़ की गद्दी पर बैठने की स्थिति में उन्हें 'राणा' नाम से सम्बोधित किए जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे, मीराँ के पदों में पति के निधन के जो अप्रत्यक्ष उल्लेख मिलते हैं, वे भी उसके वैधव्य के ही असंदिग्ध प्रमाण हैं, यथा—

गिरधर गास्यां, सती न होस्यां, मन मोह्यो घन नामी।

मीराँ द्वारा 'सती न होने' की बात पति की मृत्यु के उपरान्त ही कही जा सकती है, पहले नहीं। इसी पद के आगे की पंक्ति है—

जेठ-बहू को नातो नहीं राणा जी, म्हे सेवक थे स्वामी।

मीराँ के जेठ रत्नसिंह ही थे। अतः उनके लिए प्रयुक्त 'राणा जी' सम्बोधन के आधार पर शेष पदों में भी इस सम्बोधन को तत्कालीन 'राणा' के लिए ही प्रयुक्त मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रसंग में श्री दुर्गादत्त गोस्वामी, मीराँ व ऊदाँबाई से सम्बद्ध माने जाने वाले एक संवादमूलक पद्य को उद्धृत करते हुए एक और तर्क देते हैं—

"मीराँ की नणद ऊदाँबाई और मीराँ का वार्तालाप तो बिलकुल ही स्पष्ट करता है कि मीराँ के पति जीवित थे। ऊदाँबाई कहती है—

सीस फूल सिर ऊपर सोहै,
बिन्दली सोभा भारी।
गले गुजारी कर में कंकण,
नेवर पहरो भारी॥

विधवा का शृंगार से क्या मतलब? वह उपर्युक्त आभूषणों को पहन कर किसको दिखाएगी और देखेगा भी कौन।"[1]

1 मरु-भारती, अक्टूबर 64 में प्रकाशित श्री गोस्वामी का 'मीराँ विधवा नहीं, सधवा थी' शीर्षक लेख।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

श्री दुर्गादत्त गोस्वामी का यह तर्क निराधार है क्योंकि जिस पद का उन्होंने उद्धरण दिया है, वह निरा अप्रामाणिक है। वह मीराँ-रचित नहीं है, यह तो स्पष्ट ही है, क्योंकि मीराँ ने कोई नाटक नहीं किया था कि वह अपने और अपनी ननद के बीच हुए वार्तालाप को पद्य में कहती या लिखती। यह तो मीराँ-लीला करने वाली मण्डलियों के रचे हुए पद हैं, जिन्होंने छिछली लोकरुचि के अनुसार ऐसे संवादमूलक पद्यों की रचना कर डाली। इन्हें ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना, चिन्त्य ही नहीं, हास्यास्पद भी है। दूसरे, गोस्वामीजी ने जो यह तर्क दिया है कि विधवा को शृंगार से क्या मतलब, इससे तो वस्तुतः इन पदों की अप्रामाणिकता ही सिद्ध होती है। मीराँ का वैधव्य एक असंदिग्ध ऐतिहासिक तथ्य है. जिसका हम ऊपर विवेचन कर चुके हैं। अतः वैधव्य की रीति-परम्परा के विपरीत मीराँ के शृंगार-सूचक ये कथोपकथनमूलक पद्य सर्वथा अप्रामाणिक एवं अविश्वसनीय माने जाने चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मीराँ के वैधव्य के विषय में उठाई गई ये शंकाएँ निर्मूल एवं निराधार सिद्ध होती है। जब कोई घटना इतिहास के पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध है तो उसे मौलिकता की वहक में अवास्तविक सिद्ध करना मीराँ के उलझे हुए जीवन-वृत्त को और अधिक उलझाना है।

वैधव्योपरान्त जीवन–संघर्ष व अन्य घटनाएँ

भोजराज के निधनोपरान्त मीराँ की जीवन-धारा एक ओर कृष्ण-प्रेम तथा दूसरी ओर भौतिक कष्ट व संघर्ष के युगल उपकूलों मे टकराती हुई प्रवाहित होती दिखाई देती है। उनके श्वसुर राणा साँगा परम उदार एवं स्नेही व्यक्ति थे। अतः उनके जीवित रहते मीराँ को कोई कष्ट नहीं हुआ। उनकी मृत्यु के पश्चात् मीराँ के ज्येष्ठ रत्नसिंह सिंहासनारूढ़ हुए। इनका मातृ-कुल की ओर से भी मीराँ से निकट सम्बन्ध था क्योंकि रत्नसिंह, जोधा के पौत्र सूजाघत बाघा की पुत्री धनाई से उत्पन्न हुए थे एवं मीराँ जोधा के पौत्र रत्नसिंह की पुत्री थी। दूसरे, अपने पिता राणा साँगा के समान ये भी वीरोचित गुणों तथा सौहार्द्र व सदाशयता से पूर्ण थे। अतः इनके द्वारा मीराँ को कष्ट दिया जाना अशक्य ही प्रतीत होता है। रत्नसिंह ने अल्प-काल तक ही मेवाड़ पर राज्य किया। उनके बाद विक्रमादित्य मेवाड़ का राणा हुआ, जो बड़ा ही क्रूर, अहंकारी, मूर्ख एवं छिछोर प्रकृति का था। उसने अपने दुराचरण से मेवाड़ के सामन्तवर्ग को भी रुष्ट कर दिया था। मीराँ के जीवन से सम्बद्ध विषपान एवं पिटारी में साँप भेजे जाने वाले प्रसंगों का सम्बन्ध कदाचित् इन्हीं राणा से है, जिनकी पुष्टि लोकानुश्रुति के अतिरिक्त अनेक भक्तों व सन्तों के उल्लेखों से भी होती है। उदाहरणतः नागरीदास जी ने लिखा है—

"मीराँबाई सों राना बहौत दुख पाय रहे। राना के घर की रीति, इनकी भिन्न रीत, यह भगवत सम्बन्ध सत्यसंग विसेस करें, देह-सम्बन्ध को नातौ व्यवहार कछु न मानै, राना बहुत समुझाए रह्यौ। निदान एक विष को प्यालौ इनको पठ्यो, कह्यौ चरनामृत को नाम लैं कै दीजियो, उनके प्रण है, चरनामृत के नाम तैं पी ही जायेगे, सो ऐसौ ही भयो, जानि बूझि पियौ, राना तो इनके मुवै की राह देखत, रह्यौ

Devavani Parishad New Delhi

 CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उत यह झांझ मृदंग संग लै कै परम रंग सों एक नयो पद बनाय ठाकुर आगै गावत भये, पद बहुत प्रसिद्ध भयो।''[1]

नागरीदास जी द्वारा संकेतित मीराँ को विष दिए जाने की यह घटना मीराँ के जीवन की सर्वाधिक प्रसिद्ध घटना है। गुजराती कवि विष्णुदास ने भी अपनी कृति 'कुंवर बाई नुं मोसालु' में इसका उल्लेख किया है—

'मीराँ बाई ने वीख अम्रीत झरे, वरद राख्युं पोते आपणे।'[2]

मीराँ के समकालीन महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत एकनाथ ने भी इस घटना का उल्लेख किया है—

'विष पीतो मीरांबाई साठी'[3]

कबीरपन्थी सन्त गरीबदास और चैतन्य सम्प्रदायी भक्त प्रियादास ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। इन सब उल्लेखों से यह तो निर्विवाद रूप से शक्य प्रतीत होता है कि राणा द्वारा मीराँ को विष दिए जाने की कोई न कोई घटना अवश्य घटी थी। मीराँ को विष लाकर देने के सम्बन्ध में प्राय: दो व्यक्तियों के नाम लिए जाते हैं—दयाराम पंडा और बीजावर्गी जाति का महाजन मुसाहब। दयाराम पंडा का नाम मीराँ-छाप के एक पद में है—

सीसोद्या राणो, प्यालो म्हाँने क्यूं पठायो।

× × ×

कनक कटोरे लै विष घोल्यो दयाराम पंडो ल्यायो।

परन्तु जनश्रुति के अनुसार मीराँ को विष-पान कराने में महाराणा के सलाहकार और मुसाहब बीजावर्गी महाजन का ही हाथ रहा था, जिसका मुंशी देवीप्रसाद ने 'मीरांबाई का चरित्र' में भी उल्लेख किया है।[4] मीराँ को इस कुचक्र का पता चल गया और उसने 'बीजावर्गी को यह शाप दिया कि जिस माया के लिए तुमने यह दुष्कृत्य किया है, वह तेरे कुल में न रहेगी और जब रहेगी तो उसे भोगने वाली सन्तान नहीं होगी।' लोक-मान्यता है कि मेवाड़ के बीजावर्गी महाजनों की दुर्दशा का कारण यही शाप है। मारवाड़ के बीजावर्गी महाजन भी बहुत कुछ इसी विश्वास से ग्रस्त हैं। बीजावर्गी महाजनों के विषय में राजस्थान में प्रचलित लोकोक्ति से भी उनकी जातीय मनोवृत्ति के विषय में लोक-धारणा का पता चलता है—

बीजावरगी बाणियो, दूजो गूजर गौड़,
तीजो मिले जो दाहमो, करे टापरो चौड़।

वस्तुत: मीराँ को विष-पान कराने वाला (विष लाकर देने वाला) व्यक्ति कौन था तथा वह किस जाति का था, ये प्रश्न किसी सुनिश्चित ऐतिहासिक जानकारी के अभाव में एक उलझन ही बने रहेंगे। दयाराम पंडा व बीजावर्गी महाजन की

1 नागर-समुच्चय, पद प्रसंग माला, पृष्ठ 193.
2 विष्णुदास-कुंवर बाई नुं मोसालुं।
3 सकल श्री संतगाथा —श्री एकनाथ यांची गाथा, पृष्ठ 168.
4 मीराँबाई का चरित्र, मुंशी देवीप्रसाद, पृष्ठ 13.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

परस्पर संगति भी नहीं बैठती। बहुत सम्भव है विष देने की सलाह बीजावर्गी महाजन मुसाहब ने दी हो और इस कुकृत्य का सम्पादन दयाराम पंडा ने किया हो। जहाँ तक लोकानुश्रुति का सम्बन्ध है, बीजावर्गी महाजन स्वयं भी मीराँ-विषयक इस अनुश्रुति में विश्वास रखते हैं। अतः इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि मीराँ को विष-पान कराने में कदाचित् किसी बीजावर्गी महाजन का कुछ न कुछ हाथ अवश्य रहा होगा अन्यथा अपने ही पूर्वजों के विषय में ऐसी भर्त्सनामूलक लोकोक्ति को वे स्मरण व विश्वास द्वारा मान्यता न देते।

विष-पान करके भी मीराँ मरी नहीं, यह निर्विवाद है। मीराँ ने इसे अपने आराध्य गिरधरलाल का ही अनुग्रह माना—'आपुन गिरधर न्याव कियौ यह, छान्यौ दूध रु पानी।' उसके लिए वह विष चरणामृत-रूप था—'जानि बूझि चरनामृत सुनि पियौ, नहिं बौरी झौरानी।' उसे पीकर मीराँ प्रेम की कसौटी पर खरी सिद्ध हुई—'कंचन कसत कसौटी जैसे तन रह्यौ बारह बानी।' यह मीराँ के अटल विश्वास और प्रेम की शक्ति ही थी, जिससे वह प्रेम-दीवानी उस गरल को पचा गई। आज का विज्ञान-युग चाहे इस घटना को अलौकिक मानकर इसकी सत्यता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगादे, परन्तु विष से बच जाना कोई असम्भव नहीं है। सम्भवतः वह विष प्राणघाती न रहा हो। आज भी कई व्यक्ति विष पीकर बच ही जाते है। मीराँ पर भी उस विष का कोई प्रभाव नही पड़ा। प्रेमोन्मादिनी मीराँ ने यदि उसका कारण अपने गिरधरलाल के प्रेम का प्रताप मान लिया तो इसमें हमें आपत्ति क्यों हो?

इस प्रकार पिटारी में नाग भेजे जाने की घटना का भी अनेक लेखकों ने उल्लेख किया है तथा जनश्रुति के अतिरिक्त स्वयं मीराँ द्वारा रचित माने जाने वाले पदों से भी इस प्रसंग की पुष्टि होती है। यथा—

काला नाग पिटार्यां भेज्या, सालिगराम पिछाण्या।

मध्ययुग में, राजस्थान में, किसी के प्राण-हरण हेतु प्रायः विष देने, साँप से कटवाने तथा छल या षड्यन्त्र द्वारा तलवार से काट गिराने (जिसे राजस्थानी में 'चूक करणौ' कहा जाता था) आदि उपायों का आश्रय लिया जाता था। अतः राणा ने समझाने-बुझाने के सब उपाय विफल होते देख यदि लोक-लाज के कारणों से मीराँ को विष देकर अथवा सर्प-दंशन से मरवाना चाहा हो तो यह तत्कालीन राजनीतिक व सामाजिक स्थिति के संदर्भ में अविश्वसनीय नहीं है।

इस सम्बन्ध में, 'वीर विनोद'[1] में वर्णित एक प्रसंग के आधार पर डॉ० प्रभात ने अनुमान लगाया है कि सम्भवतः उल्लिखित नाग-डिब्बा नागणेची (संक्षिप्त रूप नाग देवी का डिब्बा हो।"[2]

डॉ० प्रभात का यह अनुमान निर्मूल है क्योंकि मीराँ के पास पिटारी में नाग भेजे जाने की घटना वास्तविक प्रतीत होती है। नागणेची (राठौड़ों की कुल-देवी) का डिब्बा खोलने के आधार पर ऐसी अनुश्रुति कदापि नहीं चल सकती,

1 वीर विनोद, भाग 2, पृष्ठ 67-68.
2 मीराँबाई, पृष्ठ 162, डॉ० प्रभात।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जिसकी न केवल अन्तर्साक्ष्य द्वारा ही पुष्टि होती है, बल्कि अनेक बहिर्साक्ष्यों द्वारा भी।

दूसरे, वीरविनोद का उक्त उल्लेख महाराणा उदयसिंह के वक्त का है, जबकि विषपान की घटना का राणा विक्रमादित्य से सम्बन्ध होने की संभावना है।

एक ऐसा ही उल्लेख 'राठौड़ों की वंशावली'[1] में भी मिलता है, जो राव घूहड़जी के समय से सम्बन्ध रखता है। परन्तु वहाँ करंडिये (पिटारी) में नागणेची देवी मिलती है, जिसका सांप भेजने की उक्त घटना से सम्बन्ध जोड़ना भ्रांत है।

ये सब घटना वस्तुतएँ: एक अतर्क्य सत्य की ओर संकेत करती हैं और वह यह है कि वैधव्योपरान्त मीराँ का पारिवारिक जीवन बड़ा ही कष्टपूर्ण एवं संघर्षमय रहा। वस्तुत: मीराँ को विष-पान तथा सर्प-दंशन द्वारा मरवाने के ये प्रयास उस पारिवारिक संघर्ष की चरम परिणति ही हैं, जो एक लम्बे अर्से तक मेवाड़ के राजकुल में चला होगा। इस संघर्ष का कारण स्पष्टतः मीरा का सन्त-साहचर्य एवं मुक्त भाव से उनके साथ भजन-कीर्तन में सम्मिलित होना ही रहा होगा, जो तत्कालीन सामन्तवादी व्यवस्था के अन्तर्गत एक राजवधू के लिए गम्भीर स्खलन एवं मर्यादोल्लंघन से कुछ कम नहीं था। फलत: राजपरिवार में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था एवं लोक-लज्जा के विचार ने उसे और अधिक बल दिया होगा। मीराँ के अनेक पदों में यत्र-तत्र कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनसे राणा की संशयालु मनोवृत्ति एवं मीराँ के प्रति उनके दुर्भाव का स्पष्ट पता चलता है तथा जिनमें विश्वसनीयता का स्वर है।

उदाहरणार्थ—

राणाजी म्हांने या बदमामी लागे मीठी।
कोई निन्दो, कोई बिन्दो, मैं चलूंगी चाल अनूठी।
× × ×
सत संगति मा ग्यान सुणैंछी, दुरजन लोगां ने दीठी।
मीराँ रो प्रभु गिरधर नागर दुरजन जलो जा अंगीठी।

उपर्युक्त पद की तीसरी पंक्ति ध्यान देने योग्य है, जिसमें मीराँ सत्संग करते हुए अपने को दुष्टों द्वारा देख लिये जाने की चर्चा करती है। मीराँ के अनेक पदों में व अनेक रूपों में, इस प्रसंग का उल्लेख हुआ है—

साधाँ संगत हरिसुख पास्यूं, जग सूं दूर रह्या।

पहले तो मीराँ ने राजकुल की मर्यादाओं को यत्किंचित् स्वीकार करते हुए ही भक्तों एवं सन्तों का सत्संग कर अपनी भक्ति-क्षुधा शान्त की, परन्तु जब राजकुल के नियम उसमें बाधक बनने लगे एवं राणा का व्यवहार उसके लिए असह्य हो चला तो मीराँ ने उन सबको तिलाञ्जलि दे दी—

लोक-लाज कुल काण जगत की, दइ बहाय जस पाणी।

1 राठौड़ वंस री विगत ; पृ. 61.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ द्वारा राणा को सम्बोधित अनेक पदों में उसकी अन्तर्निहित मनोव्यथा एवं आक्रोश का स्वर ही स्पष्टतः मुखरित हुआ है। एक विधवा नारी के लिए, भले ही वह राजकुल की वधू क्यों न हो, यह संघर्ष एवं विरोध कितना मर्मान्तक रहा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। तथापि कृष्ण-प्रेम में तन्मय मीराँ पर इसकी प्रतिक्रिया वही हुई, जो अपेक्षित थी। उसने पारिवारिक संघर्ष से तंग होकर चित्तौड़ छोड़ने की ही ठान ली। मीराँ अपने पीहर मेड़ते चली गई। इन्हीं दिनों मेवाड़ पर बहादुरशाह का आक्रमण हुआ। चित्तौड़ के इस 'दूसरे साके' में सहस्रों राजपूत अप्रतिम शौर्य से लड़कर काम आए तथा रानी कर्मवती सहित सहस्रों क्षात्र-ललनाओं ने जौहर का अनुष्ठान किया। ख्यातों आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुसार 13000 स्त्रियाँ जौहर की ज्वाला के समर्पित होगई थीं।[1] प्रवाद है कि राजपरिवार की कोई भी स्त्री उस समय चित्तौड़ दुर्ग में नहीं बची थी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मीराँ ने इस साके से पहले ही चित्तौड़ त्याग दिया था। सम्भवतः 1589-90 के आसपास मीराँ मेड़ते आई हो। परन्तु मेड़ता में भी मीराँ को स्थाई शान्ति नहीं मिली। जोधपुर के राव मालदेव के मेड़ता पर आक्रमण कर देने के कारण मीराँ के ताऊ वीरमदेव को अजमेर चला जाना पड़ा। मीराँ भी सम्भवतः उनके साथ अजमेर गई होगी एवं इन्हीं दिनों उसने पुष्कर-स्नान भी किया होगा, जिसका बड़ा धार्मिक माहात्म्य है एवं जिसकी जनश्रुति तथा अन्तर्साक्ष्य—दोनों से ही पुष्टि होती है। मीराँ द्वारा वृन्दावन की तीर्थ-यात्रा किया जाना भी प्रसिद्ध है। वस्तुतः चतुर्दिक व्याप्त संघर्ष एवं पारिवारिक अशान्ति से त्राण पाने तथा अपने कृष्ण-प्रेम की अदम्य प्यास बुझाने के लिए ही मीराँ ने ये यात्राएँ की होंगी। पहले तो वह अपने आराध्य की क्रीड़ा-भूमि वृन्दावन की ओर चल पड़ी। कृष्ण-प्रेम की उस दुर्निवार स्रोतस्विनी के आगे लोक और कुलाचार के कूल ढह गए। वृन्दावन के सुरम्य-सौन्दर्य ने मीराँ के मन को लुभा लिया प्रतीत होता है—

आली म्हाँने लागे वृन्दावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविन्दजी को।

कुछ विद्वान् मीराँ की वृन्दावन-यात्रा की बात को अस्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में यह यात्रा तथा उसके दौरान मीराँ के रूपगोस्वामी या जीवगोस्वामी से मिलने की बात किसी वैष्णव सम्प्रदायी की निजी कल्पना है। जहाँ तक वृन्दावन यात्रा का प्रश्न है, मीराँ के प्रामाणिक माने जाने वाले पदों में आए उल्लेखों तथा जनश्रुति पर ध्यान देना चाहिए। जनश्रुति के अनुसार मीराँ द्वारा जीवगोस्वामी से मिलने की इच्छा प्रकट किए जाने पर उन्होंने कहलाया कि वे स्त्रियों से नहीं मिला करते। इस पर मीराँ ने प्रत्युत्तर में कहा बताया कि 'मुझे तो आज ही पता चला कि पूर्ण-पुरुष श्रीकृष्ण को छोड़कर कोई अन्य पुरुष भी है।' सुनते हैं, जीवगोस्वामी इस उत्तर को सुनकर बहुत लज्जित हुए एवं नगे पाँव बाहर आकर मीराँ से मिले।

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ 399 (फुटनोट)।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अतः यह अनुमान लगाना कि वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय से मीराँ का सम्बन्ध जोड़ने की दृष्टि से इस साक्षात् की कल्पना की गई है, युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि इससे तो जीवगोस्वामी के अहं भाव एवं उसके फलस्वरूप उनकी पराजय का ही द्योतन होता है। बहुत सम्भव है मीराँ व जीवगोस्वामी का साक्षात् न हुआ हो, परन्तु यदि यह सत्य है तो इस प्रसंग का उपयोग मीराँ का किसी संप्रदाय विशेष से संबंध जोड़ने की दृष्टि से नहीं किया जा सकता क्योंकि मीराँ का कभी किसी सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इस विषय में वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में प्रचलित प्रेम की परकीया रति के सम्बन्ध में श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' का कथन सर्वथा निराधार है। वे लिखते हैं—"प्राय: सभी वैष्णव भक्त कवियों ने किसी न किसी कुमारिका के संग में सहज-साधना की" तथा रघुनाथ आदि का उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं—"रूपगोस्वामी ने मीराँ के साथ....सहज साधना की थी।"[1] डॉ० हीरालाल माहेश्वरी भी इसे अप्रामाणिक मानते हैं।

किन्तु उस 'दरद दीवानी' को वहाँ भी चैन कहाँ? वहाँ से मीराँ अपने आराध्य की कर्म-भूमि द्वारिका चली गई एवं वहीं भगवान् रणछोड़ के चरणों में जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने प्राणों का नैवेद्य अर्पित करती हुई वह अन्त में उन्हींमें लीन होगई!

मीराँ की मृत्यु-तिथि के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु अनुमान है कि संवत् 1610 के आस-पास मीराँ की जीवन-लीला समाप्त हुई। मीराँ ने अपने एक पद में काले केशों के पाण्डुर होजाने का उल्लेख किया है, जिससे पता चलता है कि मृत्यु के समय वे वार्द्धक्य को प्राप्त होगई थीं। वे कहती हैं—

दरद दीवानी भई बावरी, डोली सब ही देस।
मीराँ दासी भई है पंडर, पलट्या काला केस ॥

मीराँ की मृत्यु के विषय में प्रवाद है कि वे द्वारिका में रणछोड़जी की मूर्ति में समा गई। नागरीदास, प्रियादास आदि सगुणवादी वैष्णव भक्तों तथा गरीबदास आदि निर्गुणवादी सन्तों के उल्लेख से भी इसकी पुष्टि होती है। लोक गीतों का भी साक्ष्य है—

जाय द्वारका घर-घर ढूंढी मन्दिर सूं न टली।

'मन्दिर से न टलने' के मूल में यह घटना है कि राणा ने मीराँ को चित्तौड़ लिवा लाने के लिए अपने कुछ पुरोहितों को द्वारिका भेजा। उन्होंने मीराँ से चित्तौड़ लौट चलने के लिए बहुत आग्रह किया, परन्तु वह किसी भी प्रकार राजी नहीं हुई। तब पुरोहितों ने अनशन की धमकी दी, जिससे मीराँ किंचित् विचलित हो उठी। उसका मनस्ताप अब अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था एवं इस यन्त्रणा से कोई निष्कृति की आशा उसे दिखाई नहीं देती थी। निदान मीराँ एक दिन सवेरे उठी, स्नान-ध्यान किया एवं सशरीर परलोक सिधार गईं। वे मन्दिर से अदृश्य होगईं।

1 रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ 71 (बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कुछ के अनुसार भगवान रणछोड़ की मूर्ति में समा गईं। जैसाकि डॉ० प्रभात ने लिखा है—"कदाचित् सागर की विशाल उदार जल-राशि ने उन्हें सशरीर इहलोक के पार उतार कर रणछोड़ के अनन्त अलौकिक रसलोक में प्रविष्ट करा दिया। सशरीर लुप्त होजाने से यही ध्वनित होता है।"[1]

ब्रह्मदासजी दादूपंथी ने लिखा है—

मेड़त्यां कुल मुरधरा मझ, अश्वपत्यां आधार।
मगन मूरत मांहि निरतन, लई मीराँ लार ॥[2]

भक्तवर नागरीदासजी (किशनगढ़ नरेश सांवंतसिंहजी) ने, जिनके मीराँ सम्बन्धी उल्लेख पर्याप्त विश्वसनीय हैं, 'सिंगार सागर' के अन्तर्गत 'पद प्रसंग माला' में लिखा है कि अपने अन्तिम समय में मीराँ ने कृष्ण-प्रेम में आविष्ट हो निम्न पद बनाया एवं उसे गाती हुई वह प्रेम-विह्वला स्वयं ही कृष्णमय होगई—

सजन सुधि ज्यो जाणै ज्यों लीजै हो।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, मिलि बिछुरन मत कीजे हो।

इस प्रकार कृष्ण की वह अनन्य अनुरागिनी जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने आराध्य के स्वरूप में तन्मय रह अन्त में उन्हीं में लीन होगई!

मीराँ के गुरु

मीराँ के जीवन का प्राय: हर पक्ष उलझा हुआ है, एक पहेली है। मीराँ के गुरु कौन थे अथवा कोई थे भी या नहीं, यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है। मीराँ के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त एवं उसकी प्रामाणिक पदावली के अभाव में नाना मतावलम्बियों व सम्प्रदायवादियों ने अपने-अपने सम्प्रदायों को महत्त्व प्रदान करने की दृष्टि से मीराँ का सम्बन्ध किसी न किसी गुरु-विशेष से जोड़ने की चेष्टा की है। दुर्भाग्य तो यह है कि आधुनिक युग में भी हमारे कुछ विद्वान्, विशेषत: शोध-कर्त्ता, इस दुर्बलता से ग्रस्त हैं तथा अपने प्रतिपाद्य शोध-विषय अथवा शोध-नायक को महत्त्व देने की मनोवृत्ति के वशीभूत हो उन्होंने मीराँ का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष अथवा गुरु-विशेष से स्थापित करने की चेष्टा की है, जिससे उनकी शोध का महत्त्व चाहे बढ़ गया हो, परन्तु उस प्रेमोन्मादिनी के साथ न्याय नहीं हुआ है। इसकी चर्चा यथाप्रसंग आगे की जाएगी।

सामान्यत: जिन व्यक्तियों को मीराँ के गुरु-रूप में माना गया है अथवा जिन्हें मीराँ को अपने उद्दिष्ट भक्ति या साधना-मार्ग में प्रेरित करने का श्रेय दिया गया है-उनमें मुख्य हैं—[3]

1 मीराँबाई, डॉ० प्रभात, पृष्ठ 224.
2 भगतमाल, पृ. 45, सं. उदयराजजी उज्ज्वल।
3 मीराँबाई, डॉ० प्रभात, पृष्ठ 16.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

(क) 1. रामानन्द
2. रैदास
3. कोई रैदासी संत (विट्ठल)
4. हरिदास दर्जी (रैदासी)

(ख) 5. माधवपुरी (माधवेन्द्र पुरी या माधव)
6. चैतन्य महाप्रभु
7. दास भक्त (रघुनाथ दास)
8. जीव गोस्वामी
9. रूप गोस्वामी

उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त दो अन्य व्यक्तियों के नाम भी मीराँ की गुरु-विषयक चर्चा के साथ जुड़े हुए हैं, और वे हैं—(1) देवाजी तथा (2) गजाधर, जिनसे यद्यपि मीराँ ने दीक्षा नहीं ली थी, तथापि जिनसे मीराँ को बचपन में गिरधर की मूर्ति मिलने की बात कही जाती है अथवा जिनका मीराँ के प्रारम्भिक जीवन के साथ सम्पर्क माना जाता है। डॉ० प्रभात ने अपने शोध-ग्रन्थ में इन सब नामों पर युक्तियुक्त ढंग से विचार कर यह निष्कर्ष निकाला है कि इनमें से किसी के द्वारा भी मीराँ को दीक्षित किये जाने का कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे शब्दों में, मीराँ ने इनमें से किसी से भी दीक्षा ली हो, अथवा उसे अपना दीक्षा-गुरु बनाया हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता। डॉ० प्रभात के इस निष्कर्ष से हम पूर्णतः सहमत हैं। मीराँ के अध्येता इसकी विशद चर्चा के लिए उनका शोध-ग्रन्थ देखें। यहाँ उनकी मान्यताओं की पुनरावृत्ति उद्दिष्ट नहीं है। तथापि, संक्षेप में पाठकों के ज्ञानार्थ कुछ मुख्य-मुख्य नामों पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

1. रामानन्द

रामानन्द का उल्लेख राजस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग 3 में उदयसिंह भटनागर द्वारा प्रकाशित मीराँ के निम्नोक्त पद में हुआ है—

> रामजी पधारे धनि आज की घरी।
> आज री घरी वो भाव री घरी।
> गुरु रामानन्द अर माध्रवाचारज नीमानंद बिसन हरी।

यह पद रामसनेही सम्प्रदाय के एक नवीन गुटके का है तथा रामसनेही सम्प्रदाय के संतों की रचना है। रामानंद 1491–92 के लगभग चल बसे थे; अतः उनका मीराँ के समकालीन होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

2. संत रैदास

मीराँ को संत रैदास की शिष्या मानने का मत अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है, जिसकी ओर फर्कुहर,[1] श्री मा० नि० मेहता,[2] डॉ० बड़थ्वाल,[3] प्रो० नरोत्तमदास

1 An Outline of the Religious Literature of India, Page 306.
2 मीराँबाई, पृष्ठ 57–58.
3 हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ 438, परिशिष्ट 6.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

स्वामी[1] आदि विद्वानों का भी झुकाव है। इस मान्यता को मीराँ-छाप के कुछ अप्रामाणिक पदों से तो बल मिला ही है, साथ ही चित्तौड़गढ़ में मीराँ के मन्दिर के सामने रैंदास की छतरी बनी होने से भी पुष्टि मिली है। रैंदास से संबद्ध मीराँ-छाप के उन पदों में से कुछ की पंक्तियाँ उदाहरणार्थ रखी जा रही हैं—

1. वाराणसी के घाट पँ, फिर गुरु मिल्या रैंदास।
2. मीराँ ने गोविंद मिल्याजी, गुरु मिल्या रैंदास।
3. गुरु मिल्या रैंदास जी, दीन्ही ज्ञान की गुटकी।
4. काशी नगरना चौकमां, मने गुरु मिल्या रोहीदास।

वस्तुत: इन तथा रैंदास से सम्बद्ध मीराँ-छाप के अन्य पदों की प्रामाणिकता सर्वथा संदिग्ध है। जहाँ तक प्रथम व चतुर्थ उद्धरण का प्रश्न है, मीराँ का काशी जाना अद्यावधि अप्रमाणित है। काशी का चौक भी बहुत प्राचीन नहीं है। अत: काशी में मीराँ की रैदास या रोहीदास से भेंट की बात निर्मूल है। चतुर्थ उद्धरण वस्तुत: मीराँ का न होकर जीवण भक्त का है।

रैंदास के मीराँ का गुरु होने का उल्लेख न नाभादास ने अपनी भक्तमाल में किया है और न प्रियादास ने अपनी रसबोधिनी टीका में। सगुण कृष्ण की आराधिका एवं गिरधरलाल की अनुरागिनी मीराँ रैंदासी सम्प्रदाय में दीक्षित होती—यह बात ही अकल्पनीय है। अवश्य ही ये सब पद रैंदासी सम्प्रदाय के व्यक्तियों द्वारा प्रक्षेपित हैं। काल की दृष्टि से भी मीराँ का रैंदास के समकालीन होना सिद्ध नहीं होता। रैंदास मीराँ के बहुत पहले हुए थे। रैंदास का काल 15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है, जबकि मीराँ का जन्म 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था।

वस्तुत: रैंदास महाराणा कुम्भा की पत्नी चित्तौड़ की झाली रानी के गुरु थे। चूँकि टॉड ने भ्रमवश मीराँ का राणा कुम्भा की पत्नी होना लिख दिया था, अत: प्रकारान्तर से यह अनुश्रुति जोर पकड़ गयी कि रैंदास ही मीराँ के गुरु थे, जैसा कि आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है[2] —

"That the queen of Chitore was a disciple of Ravidas may be said to give plausibility to the tradition current among the Bhaktas that Mirabai was a disciple of his."

रैंदासी सन्त विट्ठल

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने मीराँ-छाप के पदों में प्रयुक्त "रैंदास' का अर्थ 'रैंदासी सम्प्रदाय का संत' लगाया है। यह उन्होंने इसलिए किया कि मीराँ का संत रैंदास के समकालीन होना तो सिद्ध होता नहीं, अत: किसी न किसी प्रकार 'रैंदास' शब्द की मीराँ से संगति बैठाने के लिए चतुर्वेदी जी ने इन अनुमान का आश्रय लिया है, जो अपने आप में ही एक भ्रान्त, निर्मूल एवं निराधार निष्कर्ष है।

1 मीराँ मंदाकिनी, प्रस्तावना, पृष्ठ 8.
2 Mediaeval Mysticism of India, by Kshiti Mohan Sen (1925). Page 80.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भक्तमाल के रचयिता नाभादासजी ने अपने एक पद में विट्ठलदास भक्त को रैदासी कहा है। चन्द्रबली पाण्डेय उन्हीं विट्ठलदास को निश्चित रूप से मीराँ का गुरू मानते हैं।[1] परन्तु उक्त दोनों ही विद्वानों की मान्यता इस धारणा पर आधारित है कि मीराँ रैदास की शिष्या थी एवं चूँकि रैदास के साथ मीराँ के जीवनकाल की संगति नहीं बैठती, अतः वे उन्हें रैदासी सम्प्रदाय के किसी संत की शिष्या मानने के लिए विवश हैं। एक गलत अनुमान के आधार पर अपना निष्कर्ष निकालना कोई महत्त्व नहीं रखता। स्पष्ट ही, उनकी यह धारणा भ्रान्त है। वस्तुतः मीराँ ने जहाँ कहीं 'विट्ठल' शब्द का प्रयोग किया है, वह कृष्णवाची है, किसी रैदासी संत का वाचक नहीं।

इसी भाँति, मीराँ के आध्यात्मिक गुरु के सम्बन्ध में जो अन्य व्यक्तियों हरिदास दर्जी, माधवपुरी, जीवगोस्वामी, आदि की चर्चा की जाती है, वह सब निरर्थक है। तथ्य यह है कि सबने अपने-अपने सम्प्रदायों को महत्त्व प्रदान करने की दृष्टि से अपने-अपने तत्कालीन साम्प्रदायिक नेताओं को मीराँ पर गुरु-रूप में आरोपित करने की कुचेष्टा की है। इसके लिए उन्होंने मीराँ-छाप के प्रक्षिप्त पदों की रचना कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहा है। परन्तु मीराँ के प्रामाणिक माने जाने वाले पदों में जो स्पष्ट एवं असंदिग्ध उल्लेख मिलते हैं, उनसे सच्चाई छिप नहीं सकी है। उदाहरणतः एक पद में मीराँ कहती है--

हेरी मैं तो दरद दीवानी, म्हारो दरद न जाणै कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटै जब, बैद साँवरियो होय।

यदि मीराँ के कोई आध्यात्मिक गुरु होता तो वह कदाचित् यह पंक्ति नहीं कहती। कबीर की भाँति वह भी 'गुरु' को 'गोविन्द' से बड़ा समझती तथा अपने उस 'सतगुरु' के 'सदके' करती। परन्तु एकमात्र अपने श्याम के विरह में व्यथित मीराँ अपनी पीड़ा से त्राण पाने के लिए सिवा श्याम के और किसी को पुकारती ही नहीं—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।

यह 'दूसरो न कोई', न केवल मीराँ के किसी आध्यात्मिक गुरु की कल्पित संभावना को ही सदा के लिए समाप्त कर देता है, बल्कि मीराँ के उपास्य के विषय में फैले संशय (निर्गुण या सगुण) का भी निर्विवाद रूप से समाधान कर देता है। इस पर भी अपने पूर्वाग्रहों को पोषण देने के लिए यदि हम मीराँ की संदिग्ध पदावली का उपयोग कर अपने मनोवांछित निष्कर्ष निकालने का प्रयास करें तो यह एक दुःस्पर्धा है; शोध के नाम पर मीराँ के अध्ययन-अध्यापन की विडम्बना है।

इस सम्बन्ध में, मैं एक अन्य मान्यता की चर्चा करना चाहूँगा, जो डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने अपने शीघ्र प्रकाश्य शोध-ग्रन्थ 'जाम्भोजी: विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य' में रखी है। डॉ॰ माहेश्वरी के अनुसार विष्णोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक

1 विचार-विमर्श, पृष्ठ 55.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जाम्भोजी मीराँ के आध्यात्मिक गुरु थे एवं मीराँ उनका शिष्यत्व ग्रहण कर विष्णोई सम्प्रदाय में दीक्षित होगई थी। इन पंक्तियों का लेखक डॉ० माहेश्वरी का आभारी है, जिन्होंने उक्त ग्रन्थ की पाण्डुलिपि देखने की अनुमति देकर मीराँ-विषयक इस नवीन स्थापना पर इन पृष्ठों में अपने विचार व्यक्त करने का अवसर दिया है। डॉ० माहेश्वरी द्वारा प्रस्तुत सामग्री तथा उनके द्वारा प्रस्तावित मान्यता पर विचार करने के अनन्तर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उनकी उक्त स्थापना सर्वथा निर्मूल, निराधार एवं भ्रान्त है। इसे भी मीराँ को विष्णोई सम्प्रदाय से जोड़ने तथा उसके द्वारा अपने शोध-नायक (जाम्भोजी) को अनुचित महत्त्व प्रदान करने के ही एक और चिन्त्य प्रयास की संज्ञा दी जा सकती है। डॉ० माहेश्वरी ने अपनी मान्यता की पुष्टि में अन्य तर्कों के साथ जाम्भोजी के शिष्य आलमजी का यह उद्धरण दिया है—

तब छूटा, अब संमह्या सतगुरु आयो भाय।
परित पुरबली दापवी, मीराँजी लियो मिलाय।।[1]

इस दोहे के अन्तिम चरण का अर्थ उन्होंने यह किया है कि सतगुरु (अर्थात् जाम्भोजी) ने अनुग्रह कर मीराँ को अपने पन्थ में मिला लिया। अर्थात् दीक्षित कर लिया। जिसे सन्त-साहित्य का तनिक भी ज्ञान है, वह जानता है कि सन्तों ने मीराँ या मीराँजी का प्रयोग, रूढ़ार्थ में अपने इष्ट निर्गुण ब्रह्म के लिए ही किया है, जिसका मीराँबाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यहाँ भी 'मीराँजी लिया मिलाय,' का आशय स्पष्ट ही 'ईश्वर से मिला दिया' या ईश्वर ने अंगीकार कर लिया ही उद्दिष्ट है, 'मीराँबाई को मिला लिया' नहीं, जो अन्य किसी भी स्रोत या अनुश्रुति से प्रमाणित नहीं होता। 'मीराँ' शब्द के ईश्वर या निर्गुण ब्रह्मवाची अर्थ में प्रयोग के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। स्थानाभाव से यहाँ कुछ ही देरहा हूँ—

(क) कबीर—1. कबीर चाल्या जाइ था, आगैं मिल्या खुदाइ।
मीराँ मुझसौं यों कह्या, किनि फुरमाई गाई।।
2. सुर नर मुनि जन पीर अवलिया, मीराँ पैदा कीन्हारे।

(ख) दादू—1. ज्यों आपे देषै आपकौं, सो नैना दे मुझ।
मीराँ मेरा महर कर, दादू देषै तुझ।।
2. हुशियार हाजिर चुस्त करदम, मीराँ मेहरबान वे।
देषि ले दरहाल दादू, आप है दीवान वे।।

(ग) भक्तिकवि पीरदान लालस—
नरिंद किलंग नै नाथ खड़ि खड़िसै रिणखेत में।
मीराँ तू ससमाथ सतगुरु तू सबलो सही।।

1 जाम्भोजी : विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य (पाण्डुलिपि) आलमजी, छन्द संख्या 8, ले. डॉ. हीरालाल माहेश्वरी।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इन्हीं भक्त-कवि ने 'मीराँ' शब्द का प्रयोग मीराँबाई के लिए भी किया है। यथा—

गोविंद तू तूठौ गिनका नां ।
मीराँ नाम लियो महाराज ।

उपर्युक्त उद्धरणों से तथा स्वयं आलमजी के दोहे में निहित भाव-संदर्भ से भी, यह स्पष्ट होजाता है कि उद्धृत दोहे में 'मीराँ' शब्द का अर्थ ईश्वर से ही है तथा यह कवि का आत्मपरक कथन है, जिसका भक्ति-मूर्ति मीराँ से कोई सम्बन्ध नहीं है।

डॉ०, माहेश्वरी, जाम्भोजी को मीराँ का गुरु सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह भी देते हैं कि जाम्भोजी के शिष्य पदमभगत व ऊदोजी नैण आदि विष्णोई सम्प्रदाय के अनुयायियों के कुछ पद मीराँ के नाम से प्रचलित होकर प्रसिद्धि पा गए। प्रमाणस्वरूप वे मीराँ के 'माई म्हानें सुपने में परण्या दीनानाथ' पद का उदाहरण देते हैं, जो उनके अनुसार मूलतः पदमभगत का है। इसी भाँति, उन्होंने कुछ अन्य पदों को भी उद्धृत किया है जो उनके मतानुसार उदोजी नैण के हैं, परन्तु वे मीराँ के नाम से चल पड़े हैं। इस सम्बन्ध में, हमारा निवेदन है कि प्रथम तो स्वयं पदम भगत या ऊदोजी नैण की स्व-हस्तलिखित प्रतियाँ नहीं मिली हैं जिनसे यह सिद्ध किया जा सके कि ये पद वस्तुतः उन्हींके द्वारा रचित हैं। पदम भगत या ऊदोजी के नाम से प्रचलित तथा दूसरों द्वारा उतारी गई कुछ प्रतियों में यदि मीराँ के कुछ पद मिल गए हैं तो इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वस्तुतः वे ही इनके रचयिता थे। हमारे यहाँ प्रसिद्ध |भक्तों व सन्तों की पदावली तथा वानियों का संकलन करने की परम्परा रही है। अतः मीराँ के पदों की अतिशय लोकप्रियता के कारण यदि किसी विष्णोई सम्प्रदाय के मतानुयायी ने उनके कुछ पदों को उक्त भक्तों के संकलनों में समाविष्ट कर लिया हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु हमें यह भी तो देखना चाहिए कि मीराँ के ये पद राजस्थानी भाषा में उपलब्ध मीराँ की पदावली में ही नहीं, बल्कि गुजराती, ब्रज आदि में उपलब्ध मीराँ की पदावलियों में भी ज्यों के त्यों मिल जाते हैं, जिनसे यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध होता है कि वस्तुतः ये पद मीराँ के ही हो सकते हैं। यदि विष्णोई सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इनमें से कुछ पदों को अपने उक्त भक्तों की रचनाओं में जोड़ लिया हो तो यह भी कोई असंभव नहीं है, क्योंकि मध्यकालीन काव्यों में अतिशय लोकप्रिय पद्यों के इस प्रकार परस्पर आदान-प्रदान होते रहने की एक स्पष्ट परम्परा पाई जाती है। उदाहरणतः ढोला-मारू के अनेक दोहे किंचित् रूपान्तर के साथ कबीर एवं 'माधवानल-कामकंदला-प्रबन्ध' में पाए जाते हैं। यही नहीं, कुछ गाथाएँ तो ज्यों की त्यों छै-सात प्रेमाख्यानों में उपलब्ध होती हैं।[1] अतः किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध संकलनों के आधार पर मीराँ के पदों के मूल स्रोत स्थिर करना सर्वथा

1 देखिए ढोला-मारू रा दूहा, सं० डॉ. शंभुसिंह मनोहर, पृष्ठ 137-138.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

असंगत है, जबकि वे पद मीराँ की विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध प्राय: सभी पदावलियों में मिलते हैं। मीराँ की प्रेम-भावना की दृष्टि से भी उनका मीराँ-रचित होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इस पर भी यदि हम यह मानलें कि वे मीराँ के मूल पद नहीं है तो इससे मीराँ का विष्णोई-सम्प्रदाय में दीक्षित होना कैसे सिद्ध हुआ ? क्या डॉ० माहेश्वरी इससे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि चूँकि मीराँ के नाम से प्रचलित कुछ पद मूलत: विष्णोई-सम्प्रदाय के भक्तों के हैं (?) अत: मीराँ विष्णोई-सम्प्रदाय में दीक्षित होगई थी ? यह तो बड़ा हास्यास्पद तर्क है क्योंकि ढोला-मारू रा दूहा व कबीर के कुछ दोहों के आत्यन्तिक साम्य के आधार पर किसी ने यह स्थापना नहीं की कि ढोला-मारू रा दूहा का रचयिता कबीर-पंथी था या उसके नायक-नायिका उक्त मतानुयायी थे।

इसके अतिरिक्त, डॉ० माहेश्वरी ने अपनी मान्यता की पुष्टि में कुछ अनुश्रुतियों का भी सहारा लिया है, जैसे मीराँ के दादा राव दूदाजी को जाम्भोजी ने कैर की लकड़ी का खाँडा (तलवार) दिया था आदि-आदि। इसमें सन्देह नहीं कि राव दूदाजी की जाम्भोजी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। सन्तों के प्रति किसे श्रद्धा नहीं होती ? राव दूदाजी जैसे धर्मात्मा का सन्त जाम्भोजी के प्रति श्रद्धा-भाव स्वाभाविक ही था। अत: मीराँ का भी उनके प्रति आदर-भाव होना कोई अनोखी बात नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जाम्भोजी से मीराँ ने साम्प्रदायिक दीक्षा ले ली थी अथवा वे उसके आध्यात्मिक गुरु थे। नरसिंहपुर से प्राप्त एक गुटके में मीराँ-जंभाजी संवाद के रूप में लिखी हुई एक 35 पंक्तियों की कविता मिली है। डॉ० प्रभात ने इस पर अपना जो अभिमत दिया है वह ध्यातव्य है—

"जंभाजी कहते हैं कि मीराँ तू सोहं विसनूं सोहं, विसनू जाप।" उन्हें वे ब्रह्म की अनन्तता और अपार शक्ति का महत्त्व बताते हैं। मीराँ का कहना है कि 'स्याम सलोनो साँवरो सोइ है प्रान अधार' पर अन्तिम छन्द में मीराँ मान लेती है कि 'साँचे तुम मुनिनाथ।' गीत की अभिव्यक्ति से स्पष्ट है कि इसका रचयिता कोई विश्नोई-संप्रदाय का व्यक्ति है, जिसने अपने संप्रदाय के प्रचार के लिए मीराँ-जंभाजी-संवाद लिखा है। यह व्यक्ति अत्यन्त सामान्य बौद्धिक स्तर का है। इसने अपने संप्रदाय के प्रवर्तक गुरु के लिए 'तुम' शब्द का प्रयोग मीराँ द्वारा उस समय कराया है जब वह उसके ज्ञान की बात मान लेती है। अन्य सम्प्रदायों में भी ऐसा हो चुका है। रामसनेही आदि सम्प्रदायों में मीराँ के 'यदुवीर', 'रघुवीर' और 'श्याम', 'राम' बन गए हैं। अस्तु, इस गीत से मीराँ के जीवन के सम्बन्ध में कोई उपयोगी सूचना नहीं मिलती। इस बात का पता चलता है कि किस प्रकार विभिन्न सम्प्रदाय वाले मीराँ को अपनी ओर खींचते रहे हैं।"[1]

विभिन्न सम्प्रदाय वाले व्यक्ति यदि मीराँ को अपने-अपने साम्प्रदायिक दायरे में खींचने का प्रयास करें तो यह बात समझ में आ जाती है, परन्तु एक इतिहास-

1 मीराँबाई; डॉ. प्रभात, पृष्ठ 84.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लेखक एवं शोधकर्ता विद्वान, के लिए इस प्रतियोगिता में सम्मिलित होना तो शोच्य है ! भला सगुण-सलोने कृष्ण की उपासिका एवं गिरधर के रूप पर लुभाने वाली मीराँ "सोहं विसनू, सोहं विसनू" की रट लगा सकती थी ? मीराँ के कई पदों में 'सतगुरु' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके आधार पर कुछ विद्वान यह शंका उठा सकते हैं कि यदि मीराँ के कोई आध्यात्मिक गुरु था ही नहीं तो उसने 'सतगुरु' शब्द का प्रयोग किसके लिए किया ? इसका उत्तर स्वयं मीराँ ने ही दे दिया है। एक पद में मीराँ कहती है—

मीराँ की प्रभु पीर मिटै जब. बैद साँवरिया होय।

अपने उसी 'बैद साँवरिया' के लिए ही मीराँ 'सतगुरु' शब्द का भी प्रयोग कर देती है—

सतगुरु जस्या बैद न कोई, पूछो वेद पुराना।

दोनों पद-पंक्तियों को मिलाकर देखने से यह स्पष्ट होजाता है कि मीराँ अपने आराध्य साँवरिया को ही अनेक नामों, गुणों व उपाधियों से पुकारती है, जैसे कि हमारे भक्तों में परम्परा रही है तथा जिसका हमने पुस्तक के इन्हीं पृष्ठों में "मीराँ का 'जोगी' या 'जोगिया' कौन ?" शीर्षक परिच्छेद में विस्तार से सोदाहरण विवेचन किया है। अपने उसी 'सतगुरु' का आह्वान करती हुई विरहिणी मीराँ कभी यों पुकार उठती है—

म्हारा सतगुरु बेगा आज्योजी, म्हारे सुख की सीर बुवाज्यो जी।
तुम बीछड़ियां, दुख पाऊँजी, मेरा मन मांही मुरझाऊँ जी।।

पदगत भावधारा से स्पष्ट है कि मीराँ अपने आराध्य के विरह में व्यथित होकर ही उनके प्रति ये उद्‌गार व्यक्त कर रही है। किसी लौकिक 'सतगुरु' से बिछुड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसका 'विरह' भला क्या अर्थ रखता है ? यदि यह मान लें कि अपने गुरु (?) के मरणोपरांत मीराँ ने कदाचित् ये पद लिखे हों तो फिर उन गुरु महोदय के 'बेगा' आने की क्या संभावना है ?

तात्पर्य यह कि अपने पूर्वाग्रहों के कारण मीराँ के इष्टगत स्वरूप एवं उसकी सहज निश्छल प्रेम-भावना के मर्म को ठीक से न समझ सकने के कारण हमारे इन विद्वानों ने मीराँ के विषय में अनेक भ्रान्तियों को जन्म दे दिया है, जो निरन्तर पिष्टपेषण एवं आवृत्तियों के कारण हमारे मन में दृढ़ता से कुछ ऐसी प्रतिष्ठित हो गई हैं कि हम उनके विषय में पुनर्विचार करने की सामर्थ्य भी खो बैठे हैं।

यह साम्प्रदायिक दुराग्रह नीचता और अशिष्टता की किन सीमाओं का स्पर्श कर सकता है, इसका ज्वलन्त उदाहरण मीराँ व रामदास का प्रसंग है। रामदास चितौड़ में मीराँ के परिवार का पुरोहित था। वह वल्लभ-सम्प्रदाय का अनुयायी था, अतः गुरु-गोविन्द को एक मानता था। मीराँ का आग्रह था कि महाप्रभु (वल्लाभाचार्य) के पद न गाकर वह उनके आराध्य गिरधरलाल के पद गाए। इस

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पर रामदास मीराँ से जिस ढंग से पेश आया, उसका 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में यों उल्लेख हुआ है:[1]—

"सो एक दिन मीराँबाई के श्री ठाकुर के आगे रामदासजी कीर्तन करते हुते। सो रामदासजी श्री आचार्य महाप्रभुजी के पद गावत हुते, तब मीराँबाई बोली 'दूसरे पद श्री ठाकुरजी को गावो' तब रामदासजी ने कह्यो मीराँबाई सों–'जो अरे दारी राँड यह कौन को पद है, यह कहा तेरे खसम को मूड़ है, जो जा, आज ये तेरो मुँहड़ो कवहूं न देखूंगो।' तब यहाँ से सब कुटुम्ब को लेके रामदासजी उठि चले।"

मेवाड़ की कुल-लक्ष्मी तथा अपनी आश्रयदायिनी साध्वी स्वामिनी के लिए पुरोहित रामदास ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वह उस तथा उसके सम्प्रदाय पर एक शाश्वत कलंक है। वह उस खीझ और क्षोभ का द्योतक है, जो मीराँ द्वारा वल्लभ-सम्प्रदाय कोस्वीकार न किए जाने के कारण उत्पन्न है।

साम्प्रदायिक दुराग्रह की इस पृष्ठभूमि में मीराँ पर किसी न किसी गुरु को आरोपित करने के विभिन्न प्रयासों का अर्थ समझा जा सकता है। यह ठीक है कि मीराँ विविध सम्प्रदायों के अपने समकालीन सभी प्रमुख सन्तों और भक्तों जैसे— देवाजी (रामानन्द सम्प्रदाय) रामदास, गोविन्द दुबे, कृष्णदास अधिकारी (वल्लभ सम्प्रदाय) हितहरिवंशजी (राधावल्लभी) जीवगोस्वामी, रूपगोस्वामी (चैतन्य सम्प्रदाय) जाम्भोजी या जंभनाथ (विश्नोई सम्प्रदाय) आदि के सम्पर्क व साहचर्य में आई थी एवं समय-समय पर उनके सत्संग से उसने अपने को लाभान्वित किया था। परतु इस संत-साहचर्य में मीराँ ने "सोहं विसनू" का जाप नहीं किया था; वल्कि, जैसाकि उसने स्वयं कहा है, भाव-विह्वल दशा में उमड़ते अपने विरहाश्रुओं से अपनी प्रेम-वल्लरी को ही परिपुष्ट किया था; कृष्ण-प्रेम की अदम्य पिपासा की तृप्ति के लिए कुल और लोक-लाज की मिथ्या मर्यादाओं को ध्वस्त किया था––

सन्तन ढिग बैठि-बैठि, लोक-लाज खोई।
अंसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई।।

अत: मीराँ के किसी सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित होने की बात अथवा उसके किसी दीक्षा-गुरु के अस्तित्व की कल्पना सर्वथा निर्मूल और भ्रांत है। मीराँ की पदावली सम्प्रति जिस रूप में भी उपलब्ध है, हमारी इसी मान्यता की पुष्टि करती है। वस्तुत: मीराँ का अपने गिरधरलाल के साथ सीधा सम्बन्ध था। उन्हें किसी गुरु के माध्यम की न आवश्यकता थी, न वांछा। गुरु की आवश्यकता ज्ञानमूलक निर्गुण पंथ में पड़ती है। भावमूला प्रेमा-भक्ति के मार्ग में तो, जिसकी कि मीराँ मूर्तिमती समष्टि थी, गुरु एक व्यवधान ही होता, क्योंकि अपने प्रियतम के चरणों में एकान्ततः आत्म-समर्पण ही जिसके जीवन की एकमात्र साधना हो

1 चौरासी-वैष्णवन की वार्ता, वेंकटेश्वर प्रेस (सं. 1985), पृष्ठ 207.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तथा उनके साथ अखण्ड, अटूट एवं अनन्य प्रीति ही जिसके प्राणों की एकमात्र पुकार—वह श्याम के समर्पिता मीराँ भला और किसके चरणों में समर्पित होती—

मीराँ गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहे बिगरी।

इससे अधिक मीराँ और क्या कहती ! कह भी क्या सकती थी ! और क्यों कहती ? उसकी प्रेम-पीड़ा स्वयं अपना मर्म कह देने में समर्थ है। अपने गिरधर के हाथों बिकी मीराँ को मोल लेने की सामर्थ्य भला किस पार्थिव गुरु में थी ? कोटि-कोटि धर्माचार्यों के उपदेश उस प्रेमोन्मादिनी के एक-एक पद पर न्यौछावर हैं, कोटि-कोटि सम्प्रदायों की सम्पदाएं उस 'दरद दीवानी' के एक-एक अश्रु पर बलिहारी हैं।

प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् डॉ० मंजुलाल मजमुदार ने ठीक ही लिखा है[1]—

"पोतानो सम्बन्ध कृष्ण साथे, कारोबार, सीधो ज, कोई पण गरु नी दरम्यानगीरी वगर तेमणे स्थापन करी दीधो हतो"

---

1 मीरांबाई : एक मनन; डॉ. मंजुलाल मजमुदार, पृष्ठ 45 : महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडोदरा प्रकाशन।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

2

मीराँ की रचनाएँ

मीराँ का जीवन तो उलझा हुआ है ही, उसका कृतित्व भी उतना ही उलझा हुआ है। मीराँ की कितनी व कौन-कौनसी रचनाएँ हैं—यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है। इस विवाद का कारण यह है कि मीराँ की किसी भी रचना की कोई स्व-हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है और न ही उनके समकालीन किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संग्रहीत उनकी रचनाओं की कोई प्रति मिली है। यहाँ तक कि मीराँ की पदावली की भी, जो मीराँ की एकमात्र असंदिग्ध एवं विश्वसनीय रचना मानी जाती है, कोई प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति अद्यावधि प्राप्त नहीं हुई है, जिससे मीराँ के पदों के विशुद्ध पाठ-निर्धारण की समस्या अभी तक बनी हुई है एवं जिसके अभाव में मीराँ के पदों की भाषा एवं उनमें अभिव्यक्त भाव-धारा के सम्बन्ध में अनेक विवाद उठ खड़े हुए हैं तथा अनेक भ्रान्तियों को अनायास अवांछित पोषण मिल गया है।

सामान्यत: मीराँ द्वारा रचित मानी जाने वाली रचनाओं को, जो पूर्ण या अपूर्ण रूप में प्राप्त हैं, तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है[1]—

(1) टीका-ग्रन्थ,
(2) प्रबन्धात्मक रचनाएँ, और
(3) स्फुट पद व अन्य मुक्तक।

(1) टीका-ग्रन्थ

टीका-ग्रन्थ के अन्तर्गत 'गीत गोविन्द की टीका' को मीराँ-रचित माना जाता है, परन्तु इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है। इस मान्यता का आधार मुंशी देवीप्रसादजी-कृत 'महिला मृदुवाणी' में हुआ वह उल्लेख है, जिसके अनुसार महाराजा मानसिंहजी जोधपुर के राजकीय ग्रन्थागार 'पुस्तक प्रकाश' में मीराँ-रचित 'गीत गोविन्द की टीका' का होना बताया जाता है। परन्तु इसकी कोई भी पूर्ण या अपूर्ण हस्तलिखित अथवा प्रकाशित प्रति अभी तक नहीं मिली है। अत: यह मान्यता निराधार ही प्रतीत होती है। जैसा कि स्वामीजी ने लिखा है—"सम्भवत: महाराणा कुंभा की लिखित टीका मीराँ की मान ली गई है।"[2] महाराणा कुंभा ने गीत-गोविन्द पर 'रसिकप्रिया' टीका लिखी थी, जैसा कि चित्तौड़ स्थित कीर्ति-स्तम्भ की प्रशस्ति में उल्लेख है—

1 मीराँबाई; डॉ. प्रभात; पृ. 256.
2 मीराँ-मन्दाकिनी; पृ. 11; सं. नरोत्तमदास स्वामी।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

येनाकारि मुरारि संगति रस प्रस्यन्दिनी नन्दिनी ।
वृतिव्याकृतिचातुरीभिरतुला श्रीगीतगोविंदके ।।

अतः मीरां एवं कुंभा के विषय में प्रचलित भ्रम के कारण (कर्नल टॉड मीरां को राणा कुंभा की पत्नी मानने की भूल कर बैठा था) कदाचित् किसी ने कुंभा के कृतित्व को भी मीरां से जोड़ दिया हो ।

(2) प्रबन्धात्मक रचनाएँ

मीरां द्वारा रचित मानी जाने वाली प्रबन्धात्मक रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

1. नरसीजी को मायरो (या माहेरो) ।
2. सनभामानुं रूसण ।
3. रूक्मणी-मंगल ।
4. नरसी मेहता नी हुंडी ।
5. चरीत (चरित्र) ।

1. नरसीजी को मायरो

यह रचना 'नरसी रो माहेरो' नाम से भी मिलती है तथा मीराँ-रचित मानी जाती है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख मुंशी देवीप्रसाद-कृत 'महिला-मृदुवाणी' में मिलता है। विद्वानों में इस कृति के मीराँ-रचित होने में मतभेद है। वस्तुतः आलोच्य कृति की उपलब्ध प्रतियों का परीक्षण करने तथा इसमें संग्रहीत विविध पदों की गुजराती कवि प्रेमानन्द-कृत कुंवरबाईनुं मामेरू (रचना काल सं. 1749)[1] के पदों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह बाद की रचना है। मीराँ-रचित माने जाने वाले इस 'माहेरो' पर प्रेमानन्द की पंक्तियों की छाप के कुछ उदाहरण देखिए—

प्रेमानन्द कृत मोमेरूं	विवेच्य माहेरो
1. सोहे अधर उपर बेसरनां मोती ।	सोहै अधर ऊपर गात बेसर ना मोती।
2. माला मोतीहार उर पर ललके छे।	माला मोत्यानुं हार ऊपर झलप छे।
3. जड़ाव चूड़लो हाथ, कंकण खलके छे ।	सोह जड़ावु चूड़ो हात कंकड खलक छे।

प्रेमानन्द की पंक्तियों के आलोच्य 'माहेरो' में प्राप्त विकृत रूपान्तरों से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि यह मीराँ-रचित नहीं है। वस्तुतः इसे मीराँ-रचित मान लेने का भ्रम कदाचित् इसलिए होगया कि यह रामानुज-सम्प्रदाय के साधु-भक्त कृपानिवास के शिष्य मीराँदास द्वारा रचित है, जैसा कि इसके अन्त में उल्लेख है—

मम जिमि बुद्धि प्रमाण हरिगुरु कृपानिवास ।
नरसी केरो माहरो गावै मीराँदास ।।

अतः इसे मेड़तणी मीराँ-रचित मानना संगत नहीं ।

1 "संवत् सत्तर ओगणचासमो, आसो सुदि नवमी रविवारजी"
—'कुंवरबाईनुं मामेरु', सम्पादक नवलराम, पृ. 45.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

2. सतभामानुं रूशणुं (सत्यभामाजीनुं रूसण)

यह अस्सी चरणों की एक संक्षिप्त रचना है, जो सर्वप्रथम किसी हस्तलिखित पोथी के आधार पर 'वृहत् काव्य दोहन' में प्रकाशित हुई थी एवं इसे ही श्री ब्रजरत्नदास ने 'मीराँ-माधुरी' में मीराँ की रचनाओं के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया था। परन्तु इसके मीराँ-रचित होने में सन्देह है। वस्तुतः भाषा के आधार पर भी यह मीराँ के बाद की रचना प्रतीत होती है। इसके मीराँ-रचित होने की भ्रान्ति कदाचित् निम्न उल्लेख के कारण होगई—

"मीराँ नो स्वामी रे भोल पधारिया रे लोल,
सत भामाजीनां जीवन कीधा धन्य जो।"

जैसा कि डॉ. प्रभात ने लिखा है, यहाँ 'मीराँ नो स्वामी' रचयिता की छाप न होकर केवल कृष्णवाची है।"1

प्रबन्धात्मक रचनाओं के अन्तर्गत 'नरसिं महताचि हुंडि' एवं 'रुक्मणी मंगल' आदि को भी मीराँ-रचित माना जाता है, परन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इन कृतियों की प्रामाणिकता संदिग्ध ही है।

(3) स्फुट-पद

वस्तुतः मीराँ की प्रामाणिक एवं विश्वसनीय रचनाएँ उनके स्फुट पद ही हैं, यद्यपि उनमें भी प्रक्षिप्त पद पर्याप्त संख्या में मिल गए हैं। कुछ ने, जैसा कि हम कह आए हैं, अपने सम्प्रदाय-विशेष को महत्त्व प्रदान करने की दृष्टि से तथा कुछ ने अन्य कारणों से अनेक स्व-रचित अथवा अन्य रचित पदों पर मीराँ नाम की छाप लगाकर इनमें मिला दिया है, जिसके फलस्वरूप मीराँ द्वारा रचित मूल पदों को इन प्रक्षिप्त पदों से अलग करना बड़ा कठिन होगया है। ऐसी स्थिति में, मीराँ की पदावली के एक प्रामाणिक एवं सुसम्पादित संस्करण की महती आवश्यकता है, जिसके बिना मीराँ के पदों की भाषा के स्वरूप का प्रश्न भी अनिर्णीत ही रहेगा। इसके लिए विभिन्न परम्पराओं की उपलब्ध प्रतियों का, जिनके साथ मौखिक परम्पराएँ भी जुड़ी हुई हैं, परीक्षण कर पाठालोचन की मान्य पद्धति के आधार पर मीराँ-पदावली के सम्पादन की दिशा में प्रयास किया जाना चाहिए। तथापि, यह कार्य सम्पन्न होने तक मीराँ की मूल पदावली तथा उसके प्रामाणिक स्वरूप के विषय में कुछ आधारभूत सिद्धान्त तो निश्चित किए ही जा सकते हैं। हमारी समझ में उनमें दो मुख्य हैं, जिनको आधार मानकर ही मीराँ की पदावली का विश्वसनीय एवं प्रामाणिक स्वरूप निश्चित किया जा सकता है—

1. मीराँ सगुणोपासिका थी।
2. मीराँ ने अपनी मूल पद-रचना अपनी मातृगिरा तत्कालीन राजस्थानी (मारवाड़ी) में ही की थी।

1 मीराँबाई, पृ. 271.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इन दो तथ्यों को स्वीकार किए बिना मीराँ-पदावली का पाठालोचन चाहे कितना ही वैज्ञानिक विधि से क्यों न किया जाए, कभी निर्दोष एवं निर्विवाद नहीं हो सकता। प्रथम तथ्य पर हमने 'मीराँ की उपासना-पद्धति' के अन्तर्गत तथा दूसरे पर 'मीराँ की भाषा' परिच्छेद के अन्तर्गत सविस्तार विचार किया है। मीराँ के पदों की प्रामाणिकता पर विचार करते समय इन दोनों आधारभूत तथ्यों को ध्यान में रखना होगा, जिनकी उपेक्षा कर हम कभी मीराँ के साथ न्याय नहीं कर सकते। पाठालोचन वस्तुतः एक साधनमात्र है, कवि की मूल वाणी तक पहुँचने का; यह साध्य नहीं है। इसे साध्य मानकर तथा 'वैज्ञानिकता' के नाम पर अन्य सब तत्त्वों, परम्पराओं आदि की उपेक्षा कर किसी ग्रन्थ का सम्पादन करने से भावों की समाधि पर विद्वत्ता के स्तूप ही खड़े होंगे, जिसका ज्वलन्त उदाहरण डॉ. माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'पृथ्वीराजरासउ' है, जिसमें स्वीकृत पाठ के कारण अनेक स्थानों पर अर्थ-भ्रान्तियाँ हुई हैं।[1] अतः मीराँ की पदावली का सम्पादन करते समय हमें पाठालोचन की इस तथाकथित 'नवीनतम वैज्ञानिक प्रणाली' को ही पाठ-निर्णय की एक मात्र कसौटी नहीं बना लेनी चाहिए। पाठालोचन की कोई भी प्रणाली पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं हो सकती। कहाँ कौनसा पाठ स्वीकार किया जाना चाहिए, इसके लिए हमें विभिन्न प्रतिलिपि-परम्पराओं के साथ-साथ कवि के जीवन-वृत्त, उससे सम्बद्ध सामाजिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक परम्पराओं तथा कवि के जनपद विशेष की भाषा-शब्दावली का भी अन्तरंग एवं तल-स्पर्शी ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। इन सबके सम्यक् परिज्ञान के अभाव में कवि की वाणी के स्वरूप को न ठीक से पहचाना जा सकता है और न उसका मर्म ही ठीक से समझा जा सकता है।

विभिन्न सम्प्रदायों में लिपिबद्ध मीराँ के पदों पर साम्प्रदायिकता का रंग किस प्रकार चढ़ गया है, यह कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा। "रामसनेही सम्प्रदाय के गुटकों में मीराँ के 'गिरधर' अनेक स्थानों पर 'राम' और 'रमैया' बन गए हैं।" परन्तु मीराँ के ये 'राम', कृष्ण के ही पर्याय हैं; उसने 'राम' को कृष्ण के ही अर्थ में ग्रहण किया है, जैसाकि उसके निम्न पद से प्रकट है—

देखत राम हँसे सुदामा कूँ, देखत राम हँसे।

"वारकरी सम्प्रदाय की प्रतियों में 'विट्ठल' का विशेष प्रयोग है। वैष्णव मत के पदों में निर्गुण भावना का आभास दिलाने वाले पद कम से कम हैं और सन्तों द्वारा लिपिबद्ध पदों में 'प्रेम की नाव' 'ज्ञान की नाव' बन गई है; 'प्रीतम' 'सदगुरु' हो गए हैं। शैव सम्प्रदायों में 'मीराँ के प्रभु गिरधरनागर' छाप के पदों में टेक के रूप में 'भोलानाथ दिगम्बर हे, दुख मोरा टारो रे' जैसी पंक्तियाँ जोड़ दी गई हैं। मीराँ के गुरु रूप में रैदास और गौरांग महाप्रभु का उल्लेख करने वाले प्रक्षिप्त पदों की परम्पराएँ भी साम्प्रदायिक भावनाजन्य हैं।"[2]

1 देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 70, अंक 1 में प्रकाशित मेरा लेख 'पृथ्वीराजरासउ के कुछ शब्दार्थों पर पुनर्विचार'।
2 मीरांबाई; डॉ प्रभात, पृ. 282.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अतः मीराँ के नाम से प्रचलित इन सब पदों को अप्रामाणिक माना जाना चाहिए, न कि उनके आधार पर हम मीराँ के निर्गुण पन्थी होने या उससे प्रभावित होने की घोषणा करने लगें।

इसी प्रकार, मीराँ के नाम से प्रचलित वे सब पद भी अप्रामाणिक हैं जो वस्तुतः मीराँ-लीला करने वाली मंडलियों की रचनाएँ हैं तथा जिन्हें श्रीमती पद्मावती शबनम ने 'मीराँ वृहत् पद संग्रह' में 'मतभेद' और 'संघर्ष' शीर्षक के अन्तर्गत संकलित किया है।[1] कुछ इसी प्रकार की रचनाएँ गुजराती में भी उपलब्ध हैं। मेड़ता की जागरण मंडलियों द्वारा रचित अनेक संवादात्मक पद या भजन भी मीराँ के नाम से प्रचलित हैं, परन्तु वे सर्वथा अप्रामाणिक हैं क्योंकि मीराँ ने कोई नाटक नहीं खेला था, जो ऐसे पद्यों की सृष्टि करती—

राणा—मेड़तणी मीराँ क्यों भेष फकीरी धारो।
मीराँ—उदयपुर राणा रे, मने भेष फकीरी धारो।
राणा—मैं मीराँ तने यूं कहूँ, साधां में मत जाय।
लाजे पिय मेड़तो अर कुल के लागे दाग।
साधां के मत जाय। आदि आदि।

निष्कर्ष यह कि मीराँ के पदों की प्रामाणिकता की जाँच हमारे द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त दोनों आधारभूत तथ्यों को ध्यान में रखकर ही की जानी चाहिए। अर्थात् भावना की दृष्टि से मीराँ के वे ही पद प्रामाणिक माने जाने चाहिए, जो उनकी सगुण भक्ति-भावना के अनुरूप हैं। अर्थात् जिनमें मीराँ की, अपने सगुण आराध्य के प्रति, जिन्हें मीराँ गिरधरनागर, गिरधरगोपाल, मोहन, श्याम, 'बन्शीवारे ललना' आदि विविध सम्बोधनों से पुकारती है; प्रेम-व्यंजना हुई है। सगुण-भक्ति का परिवेश बहुत व्यापक है। अतः इनमें उन सब पदों को भी समाविष्ट किया जा सकता है, जिनमें मीराँ नाना सम्बोधनों अथवा अपने युग में प्रचलित विविध अभिव्यंजना-शैलियों द्वारा अपने आराध्य को अपना प्रणय अथवा विरह-निवेदन करती है। दूसरे, भाषा की दृष्टि से मीराँ के राजस्थानी में प्राप्त अथवा राजस्थानी से प्रभावित पदों को ही विश्वसनीय माना जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में, डॉ. प्रभात मीराँ के ब्रज में उपलब्ध पदों को भी प्रामाणिक मानते हैं, परन्तु जैसा कि हमने 'मीराँ की भाषा' शीर्षक परिच्छेद के अन्तर्गत इस प्रश्न पर विचार किया है, हमें यह मत संगत नहीं लगता। डॉ. प्रभात का अभिमत है—"यह कह देना पर्याप्त होगा कि मीराँ की मूल रचनाएँ उनकी मातृभाषा में और उत्तर भारत की तत्कालीन काव्य-भाषा (विशेषकर कृष्ण-काव्य की भाषा) ब्रज भाषा में ही है। उनकी मातृभाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी थी, जो 14वीं-15वीं शताब्दी में गुजराती से अभिन्न थी। मीराँ के युग में उनमें थोड़ा सा अन्तर आने लगा था। अतः प्राचीन गुजराती या पश्चिमी राजस्थानी का पुट भी उनमें स्वाभाविक है।"[2]

1 मीराँ वृहत् पद संग्रह, शबनम।
2 मीराँबाई, डॉ. प्रभात, पृ. 297-298.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

डॉ. प्रभात की उक्त स्थापना से हम आंशिक रूप में ही सहमत हैं। डॉ. प्रभात के अनुसार मीराँ ने दो भाषाओं में काव्य-रचना की—

(1) अपनी तत्कालीन मातृ-भाषा राजस्थानी में, जो 'जूनी गुजराती' से विशेष भिन्न नहीं थी; एवं

(2) ब्रज-भाषा में, जो कृष्ण-काव्य की भाषा थी।

जैसा कि हमने 'मीराँ की भाषा' नामक परिच्छेद में आगे निवेदन किया है, यह समझना भ्रान्ति होगी कि उत्तर भारत में सर्वत्र ब्रज-भाषा ही कृष्ण-काव्य की एकमात्र भाषा थी। राजस्थान में यद्यपि ब्रज-भाषा में प्रभूत कृष्ण-काव्य का सृजन हुआ है, तथापि राजस्थानी में कृष्ण-प्रेम या कृष्ण सम्बन्धी आख्यानों के सृजन की भी एक स्वतन्त्र एवं सुस्पष्ट परम्परा रही है—वेलि कृष्ण रुक्मणी री, नागदमण आदि जिसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। मीराँ ने उसी परम्परा में, अपनी मातृभाषा राजस्थानी (मारवाड़ी) में गेय पदों की रचना की थी। अतः हमारी यह सुविचारित धारणा है कि मीराँ के मूल पदों की भाषा, मीराँ की मातृ-भाषा अर्थात् तत्कालीन राजस्थानी ही थी। गुजराती व राजस्थानी का पृथक्-पृथक् विकास मीराँ के युग से कुछ पहले ही प्रारम्भ हो गया था। अतः गुजराती में उपलब्ध मीराँ के पदों को वस्तुतः मूल राजस्थानी पदों के ही गुजराती रूपान्तर समझना चाहिए। आंशिक रूप में यही बात ब्रज भाषा में प्राप्त पदों पर भी लागू होती है। मीराँ अपनी निश्छल भावाभिव्यंजना के लिए दो भिन्न भाषाओं के माध्यम अपनाती—यह सर्वथा अकल्पनीय है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

3

मीराँ के आराध्य एवं उसकी प्रेम-भावना

मीराँ की उपासना-पद्धति के विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है।

श्री नरोत्तमदास स्वामी के अनुसार—"मीराँ ने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की कल्पना पति के रूप में की है।

अपने रहस्यमय गीतों में भी मीराँ ने श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति और प्रेम दर्शाया है। इसीसे इनका रहस्यवाद कबीर के रहस्यवाद के समान शुष्क नहीं होने पाया।"[1]

अर्थात् स्वामीजी मीराँ को सगुण कृष्ण की उपासिका मानने के साथ-साथ रहस्यवादिनी भी मानते हैं, जो निरर्थक है। मीराँ ने कृष्ण की पति रूप में 'कल्पना' नहीं की थी, उनकी वैसी ही 'भावना' थी। उनका कृष्ण-प्रेम रहस्यवाद की उन बौद्धिक कल्पनाओं या काल्पनिक अनुभूतियों से मुक्त है, जो महादेवी वर्मा में देखी जाती हैं। अत: मीराँ को रहस्यवादिनी मानना वस्तुत: उनकी सहज निश्छल प्रेम-भावना को एक गलत परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना है। मीराँ उस रूढ़ अर्थ में कदापि रहस्यवादिनी नहीं थी, जैसा कि 'रहस्यवादी' शब्द से आज समझा जाता है।

मीराँ-साहित्य के एक विशेषज्ञ-विद्वान् डॉ. श्रीकृष्णलाल ने तो मीराँ के आराध्य में अनेक विरोधी रूपों की उद्भावना कर उनकी उपासना-पद्धति को विरोधाभास का एक खासा अच्छा दृष्टान्त बना कर प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं[2]—

"मीराँ के भगवान् उनके प्रियतम गिरधरनागर हैं, जो कितने ही भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने आते हैं।" आगे डॉक्टर साहब उनके रूप गिनाते हुए लिखते हैं—

"उनका पहला स्वरूप निर्गुण ब्रह्म का है, जो कबीर, नानक आदि संत कवियों के निर्गुण, निराकार ब्रह्म के बहुत निकट जान पड़ता है। वह दूर ऊँचे महल का रहने वाला है।........मीराँ के गिरधर नागर का एक दूसरा स्वरूप योगी का है। उस योगी की खोज में मीराँ ने भी योग लिया है।........मीराँ गिरधर नागर का तीसरा स्वरूप सगुण ब्रह्म का है।"

1 मीराँ-मन्दाकिनी, स्वामीजी, पृष्ठ 19.
2 मीरांबाई, डॉ. श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ 126-129.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

डॉ. श्रीकृष्णलाल ने मीराँ के आराध्य में जिन परस्पर विरोधी (Self-Contradictory) तत्त्वों की कल्पना कर उसका जो विचित्र स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह निरा हास्यास्पद है। यह मीराँ के पदों में आए 'सतगुरु', 'जोगी' या 'जोगिया' शब्दों के मर्म को ठीक से न समझ पाने के कारण ही है, जिनका विशद विवेचन हमने पुस्तक के अन्तिम परिच्छेद में किया है।

डॉ. श्रीकृष्णलाल से ही मिलती-जुलती मान्यता डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने प्रस्तुत की है। उनका मत है[1]—

"मीराँ के समस्त व्यक्तित्व और काव्य में नाथ-पंथी जोगी, सगुण कृष्ण और निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्धित अभिव्यक्ति की मिली-जुली त्रिवेणी बह रही है। उसका रोम-रोम इसमें रम गया है। मीराँ की काव्य-वीणा के तीन ही तार हैं—जोगी, कृष्ण और निर्गुण ब्रह्म।"

उपर्युक्त तथा अन्य कुछ विद्वानों की ऐसी ही प्रस्थापनाओं के कारण मीराँ के इष्ट व उसकी उपासना-पद्धति के विषय में किसी भ्रान्ति का न फैलना ही आश्चर्यजनक है।

मीराँ पर निर्गुण विचारधारा का प्रभाव देखने वालों में कदाचित् डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ही सर्व-प्रथम थे। उन्होंने मीराँ के आराध्य तथा उसकी प्रेम-भावना पर निम्न अभिमत प्रकट किया था[2]—

"यद्यपि मीराँबाई व्यवहारतः सगुणोपासिका थीं और कृष्ण की उपासना रणछोड़ के रूप में किया करती थीं, फिर भी यह सच है कि उनके कहे जाने वाले पदों में निर्गुण विचारधारा स्पष्ट दीखती है। उन्होंने अपनी प्रेम-सम्बन्धी विनय कृष्ण एवं ब्रह्म दोनों के प्रति एक साथ की है।"

इसके आगे उन्होंने अपनी मान्यता की पुष्टि में उपयुक्त उद्धरण भी दिए हैं।

डॉ. बड़थ्वाल की उक्त प्रस्थापना के बाद तो हिन्दी के विद्वानों में यह धारणा अतर्क्य सत्य के रूप में प्रतिष्ठित होगई कि मीराँ सगुणोपासिका होने पर भी निर्गुण विचारधारा से आक्रान्त थी तथा किसी नाथपंथी जोगी का भी उसके जीवन से कुछ सम्बन्ध रहा था। डॉ. बड़थ्वाल के उक्त शोध-ग्रन्थ के पश्चात् मीराँ पर लिखे गए प्रायः सभी ग्रन्थों में इसी मान्यता की पुनरावृत्ति हुई है, जिसके फलस्वरूप मीराँ के आराध्य तथा उसकी उपासना-पद्धति—दोनों ही के विषय में विद्वानों में एक व्यापक भ्रान्ति फैल गई। निर्गुण और सगुण के साथ-साथ 'जोगी' या 'जोगिया' के उल्लेख ने तो उनको और भी चक्कर में डाल दिया। उसका कोई उचित समाधान न खोज पाने के कारण उन्होंने मीराँ का सम्बन्ध लगे हाथ—एक तीसरे पन्थ—नाथ पन्थ से भी जोड़ दिया तथा इस प्रकार मीराँ को सगुण निर्गुण,

1 राजस्थानी भाषा और साहित्य, डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ 316.
2 हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ 436.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

और नाथ-पन्थी विचारधारा की त्रिवेणी में स्नान करा कर अपने दायित्व से मुक्ति पाई।

एक आलोचक महोदय ने एक निराली ही कल्पना की[1]—"यह योगी स्वप्न में आए हुए श्री गिरधरलालजी का अवधूत रूप हो सकता है अथवा रैदासजी या अन्य सन्त योगी हो सकते हैं, जिससे मीराँ को प्रेम-साधना में सहायता प्राप्त हुई हो।" निश्चय ही वह योगी और कोई नहीं, मीराँ के गिरधरलाल ही हैं, परन्तु यह उनका स्वप्न में दर्शित अवधूत-रूप नहीं है, अपितु प्रीति में सम्बोधित प्रेमी-रूप है।

मीराँ के विषय में प्रस्थापित इस भ्रान्त मान्यता से हिन्दी के सामान्य पाठक एवं विद्वान् ही प्रभावित हुए हों—ऐसी बात नहीं। श्रद्धेय विद्वद्वर डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी बहुत कुछ इसी मान्यता को दुहराया है तथा इसका श्रेय मीराँ के मनोगत औदार्य को दे दिया है, यद्यपि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि मीराँ का किसी पन्थ-विशेष के प्रति आग्रह नहीं था—

"इस प्रकार उनका सम्बन्ध एक तरफ तो सगुणमार्गी भक्तों से सिद्ध होता है और दूसरी तरफ निर्गुणमार्गी भक्तों से भी उनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। फिर उनके भजनों में किसी ऐसे गुरु की भी चर्चा आती है, जो नाथ पन्थी साधु जान पड़ते हैं। इन सब बातों का एक ही निष्कर्ष निकल सकता है कि मीराँबाई अत्यन्त उदार मनोभावापन्न भक्त थीं। उन्हें किसी पन्थ-विशेष पर आग्रह नहीं था।"[2]

मीराँ के इष्टगत स्वरूप एवं उसकी उपासना-पद्धति के विषय में प्रचलित इस भ्रान्ति का मूल कारण मीराँ की पदावली के प्रामाणिक पाठ का अभाव तो है ही, साथ ही विद्वानों का पूर्वाग्रह एवं अन्धानुसरण भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं है। उन्होंने मीराँ के काव्य को समग्र रूप में देख कर अपने निष्कर्ष नहीं निकाले और न ही उसके विशिष्ट शब्द–प्रयोगों एवं सम्बोधनों के मर्म को समझने की चेष्टा की, जिनके आवरण में मीराँ की सगुण भक्ति-धारा का प्रवाह ही अजस्र एवं अमन्द वेग से प्रवहमान रहा है।

यहाँ हम हिन्दी के और अधिक विद्वानों के मतों का उल्लेख न कर संक्षेप में अपनी मान्यता प्रस्तुत करेंगे।

मीराँ के आराध्य

मीराँ की भक्ति-भावना एवं इष्ट के स्वरूप पर जब हम विचार करते हैं तो देखते हैं कि 'श्री गिरधरलाल' अथवा 'गिरधरगोपाल' ही मीराँ के एक मात्र आराध्य थे; उपास्य थे; जिन्हें मीराँ ने उनके विविध रूप—गुणानुसार नटवरनागर, नन्दलाल, नन्द-नन्दन, मोहन, हरि, श्याम, बंसीवारे ललना, बाँके-बिहारी, साँवरिया, गोविन्द, प्रभु, पिया, प्रियतम, श्यामसुन्दर आदि अनेक नामों से पुकारा है। यहाँ तक कि मीराँ

1 मीराँ की प्रेम-साधना, श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', पृष्ठ 168.

2 हिन्दी साहित्य ; उसका उद्भव और विकास, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 126.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ने अपने आराध्य को सन्त व योगमत में प्रचलित शब्दावली---सतगुरु, जोगी, जोगिया, साहब आदि नामों से भी सम्बोधित किया है, परन्तु इससे मीराँ के आराध्य के स्वरूप के विषय में कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। मीराँ का सम्पूर्ण प्रेम, उनकी अशेष भक्ति, इन्हीं सगुण लीलाधारी कृष्ण के प्रति निवेदित हुई है, जिनका 'गिरधर' नाम ही मीराँ को सर्वाधिक प्रिय था। ये गिरधरलाल ही मीराँ के एक मात्र आराध्य थे, जिसकी पुष्टि अन्तर्साक्ष्य एवं बहिर्साक्ष्य--दोनों से ही होती है। मीराँ जब स्पष्ट शब्दों में कहती है कि 'मेरे तो गिरधरगोपाल, दूसरो न कोई' तो उसके इस सहज, स्वाभाविक कथन पर अविश्वास कर गिरधर से भिन्न उसके किसी अन्य आराध्य की कल्पना करना क्या उस प्रेम-योगिनी के प्रति अन्याय नहीं है ? उसके कथन की सत्यता और निश्छलता की अवहेलना करने का हमें अधिकार ही क्या है ? मीराँ ने एक नहीं, अनेक पदों में उसी सगुण, साकार कृष्ण को ही अपने आराध्य-रूप में स्वीकार किया है। वे ही मीराँ के प्रियतम हैं, प्राणाधार हैं, सर्वस्व हैं---

1. मैं गिरधर के रंग राती।
2. मेरो मन बसिगो गिरधरलाल सों।
3. या मोहन के मैं रूप लुभानी।
4. हरि मेरे जीवन प्रान अधार।
5. मैं सांवरे के रंग राती।
6. मैं गिरधर के घर जाऊँ।
   गिरधर मेरो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।

अपने आराध्य के विषय में मीराँ की ये घोषणाएँ स्पष्ट एवं निर्विवाद हैं। साथ ही, बहिर्साक्ष्यों द्वारा भी, जो विभिन्न सम्प्रदाय से सम्बद्ध व्यक्तियों के हैं, इसी तथ्य की पुष्टि होती है। मीराँ के विषय में इन भक्तों और सन्तों के उल्लेख बड़े महत्त्वपूर्ण एवं विश्वसनीय हैं क्योंकि इनसे हमें मीराँ के आराध्य के स्वरूप का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। उदाहरणार्थ एतद्विषयक कुछ बहिर्साक्ष्य ध्यातव्य हैं।

प्रसिद्ध भक्त नागरीदासजी ने, जिनके उल्लेख पूर्णतः विश्वसनीय माने जा सकते हैं, लिखा है कि मीराँ के इष्टदेव ठाकुरजी (श्रीकृष्ण) ही थे जिनके आगे मीराँ पद बनाकर गाया करती थी। वे लिखते हैं---

आपुन गिरधर न्याव कियो यह, छान्यो दूधरु पानी।
मीराँ प्रभु गिरधरनागर के, चरन-कमल लपटानी॥[1]

राधावल्लभी ध्रुवदास ने लिखा है---

लाज छांडि गिरधर भजे[2]

1 नागर समुच्चय, पद-प्रसंगमाला, मीराँ सम्बन्धी प्रसंग।
2 भक्तनामावलि, लीला, पृष्ठ 14.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

चैतन्य सम्प्रदायी **प्रियादास** ने भी मीराँ का गिरधर में अनुरक्त होना ही लिखा है—

मेरतै जनम भूमि, झूमि हित नैन लगे,
पगे गिरधरलाल, पिता ही के धाम में[1]

निम्बार्क सम्प्रदायी **वैष्णवदास** ने भी 'मीराँ गिरवर भजी' कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की है। अवधूतनाथपन्थी **राधाबाई** ने भी मीराँ को श्यामसुन्दर की ही उपासिका कहा है —

'मीराँबाई नाम भजो श्याम सुन्दर'[2]

महाराष्ट्र वारकरी सम्प्रदाय के एक अज्ञात व्यक्ति द्वारा नामा के नाम से लिखित 'मीराँ-चरित्र' में भी इसी आशय का उल्लेख है—'उभये तातुल केले कृष्णार्पण।'

उपर्युक्त कृष्णोपासक सम्प्रदायों के भक्तों के अतिरिक्त रामोपासक भक्तों ने भी मीराँ के आराध्य के विषय में एक स्वर से इसी तथ्य का समर्थन किया है। उदाहरणतः अग्रदास के शिष्य रामोपासक **नाभादास** ने लिखा है—

लोक-लाज-कुल-शृंखला तजि, मीराँ गिरधर भजी।[3]

नाभादास की 'भक्तिमाल' के अतिरिक्त, सन्त-सम्प्रदाय के प्रति आग्रहभाव से लिखित **राघौदास** कृत भक्तमाल में आए मीराँ-सम्बन्धी उल्लेख तो और भी महत्त्वपूर्ण एवं विश्वसनीय हैं क्योंकि किसी सन्त मतानुयायी से सगुण-कृष्ण की उपासिका मीराँ के प्रति आदर भाव से लिखित ये प्रशस्तिपद निराधार नहीं हो सकते—

मूल छप्पय

नौबति भक्ति घुराई कैं, पति सो गिरिधर ही सजे।
लोक बेद कुल जगत सुख, मुचि मीराँ श्री हरि भजे॥

इन सब उद्धरणों से यह असंदिग्ध एवं निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि मीराँ के आराध्य गिरधरलाल ही थे। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जैसे 'राम' शब्द भक्तों और सन्तों के सन्दर्भ में सगुण और निर्गुण दोनों का ही वाचक है, वैसे ही क्या मीराँ के 'गिरधर' भी निर्गुण ब्रह्म का वाचकत्व नहीं कर सकते ? इस प्रश्न का समाधान भी स्वयं मीराँ तथा अन्य सन्त-भक्तों के साक्ष्यों से हो जाता है। राघौदास ने केवल यही नहीं कहा—"मीराँ श्री हरि भजे" अपितु उन हरि के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए यह भी कहा कि ये श्री हरि रसिकराय थे, गिरधर थे, जिनके प्रति मीराँ का भाव पत्नी-भाव और प्रेम गोपियों का-सा था—

रसिक राय जस गाई, निडर रही संत समाई।

ये रसिकराय या रसिकश्याम सगुण, सलोने श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और हो ही कौन सकते हैं ? स्वयं मीराँ ने भी अपने अनेक पदों में उनके इसी सगुण स्वरूप

1 भक्तमाल, रूपकला, पृष्ठ 714.
2 प्राचीन काव्य-माला, ग्रन्थ 6, मीराँ-माहात्म्य, कड़ी-1.
3 श्री भक्तमाल, पृष्ठ 712.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

का वर्णन किया है। यथा--

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनी मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने विसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल॥

मीराँ के आराध्य यही श्यामसुन्दर हैं, जिनके नयन विशाल हैं, जो मुरली और वैजयन्तीमाला धारण करते हैं। मीराँ अपने उन्हीं प्यारे आराध्य को प्रातः यों जगाती है—

जागो बंसीवारे ललना, जागो मोरे प्यारे।

वह अपने उसी मोहन के रूप पर मुग्ध है—

या मोहन के रूप मैं लुभानी।

वह 'हरि' उसके जीवन और प्राणाधार हैं--

हरि मेरे जीवन प्रान अधार।

उन्हें छोड़कर मीराँ का और कोई भी अवलम्ब नहीं, आश्रय नहीं। यहाँ तक कि मीराँ को उसके सिवा और कोई सुहाता ही नहीं--

और आसिरो नांहि तुम बिन, तीनूं लोक मंझार।
आप बिना मोहि कछु न सुहावै, निरख्यो सब संसार॥

उसने तो अपनी प्रेम-पूंजी से एक मात्र गोविन्द को ही मोल लिया है--

माई री मैं तो लियो गोविन्दो मोल।

और वह अनुरागिनी गोविन्द को मोल लेकर स्वयं ही अपने उस गिरधर के हाथों बिक भी गई है--

मैं गिरधर हाथ बिकानी।

वह अपने उन्हीं प्रियतम गिरधर के प्रेम-रंग में पूर्णतः रंग गई है--

मैं गिरधर रंग राती।

इस प्रेम-रंग के आगे और सारे रंग फीके पड़ गए हैं।

मीराँ लागो रंग हरी, औरन रंग अटक परी।

कहाँ तक गिनायें ? विभिन्न पदों के इन सब उद्धरणों से मीराँ के आराध्यगत स्वरूप के विषय में हमें तनिक भी भ्रान्ति नहीं रह जानी चाहिये। परन्तु मीराँ के पदों में आए कुछ निर्गुण-साधनावाची शब्दों को लेकर स्व० डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल सदृश कुछ विद्वानों ने यह धारणा बनाली कि मीराँ योग अथवा नाथ-पन्थ से प्रभावित थी।

इस सम्बन्ध में, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी कवि के विषय में कोई निष्कर्ष उसके काव्य को समग्र रूप में देखकर ही निकालना चाहिये। केवल यत्र-तत्र बिखरे कुछ रूढ़ सम्बोधनों के, जो मीराँ-काव्य के सन्दर्भ में तो अपने अभिधार्थ से भिन्न किन्हीं विशिष्ट अर्थों की व्यंजना करते हैं, अथवा प्रासंगिक रूप से प्रयुक्त कुछ लोक-प्रचलित सांप्रदायिक शब्दों को ही आधार मानकर (जिनके प्रक्षिप्त होने की संभावना भी अस्वीकार नहीं की जा सकती) उसके आराध्य का स्वरूप

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

निर्दिष्ट कर देना सर्वथा असंगत है। वस्तुतः इन स्फुट सम्बोधनों या सम्प्रदाय-विशेष के रूढ़ शब्दों के अन्तराल में जो कृष्ण-प्रेम की निर्मल अन्तःसलिला प्रवाहित हो रही है, उसे हम उपेक्षित नहीं कर सकते। मीराँ-काव्य की अन्तश्चेतना में सगुण कृष्ण के प्रति अनन्य अनुरक्ति की यह धारा आद्यन्त परिव्याप्त है।

वस्तुतः हम यह भूल जाते हैं कि जहाँ कहीं भी मीराँ ने अपने आराध्य के लिए निर्गुण ब्रह्मवाची उपाधियों का प्रयोग किया है, वहाँ भी उनके साथ कृष्ण का सगुण स्वरूप अभिन्नतः संश्लिष्ट रहा है। उदाहरणतः उनके पद की पंक्ति—'भज मन चरण कँवल अविनासी' में हमारी दृष्टि निर्गुण ब्रह्म-वाची 'अविनासी' शब्द पर तो तुरन्त जा पड़ती है, परन्तु उसके स्वरूप के व्यंजक 'चरण-कँवल' शब्द पर ध्यान देने का कष्ट हम नहीं करते, जिसके पीछे सगुण कृष्ण की निर्मल छवि ही मुस्कुराती है। इसी भाँति, मीराँ ने अपने अनेक पदों में जो 'जोगी' या 'जोगिया' सम्बोधन का प्रयोग किया है, वह वस्तुतः प्रियतम का ही वाचक है, जैसा कि मैंने "मीराँ के 'जोगी' या 'जोगिया' का मर्म" शीर्षक लेख में इस शब्द के मूल उत्स, अर्थ-परम्परा तथा इसमें निहित सांस्कृतिक आदर्श की सप्रमाण एवं सोदाहरण व्याख्या करते हुए निवेदन किया है। अतः 'जोगी' या 'जोगिया' शब्द को लेकर मीराँ का किसी नाथ-पंथी जोगी या नाथ-सम्प्रदाय से सम्बन्ध जोड़ने की बात निरर्थक और भ्रान्त है। स्वयं मीराँ के पदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका 'जोगिया' और कोई नहीं, उसका प्रियतम (कृष्ण) ही है एवं उसी की सूरत उसके मन में बसी हुई है। साथ ही, उस 'जोगिया' के साथ मीराँ की 'रसीली प्रीति' है। यह 'रसीली प्रीति' शब्द क्या उस 'जोगिया' के स्वरूप का सच्चा परिचय नहीं दे देता? एक पद में मीराँ कहती है—

जोगिया री सूरत मन में बसी।

× × ×

मीराँ कहे प्रभु कब रे मिलोगे, प्रीत रसीली बसी।

इसी भाँति, एक अन्य पद में मीराँ 'जोगिन' होने की बात तो अवश्य कहती है, परन्तु किसके साथ, इस पर भी तो तनिक ध्यान दीजिए—

जोगणि होइ जुग ढूंढसूं रे म्हारा सांवलिया री साथ।

यही नहीं, मीराँ ने तो स्पष्ट शब्दों में योग मत का विरोध भी किया है—

कहा भयो है भगवा पहर्याँ, घर तज भये सन्यासी।
जोगी होय जुगति नहीं जाणी, उलटि जनम फिर आसी।

अतः मीराँ का किसी जोगी से सम्बन्ध होने या नाथ-पंथ से प्रभावित होने की बात सर्वथा निर्मूल है। जहाँ तक निर्गुणोपासना का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि ईश्वर के सगुण स्वरूप में जहाँ उसका निर्गुण रूप भी अन्तर्भावित रहता है, वहाँ निर्गुण में सगुण नहीं। फलतः सगुणोपासना का क्षेत्र अधिक व्यापक एवं विस्तृत है। यही कारण है कि हमारे सगुण भक्त-कवियों ने अपने आराध्य के गुण-गान के अन्तर्गत उसके विशुद्ध निर्गुण रूप का भी उसी मुक्त भाव से स्तवन

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

किया है। परन्तु एकाङ्गी निर्गुणोपासना में सगुण के लिए कोई स्थान नहीं है। ऐसी स्थिति, में अपने आराध्य कृष्ण के अनन्त गुणों में डूबी मीराँ ने यदि उसके व्यापक स्वरूप के बोध के लिए यत्र-तत्र निर्गुण ब्रह्मवाची प्रयोग कर भी दिए हैं तो इससे उसकी मूल सगुणोपासना पर कोई आँच नहीं आती। यह तो सभी भक्तों की प्रचलित परिपाटी रही है। महाकवि तुलसी ने भी अपने आराध्य सगुण दाशरथि राम के लिए निर्गुणवाची विशेषणों का प्रयोग ही नहीं किया बल्कि उन्हें पूर्णत: निर्गुण से एकरूप करके देखा है।

सोइ सच्चिदानंद घन रामा।
अज बिग्यान, रूप बल धामा।
व्यापक, व्याप्य, अखंड, अनंता।
अखिल, अमोघ सक्ति भगवंता॥

परन्तु इन उदाहरणों के आधार पर किसी ने निर्गुण राम को तुलसी का आराध्य मानने या तुलसी के निर्गुणोपासक कहने की गलती नहीं की। फिर मीराँ के विषय में ही उनकी उपासना-पद्धति अथवा इष्टगत स्वरूप को लेकर यह अवांछित एवं अनपेक्षित वितंडावाद क्यों? इसी भाँति, राजस्थानी भक्ति-परम्परा के कवि ईसरदास भी मुख्यत: सगुणोपासक ही थे[2] परन्तु उन्होंने भगवान् के सगुण-रूप-वर्णन के साथ-साथ उनके व्यापक निर्गुण परब्रह्म रूप का भी उतना ही भावमय वर्णन किया है।

यथा—[3]

नमो रण रांमण मारण राम।
नमो किय सिद्ध बभीखण कांम।
नमो कन्ह रूप निकंदन कंस।
नमो ब्रजराज नमो जदुवंस॥

एवं[4]

अनंत पराक्रम तुझ अनंत।
नहीं तुझ आद, नहीं तुझ अंत।
नहीं तुव रूप, नहीं तुझ रेख।
नहीं तुव वप्प, नहीं तुझ वेस।

इसे भक्त के मानस में प्रवाहित सगुण और निर्गुण भक्ति की दो भिन्न व समानान्तर धाराएँ समझना भ्रम है। वस्तुत: यह तो सगुण का ही विराट् रूप-

1 रामचरितमानस।
2 हरिरस, सं. श्रा. बदरीप्रसाद साकरिया, पृष्ठ 3.
3 वही।
4 वही।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

दर्शन है; उसके नाम-गुणादि का अपने अशेष वैविध्य एवं विस्तार में स्तवन है। यह निर्गुण की महिमा का गीत नहीं, सगुण की सामर्थ्य का उद्गीथ है। हमारे समस्त भक्त-कवि सगुण लीलाधारी ईश्वर में निर्गुण पर-ब्रह्म के इसी अन्तर्भावित रूप के आराधक हैं, जैसा कि डॉ. प्रभात ने लिखा है[1]—"संतों का निर्गुण निराकार सत्ता है, जो प्रेमगम्य होने के कारण सगुण तो है पर साकार नहीं है। भक्तों का सगुण आराध्य निर्गुण निराकार भी है। इस प्रकार साकार के सम्बन्ध में विरोधी होते हुए भी आराध्य के निर्गुण-निराकार रूप की स्थिति के सम्बन्ध में उनमें विशेष विरोध नहीं है।" अतः निर्गुण सम्बन्धी साम्य, जैसा कि डॉ. प्रभात आगे लिखते हैं, वस्तुतः दो परंपराओं के उभयनिष्ठ साधना-तत्त्व के कारण है; प्रभाव नहीं है।[2] वस्तुतः सगुणोपासना में निर्गुण ब्रह्म की अन्तर्भावना का मूल हमारे औपनिषदिक चिन्तन में है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् (3/19) में परब्रह्म परमात्मा के जिस इन्द्रियातीत स्वरूप का यों वर्णन किया गया है—

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्॥

उसी का भक्तवर ईसरदास जी ने यों चित्रण किया है—

ग्रहै विण पांण अपाव गवन्न।
अलेखत रूप सोहो अन अन्न॥

भक्तों के सगुण, साकार आराध्य में निर्गुण निराकार ब्रह्म की स्थिति वैसे ही समझिए जैसे काष्ठ में अग्नि की अथवा तिल में तेल की। अतः मीराँ ने यदि अपने सगुण-सलोने गिरधर के अगम-अविनाशी स्वरूप का भी प्रासंगिक रूप से चित्रण कर दिया है तो इसे निर्गुण-पन्थी प्रभाव की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अपितु यह प्रकारान्तर से उसके सगुण आराध्य के ही, नाना नामोपाधियों सहित, भावगृहीत रूप का स्मरण है। भक्तों द्वारा भगवान् को अनेक नामों से, जब जैसी भावना हुई, पुकारने की एक सामान्य परम्परा रही है। इसी को लक्ष्य कर विद्वद्वर डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है[3]—

"मध्य युग की समस्त धर्म-साधना को नाम की साधना कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों, चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम जप के बारे में किसी को कोई सन्देह नहीं।....इसीलिए भक्तों के नाम-स्मरण का स्पष्ट अर्थ है भगवान् के भावगृहीत रूप का स्मरण।"

मीराँ द्वारा अपने आराध्य को विविध नामों से सम्बोधन किए जाने का यही रहस्य है। इसे हृदयंगम कर लेने पर मीराँ के आराध्य एवं उसकी उपासना-पद्धति के विषय में हमें कोई संशय नहीं रह जाना चाहिए।

1 मीराँबाई, डॉ. प्रभात, पृष्ठ 364.
2 वही, पृष्ठ 365.
3 मध्यकालीन धर्म साधना, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 12-13.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इस सम्बन्ध में, संत विनोबा भावे के विचार भी ध्यातव्य हैं—

"निर्गुण-सगुण परस्पर पूरक हैं, परस्पर विरुद्ध नहीं। सगुण से निर्गुण तक की मंजिल तय करनी चाहिए और निर्गुण को भी चित्त के सूक्ष्म मल धोने के लिए सगुण की आर्द्रता चाहिए। दोनों की एक दूसरे से शोभा है।"[1]

तथा—

"सगुण और निर्गुण दोनों एक दूसरे में गुँथे हुए हैं। सगुण निर्गुण का आधार सर्वथा तोड़ नहीं सकता और निर्गुण को सगुण के रस की जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्त्तव्य-कर्म करता है, वह उस कर्मरूप में पूजा ही कर रहा है, परन्तु पूजा के साथ रस, आर्द्रता चाहिए। केवल फूल चढ़ा देना ही पूजा नहीं है। उसमें भावना आवश्यक है।..............फूल चढ़ा दिए, पर मन में भावना नहीं है, तो वे फूल मानों पत्थर पर ही चढ़े। अतः असली वस्तु भावना है। सगुण और निर्गुण, कर्म और प्रीति, ज्ञान और भक्ति—ये सब चीजें एकरूप ही हैं। दोनों का अंतिम अनुभव एक ही है।"[2]

हमारे मध्ययुगीन भक्त-कवियों की सगुण-निर्गुण के प्रति यही संश्लिष्ट दृष्टि रही है। उन्होंने निर्गुण निराकार ईश्वर को अपने प्रेम के रंग में रंग कर तथा उसे अपनी भावना के रस से आर्द्र कर देखा है। इस प्रेम-भावना से वियुक्त ईश्वर की कल्पना कर हम उनके आराध्य की प्रतिमा को ही खंडित कर देंगे।

साथ ही, मीराँ के कुछ पदों में (यदि उनकी प्रामाणिकता स्वीकार कर ली जाए) व्यवहृत साम्प्रदायिक शब्दावली को किसी अंश तक सामयिक प्रभाव की भी संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि मीराँ के सत्संग का क्षेत्र बड़ा व्यापक था। वे निर्गुण-सगुण सभी मतों के सन्तों और भक्तों के सम्पर्क में आती रहती थीं। उन्होंने सन्त-साहचर्य में पर्याप्त देशाटन भी किया था। अतः अपने आराध्य के गुण-गान में उन्होंने मध्यकालीन सन्त-समाज में प्रचलित शब्दावली या उसके कुछ रूढ़ प्रतीकों का यत्र-तत्र प्रयोग कर लिया तो इससे उनके आराध्य या उनकी प्रेमोपासना के स्वरूप में क्या फर्क पड़ गया ? और फिर मीराँ के ऐसे पदों को, जिनके उद्धरण डॉ. पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल ने उसे निर्गुण ब्रह्म की उपासिका सिद्ध करने के लिए दिए हैं, क्या सगुण कृष्ण पर भी घटित नहीं किया जा सकता, क्योंकि मीराँ जहाँ 'त्रिकुटी महल' और 'सुन्न महल' की बात करती है, वहाँ भी वह अपने प्रियतम गिरधरलाल पर ही बलिहारी होती है।[3]

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँरी।
सुन्न महल में सुरति जनाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँरी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जाऊँरी।

1 गीता-प्रवचन, पृष्ठ 181 : आचार्य विनोबा भावे।
2 वही, पृष्ठ 186.
3 हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ. बड़थ्वाल, पृष्ठ 438.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सही बात तो यह है कि मीराँ के इन निर्गुणब्रह्मपरक पदों की प्रामाणिकता ही हमें संदिग्ध प्रतीत होती है क्योंकि ये सगुण कृष्ण से सम्बद्ध मीराँ के मूल प्रेम-भावना-परक पदों से मेल नहीं खाते। जैसा कि हम देख चुके हैं, मीराँ को अपने-अपने सम्प्रदाय में घसीटने के लिए विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बद्ध व्यक्तियों ने मीराँ के पदों में भी परिवर्तन कर डाला जिसके फलस्वरूप 'श्याम' के 'राम' हो गए, 'प्रीतम' 'सद्गुरु' होगए, 'प्रेम की नाव' 'ज्ञान की नाव' होगई आदि। उसी भाँति, मीराँ के कुछ पदों का निर्गुण-पंथी सन्तों के हाथों में पड़कर यों रूपान्तरित हो जाना भी असभव नहीं है, जिसका रहस्योद्घाटन पद के अन्त में आए 'मीराँ के प्रभु गिरधर नागर' से सहज ही होजाता है। वस्तुत: डॉ. बड़थ्वाल इस परम्परागत लोकानुश्रुति में विश्वास करके चले थे कि रामानन्द के शिष्य रैदास, जो निर्गुण-मार्गी सन्त थे, मीराँ के गुरु थे (यद्यपि गुरु होने की बात डॉ. बड़थ्वाल ने स्पष्ट शब्दों में नहीं कही है, तथापि उनका आशय वही है)। अतः मीराँ पर उनके निर्गुण पन्थ का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है—

"इस प्रकार मीराँ में हमें सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं और यदि हम लोग इस बात का ध्यान रखें कि उन्हें रामानन्द के शिष्य रैदास अथवा उनकी रचनाओं से प्रेरणा मिली थी तो हमें आश्चर्य करने का कोई कारण न मिलेगा।"[1]

पाठक जानते हैं कि परवर्ती विद्वानों ने रैदास के मीराँ के गुरु होने की सम्भावना को ही निर्मूल सिद्ध कर दिया है क्योंकि रैदास का समय मीराँ से पहले था। अतः रैदास से मीराँ के प्रेरणा लेने की बात उठती ही नहीं। फलतः निर्गुण ब्रह्मपरक कुछ शब्दों के प्रयोग मात्र के आधार पर, जिनकी सीमाएँ हैं, तथा जो सगुणोपासक व निर्गुणोपासक, दोनों ही कवियों में समानरूपेण ग्राह्य रहे हैं, मीराँ को निर्गुणोपासिका या निर्गुण-मत से प्रभावित सिद्ध नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष यह कि मीराँ एकान्ततः सगुण-साकार कृष्ण की ही आराधिका थीं। डॉ. प्रभात ने सर्वथा उचित लिखा है[2]—

"मीराँ की समस्त साधना कृष्ण के सगुण-साकार अवतारी रूप पर ही केन्द्रित है। वस्तुतः यही रूप उनकी आराधना का एक मात्र लक्ष्य है।"

ठीक ऐसा ही अभिमत सन्त-साहित्य के मनीषी विद्वान् श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी दिया है[3]—

"मीराँबाई द्वारा किए गए इष्टदेव के निर्गुणवत् निरूपण तथा उसकी प्राप्ति के लिए प्रयोग में आने वाली चारित्रिक साधनाओं के आधार पर कुछ लोग उन्हें सन्तमत की अनुयायिनी मान लेना चाहते हैं। किन्तु ऐसा करना उचित नहीं

1 हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ. बड़थ्वाल, पृष्ठ 438.
2 मीराँबाई, डॉ. प्रभात, पृष्ठ 307.
3 मीराँबाई की पदावली, सं. परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 36-37.

Devavani Parishad New Delhi

 CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जान पड़ता। मीराँ ने अपने अनेक पदों में उक्त 'हरि अविनाशी' को ही परम ऐश्वर्यशाली एवं लीलामय भगवान् के सगुण रूप में अंकित किया है।"

मीराँ के इष्टगत स्वरूप पर विचार करने के अनन्तर अब हम मीराँ की उपासना-पद्धति (भक्ति-भावना) अथवा उसकी प्रेम-भावना पर विचार करेंगे।

मीराँ की उपासना-पद्धति अथवा प्रेम-भावना

मीराँ के समष्टिरूप काव्य का मूल स्वर प्रेम है एवं उसके एक मात्र आलम्बन हैं श्रीकृष्ण। भक्तों की शब्दावली में उसे 'प्रेमा-भक्ति' अथवा माधुर्योपासना की संज्ञा दे सकते हैं। मीराँ की प्रेमा-भक्ति का विवेचन करने से पूर्व भक्ति के सामान्य स्वरूप से परिचित हो जाना समीचीन होगा।

महामुनि शांडिल्य के अनुसार ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति अथवा निरतिशय अनुराग का नाम ही भक्ति है–'सा परानुरक्तिरीश्वरे।'[1]

देवर्षि नारद के अनुसार भगवान में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है— 'सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा।'[2]

यह अमृत स्वरूपा भी है—'अमृतस्वरूपा च' ॥3॥ इसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध होजाता है, अमर होजाता है, तृप्त होजाता है—'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।' यह प्रेमा-भक्ति सकाम नहीं है क्योंकि यह निरोध रूपा अर्थात् त्यागमयी है—'सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्' ॥7॥ इस प्रेमा-भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए नारदजी कहते हैं कि यह कर्म, ज्ञान और योग इन सबसे श्रेष्ठ है—'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा' ॥25॥

महर्षि शांडिल्य द्वारा कथित ईश्वर के प्रति 'परानुरक्ति' की भक्तवर तुलसी ने बड़ी ही मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है[3]–

कामिहिं नारि पिआरि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

कामार्त्त व्यक्ति के मन में जैसी तीव्र आकुलता एवं छटपटाहट होती है, वैसी ही तीव्र एवं उत्कट लालसा भक्त के मन में ईश्वर के प्रति हो—इससे बढ़कर 'परानुरक्ति' की लौकिक शब्दावली में व्याख्या नहीं की जा सकती। मीराँ इस प्रेमा-भक्ति की जीवन्त प्रतिमा है। इस विषय में भक्तों के साक्ष्य निर्विवाद एवं असंदिग्ध हैं। उदाहरणत: भक्तमाल के रचयिता नाभादास ने लिखा है[4]—

सदृश गोपिका प्रेम प्रगट, कलियुगहिं दिखायौ।
निरअंकुश अति निडर, रसिक जन रसना गायौ।

निम्बार्क सम्प्रदायी वैष्णवदास ने भी अपने 'भक्तमाल का दृष्टांत' नामक

1 शांडिल्य भक्ति-सूत्र 2.
2 नारद भक्ति सूत्र 2 (गीता प्रेस गोरखपुर) पृष्ठ 20.
3 रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 130.
4 श्री भक्तमाल, पृष्ठ 712.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ग्रन्थ में प्रियादास-कृत टीका का स्पष्टीकरण करते हुए इसी तथ्य की पुष्टि की है। इसमें मीराँबाई की प्रेम-पद्धति के विषय में यह उल्लेख है—'सदृश गोपिका प्रेम।' अर्थात् उनका प्रेम गोपिका सदृश था। राघौदास-कृत भक्तमाल में भी ऐसा ही उल्लेख हुआ है—

गोपिन की-सी प्रीति-रीति, कलिकाल दिखाई।
रसिकराइ जस गाई, निडर रही सन्त सुभाई।
नौबत भक्ति घुराई कँ, पति सो गिरधर ही सजे॥

राघौदास के उल्लेख से यह भी स्पष्ट होजाता है कि मीराँ ने पत्नी-भाव से गिरधर की आराधना की। देवर्षि नारद ने प्रेमाभक्ति के आदर्श का निरूपण करते हुए लिखा है[1]—

'भक्ति परम प्रेम स्वरूपा। यथा ब्रजगोपिकानाम्।'

भक्ति सूत्रकार के इस कथन से पता चलता है कि गोपियों के प्रेम को प्रेमा-भक्ति का आदर्श माना गया है। इसीलिए सन्तों ने मीराँ की प्रेमा-भक्ति को 'गोपिन की-सी प्रीति-रीति' कहकर अभिव्यक्त किया है।

मीराँ के अपने पद भी उसके रस-मार्गी या प्रेमा-भक्ति की उपासिका होने का ही संकेत करते हैं—

1. मीराँ सिरी गिरिधर नटनागर, भगत रसीली जांची।
2. अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेल बोई।
3. प्रेम भगति रो पैंडों म्हारो, और न जाणौं रीत।
4. जाओ निरमोहिया जाणी तेरी प्रीत।

हमारे भक्ति-शास्त्रों में भक्ति-तत्त्व का बड़ा ही सारगर्भित एवं तात्त्विक विश्लेषण-विवेचन किया गया है। वैसे तो गीता-भागवत आदि में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु ये शास्त्र के ग्रन्थ नहीं हैं। शास्त्रीय रूप में भक्ति-तत्त्व का विवेचन करने वाले ग्रन्थों में शांडिल्य-भक्तिसूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, रूपगोस्वामीकृत उज्ज्वलनीलमणि व भक्तिरसामृतसिन्धु तथा मधुसूदन सरस्वती रचित भक्ति-रसायन आदि प्रमुख हैं। इनमें भक्ति के सैद्धांतिक पक्ष का विशद एवं तलस्पर्शी विवेचन हुआ है।

साधन-भेद से किए गए भक्ति के दो भेदों—अपरा और परा में मीराँ की भक्ति परा कोटि में आती है, जो साध्य-स्वरूपा है। इसी भाँति, रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणि में भक्ति का जो विवेचन किया है, उसके अनुसार मीराँ की भक्ति 'उत्तमा' के अन्तर्गत आती है, जिसकी परिभाषा यों की गई है[2]—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।

1 नारदभक्ति सूत्र, पृ. 21.
2 भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी 1, श्लोक 9.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उत्तमा भक्ति के तीन भेदों--साधन-भक्ति, भाव-भक्ति तथा प्रेमा-भक्ति में मीराँ की भक्ति मुख्यत: तीसरी कोटि की ही है।

यहाँ भक्ति के भेदोपभेदों के शुष्क शास्त्रीय विवेचन में न पड़ मीराँ की अनूठी प्रेम-भावना में किंचित् रसमग्न होना अधिक सार्थक होगा। इसके पहले तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन की पीठिका अथवा पृष्ठभूमि का भी सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में[1]—"भक्ति-भाव का प्रारम्भ, वास्तव में सबसे पहले उत्तरी भारत में ही हुआ था। किन्तु परिस्थितियों के प्रतिकूल पड़ने पर उसे कुछ काल के लिए, दक्षिण भारत के आलवार या आचार्यों के यहाँ आश्रय ग्रहण करना पड़ा।" आगे भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख उन्नायकों का परिचय देते हुए चतुर्वेदीजी लिखते हैं[2]—

"हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत इसे सगुण रूप के साथ प्रविष्ट कराने में सबसे प्रबल हाथ प्रसिद्ध स्वामी रामानन्द एवं महाप्रभु वल्लभाचार्य का रहा, जिनके अपूर्व प्रभाव में आकर इसके भीतर भक्ति-भाव की एक अनोखी सरिता उमड़ चली। मीराँबाई के समय तक उसने प्राय: हिन्दी के सारे क्षेत्र को पूर्ण रूप से आप्लावित कर दिया। पूर्व के बंगाल प्रान्त में उसी समय श्री चैतन्यदेव का भी उदय हुआ था। उनका प्रभाव भी, एक ओर उत्कल प्रान्त से लेकर दूसरी ओर ब्रजमण्डल तक फैल रहा था। उसी प्रकार पश्चिम की ओर गुजरात में भक्त नरसी के भी पद प्रचलित हो रहे थे।"

मीराँ यद्यपि किसी सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित नहीं थी और न किसी सम्प्रदाय-विशेष का उस पर कोई प्रभाव ही था, तथापि, जैसा कि डॉ. प्रभात ने कहा है, वैष्णव भक्ति-दर्शन एवं विशेषत: "रामानन्द की प्रपत्ति, चैतन्य की माधुर्य-भक्ति एवं माधवेन्द्रपुरी की गोपाल पूजा"[3] का मीराँ की भक्ति-पद्धति पर परोक्ष-अपरोक्ष प्रभाव पड़ा था। वस्तुत: सच तो यह है कि मीराँ की प्रेमोपासना, उसकी तीव्र एवं अनन्य प्रेमाकुलता, सर्वथा अपनी थी; नितांत वैयक्तिक। भक्ति-शास्त्र में परिगणित परम्परागत उपासना–पद्धतियों के आधार पर मीराँ की गहन प्रेमानुभूति एवं उससे भी उत्कट उसकी अरुंतुद विरह-व्यथा का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। मीराँ की प्रेमानुभूति तो सर्वथा अनिर्वचनीय है, जैसा कि देवर्षि नारद ने कहा भी है—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं ।।51।। मूकास्वादनवत् ।।52।।'

शब्दों में न उसके प्रेमोन्माद को व्यक्त करने की शक्ति है, न उसके विरह की थाह लेने की सामर्थ्य। जैसा कि कह आए हैं, गिरधरलाल ही मीराँ के आराध्य हैं, प्रियतम हैं। मीराँ अपने इन्हीं गिरधरलाल के प्रेम-रस में आकण्ठ डूबी थीं। वैधव्य

1 मीराँबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 17.
2 वही, पृ. 18.
3 मीराँबाई, डॉ. प्रभात, पृ. 368.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

के फलस्वरूप जीवन में आए शून्य तथा स्वजनों की निर्मम प्रताड़नाओं ने उसे अपने गिरधर के और भी समीप ला दिया एवं उसकी सम्पूर्ण बहिर्वृत्तियाँ अब एकांतत: कृष्णमुखी होगईं। वह अहर्निश उन्हीं के ध्यान में लीन रहने लगीं। श्याम का विरह उसे प्रतिपल सताने लगा। उसका रोम-रोम कृष्ण-दर्शन के लिए व्याकुल हो उठा एवं उनके बिना विरह से व्याकुल हुई मीराँ जलोत्क्षिप्त मछली-सी छटपटाने लगी।

यह विरह ही प्रेम-तत्त्व का सार है, जिसमें प्रेमी को एक पल भी अपने प्रिय के बिना चैन नहीं पड़ता। अपने गिरधर के वियोग में व्याकुल मीराँ की दशा भी कुछ ऐसी ही थी—

घड़ी एक नहीं आवड़े, तुम दरसण बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, का सूं जीवण होय॥
धान न भावै, नींद न आवै, विरह सतावै मोइ।
घायल सी घूंमत फिरूं रे, मेरो दरद न जाणै कोइ॥

× × ×

पंथ निहारूँ, डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोइ।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होई॥

परन्तु इस प्रेम-वियोगिनी के भाग्य में सुख कहाँ? उसे प्रिय का दर्शन नहीं होता। उसकी अन्तर्व्यथा का अब क्या कहना? विरह की ज्वाला उसके सर्वांग को जलाने लगती है। श्याम, श्याम अहर्निश श्याम की रट लगाती हुई वह प्रेम-विह्वला अपनी अन्तस्थ व्यथा को कह भी नहीं पाती। कितना मर्मान्तिक रहा होगा उस विरहिणी का वह विरह-सन्ताप, जिससे सन्तप्त हो उसके प्राणों से बरबस ये बोल फूट पड़े थे—

हे री मैं तो दरद दीवानी, मेरो दरद न जाणै कोय।
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होय॥

× × ×

दरद की मारी बन-बन डोलूं, बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटै जब, बैद साँवलिया होय॥

मीराँ की इस पंक्ति—'मेरो दरद न जाणै कोय' में तो मानों युग-युग की विरहिणी नारी की अकथ्य वेदना ही घनीभूत हो उठी है!

मीराँ के पद निश्छल प्रेम-पीड़ा की ऐसी ही ऋचाएँ हैं, जिनमें कल्पना का कृत्रिम कला-विलास न हो कर अनुभूति का सच्चा आवेग है। प्रेम की निर्धूम ज्वाला में जलते प्राणों के ये सिसकते उच्छ्वास हैं!

प्रेम के लिए प्रिय का यह विरह एक प्रकार का वरदान है। विरह की वर्तिका ही प्रेम की लौ को सतत प्रज्ज्वलित रखती है, जिसके कारण एक क्षण के लिए भी प्रिय का विस्मरण नहीं होता। विरहिणी के लिए रात और दिन में कोई अन्तर नहीं। रात को सारा संसार सुख की नींद में सोया रहता है, परन्तु इस प्रेम—

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

वियोगिनी की आँखों में नींद कहाँ ? वह तो रात-रात भर जाग कर आँसुओं की माला पिरोती है, नयनों के जलते दीपों से प्रियतम की नीराजना करती है ! कैसी अनूठी है यह लगन ! कैसी अनन्य है यह साधना !—

मैं विरहणि बैठी जागूं, जगत सब सोवैरी आली ।
विरहणि बैठी रंगमहल में, मोतियन की लड़ पोवै ।
इक विरहणि हम ऐसी देखी, अंसुवन माला पोवै ।
तारा गिण-गिण रैण बिहानी, सुख की घड़ी कब आवै ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, मिल कर बिछुड़ न जावै ।

परन्तु हाय ! वह सुख की घड़ी आई नहीं । पावसागम पर प्यासे पपीहे को स्वाति की बूंद मिल गई । निदाघ से तापित धरित्री भी सावन की सरस फुहार पाकर धन्य होगई, किन्तु श्याम के वियोग में तड़पती मीराँ के प्राणों की प्यास नहीं बुझी । उसकी आँखों की नींद जाती रही । प्रिय की प्रतीक्षा करते-करते ही बैरिन रात बीतती—

सखी मेरी नींद नसानी हो ।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो ।

वियोग में प्रिय का संदेश ही प्रेमियों का एकमात्र संबल होता है, जिसके सहारे वे वियोग की दुखद घड़ियाँ काट लेते हैं पर मीराँ तो इस सौभाग्य से भी वंचित रही । कृष्ण न तो आते हैं और न अपने आगमन का सन्देश ही भेजते हैं । श्याम की इसी निष्ठुरता पर खीझ कर मीराँ पुकार उठती है—

कोई कहियो रे प्रभु आवन की ।
आवन की, मन भावन की, कोइ कहियो रे............
आप न आवैं, लिख नहीं भेजै, वाण पड़ी ललचावन की ।
ए दोइ नैण कह्यो नहिं मानै, नदिया वहै जैसे सावन की ।

× × ×

मीराँ कहे प्रभु ! कबरे मिलोगे, चेरी भइ हूँ तेरे दांवन की ।

प्रिय-दर्शन के लिए कातर हुई मीराँ बारम्बार अनेक पदों में उन्हें दर्शन देने के लिए अनुरोध करती है । उसके इस अनुनय से ही उसकी अन्तस्थ व्यथा, उसकी तड़पन का अन्दाज लगाया जा सकता है—

प्यारे दरसण दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय ।
जल बिनु कँवल, चंद बिनु रजनी, ऐसे तुम देख्यां बिनु सजनी ।
आकुल व्याकुल फिरूं रैण दिन, बिरह कलेजो खाय ।

× × ×

क्यूं तरसावो अन्तरजामी, आय मिलो किरपा कर स्वामी ।
मीराँ दासी जनम-जनम की, परी तुम्हारे पाय ।

'क्यूं तरसावो अन्तरजामी' में अनुनय कितना कारुणिक है ! 'जनम-जनम की दासी' में प्रेम की किस अखण्ड, अटूट एवं अनन्य भावना का निवेदन है !

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ सचमुच प्रेमोन्मादिनी थी ! कृष्ण के दिव्य और अलौकिक प्रेमोन्माद में डूबी हुई। उस प्रेमोन्मादिनी का वह कैसा अपूर्व प्रेमोन्माद था कि श्याम के ध्यान में तन्मय होने पर वह अपनी सब सुध-बुध खो बैठती थी। अपने सर्वान्तःकरण से प्रियतम के चरणों में समर्पित हुई मीराँ तब हर्ष-विभोर हो नाच उठती थी—

पग घुँघरू बाँध मीराँ नाची, रे।
मैं तो मेरे नारायण की, होगई आपहिं दासी रे।
लोग कहे मीराँ भइ बावरी, न्यात कहै कुल नासी रे।
× × ×
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, सहज मिले अविनासी रे।

उस नृत्य की एक-एक ताल पर शत-शत कैवल्य न्योछावर होते थे। नूपुरों की एक-एक झंकार पर भक्ति की अनन्त सम्पदाएँ चरणों में लौटती थीं। उस प्रेमदीवानी के मृत्युञ्जयी अधरों के स्पर्श से जीवन का गरल भी अमृत बन गया था। भगवती पार्वती की भाँति उस प्रेमोन्मादिनी का वह प्रणय-लास्य भी कुछ ऐसा ही अपूर्व था !

प्रिय का यह विरह तब और भी उद्दीप्त हो उठता है जब आकाश में सावन के बादल उमड़ने लगते हैं एवं अपनी प्रिया सौदामिनियों को परिरंभ में भरे मन्द-मधुर गर्जन करने लगते हैं। ऐसे में प्रियतम के आवागमन की भनक पड़ने पर मीराँ हर्ष से फूली नहीं समाती—

झुक आई रे बदरिया सावन की
सावन की, मन भावन की, झुक आई रे.......
सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की।
× × ×
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर आनंद-मंगल गावन की।

प्रियतम की मिलन-वेला से बढ़कर आनन्द-मंगल की शुभ घड़ी और क्या हो सकती है ! प्रिय के आगमन के साथ मीराँ के जन्म-जन्मान्तर सफल होजाते हैं। हर्ष-विभोर मीराँ जोषी (ज्योतिषी) को लाख-लाख बधाइयाँ देती है। स्पष्ट ही ये मिलन-स्थितियाँ काल्पनिक हैं, जो भावोन्माद की दशा में मीराँ के प्राणों की उल्लास भरी अभिव्यक्तियाँ हैं। फागुन के एक ऐसे ही गीत में मीराँ का मनोल्लास इन शब्दों में फूट पड़ा है—

फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की झणकार रे।
बिन सुर राग छतीसूं गावै, रोम-रोम रंगसार रे।
× × ×
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवल बलिहार रे।

मीराँ के इन पदों में राजस्थानी संस्कृति व परम्पराओं की भी अनायास सुन्दर व्यंजना होगई है। तीज और गणगौर राजस्थान के सर्व-प्रमुख सांस्कृतिक

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

त्योहार हैं—प्रेमियों के अनूठे अनुराग पर्व ! न जाने कौनसा आकर्षण भरा है इन पर्वों में कि हर प्रवासी प्रियतम इस अवसर पर अपनी प्रिया से मिलने हेतु घर लौट आने के लिए आकुल हो उठता है। मीराँ भी 'रसीली गणगौर' आने पर अपने प्रियतम गिरधरलाल का आह्वान करती है, जो राजस्थान की सांस्कृतिक परम्पराओं के सर्वथा अनुरूप है।

कभी मीराँ अपने 'गिरधारी' की सेविका होने की कामना करती है तथा निरन्तर उनकी परिचर्या में लीन रहते हुए एकमात्र उनका दर्शनलाभ पाने में ही अपने जीवन की चरम सार्थकता समझती है। मीराँ के प्रणय-भाव में दास्य-भाव भी स्वभावतः अंतर्मुक्त है। मीराँ गिरधरलाल की चाकरी की प्रार्थना करती हुई कहती है—

मने चाकर राखोजी, गिरधारी मने चाकर राखोजी।
चाकर रहस्यूं बाग लगास्यूं, नित उठ दरसण पास्यूं।
बिन्द्रावन की कुंज गलिन में तेरी लीला गास्यूं।

कभी मीराँ अपने आराध्य को 'जोगिया' के नाम से पुकारती है, जिससे उसका आशय अपने प्रियतम गिरधरलाल से ही है। उन्हें ही मीराँ प्रीतिवश उपालंभ में 'धूतारा जोगी' (धूर्त योगी) आदि सम्बोधनों से पुकार बैठती है। प्रेम-मनोविज्ञान के अनुसार ये उपालंभ प्रीति के आधिक्य की ही व्यंजना करते हैं।

प्रिय के आगमन-पूर्व का विरह तो असह्य होता ही है, मिलन के पश्चात् तो वह बिछोह और भी दारुण होजाता है। दीर्घ प्रतीक्षा के उपरान्त आए हुए प्रियतम का जाना तो मानो विरहिणी के लिए मरणान्तक पीड़ा का कारण बन जाता है। एक ऐसे ही पद में मीराँ अपने आराध्य को छोड़कर न जाने का कातर अनुनय करती हुई पुकार उठती है—

जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाँइ परूँ मैं तेरे।
प्रेम-भगति को पैंडो ही न्यारो, हम कूं गैल बताजा।
अगर चन्दन की चिता बणाऊँ, अपणे हाथ जला जा।
× × ×
मीराँ कहै प्रभु गिरधर नागर, जोत में जोत मिला जा।

कितनी करुणा, कितना दर्द भरा है इस गीत की कड़ी में ! विरह से व्याकुल नारी-हृदय की सम्पूर्ण व्यथा ही जैसे तरल होकर इस गीत के स्वरों में छलक पड़ी है।

प्रेमी चाहता है कि उसकी चिता भी उसके प्रिय के ही हाथों से प्रज्ज्वलित हो ताकि मरण में भी वह प्रियतम के अन्तिम कर-स्पर्श-जन्य गौरव से वंचित न हो। मीराँ का प्रेम इसी अनन्य आत्म-समर्पण की उदात्त भावना से प्रेरित है। लौकिक प्रेम की तीव्रता एवं उत्कटता से युक्त होता हुआ भी यह उसकी स्थूलता एवं ऐन्द्रिकता से सर्वथा मुक्त है। यह भावना के उस उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित है, जो लोकोत्तर और अतीन्द्रिय है। उस दिव्य भावोन्माद की दशा में मीराँ कभी मिलन के गीत गाती है, तो कभी विरह के। परन्तु मीराँ के काव्य का मूल स्वर

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विरह ही है। प्रेम की लगन लगाकर भी उसका प्रियतम दर्शन नहीं देता। मीराँ के धैर्य का बाँध तब टूट जाता है। वह उसे पुकारती हुई बिलख उठती है—

ऐसी लगन लगाइ कहाँ तू जासी।
तुम देखे बिन कल न परति है, तलफि-तलफि जिव जासी।
तेरे खातिर जोगण हूँगी, करवत लूँगी कासी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, चरण—कँवल की दासी।

कहाँ तक गिनाएँ? मीराँ के पद उसके विरह- दग्ध हृदय के ही सहज स्वाभाविक उद्‌गार हैं। इसीलिए उसकी निश्छल प्रेम—व्यजना बरबस हमारे प्राणों को छू लेती है।

मीराँ के पदों में कृष्ण के अवतारी एवं लोकोपकारक स्वरूप का भी चित्रण हुआ है जिनमें अपने जन्म-जन्मान्तरों के आराध्य स्वामी से मीराँ अपने उद्धार की प्रार्थना करती है—

तुम सुणो दयाल म्हाँरी अरजी।
भवसागर में बही जात हूँ, काढो तो थाँरी मरजी।

वह भगवान् को उनके लोकहितकारी एवं शरणागतवत्सल रूप का भी स्मरण दिलाती है—

हरी तुम हरो जन की भीर।
द्रोपदी की लाज राखी, तुरत बढ़ायो चीर।

कहीं संसार की नश्वरता पर अवसाद और विरक्ति भरे उद्‌गार हैं, जिनमें मानव जन्म की दुर्लभता का चित्रण करते हुए मीराँ इसे भगवद्‌भक्ति द्वारा सार्थक करने का सन्देश देती है—

नहीं ऐसो जनम बारम्बार
का जानूं कछु पुण्य प्रगटे, मानुसा अवतार।

परन्तु मीराँ के अधिकांश पद प्रणय-मूलक ही हैं जिनमें आधिक्य विरह-भाव-गर्भित पदों का है। भाव-व्यंजना की दृष्टि से भी वे अधिक मार्मिक हैं। नारी-हृदय की तरल व्यथा और करुणा से संयुक्त हो उसका विरह-निवेदन लोकोत्तर प्रेम का विश्वजनीन विहाग होगया है; कृष्ण-प्रेम में आकुल आत्मा का चिरन्तन आलाप!

जीवन के अन्तिम क्षण में भी जब वह अपने आराध्य के समक्ष प्रस्तुत हुई, उसके प्राणों से यही मर्म भरी पुकार निकली—

सजन सुध ज्यूं जाणै त्यूं लीजे हो।
तुम बिन मोरे और न कोई, क्रिपा रावरी कीजे हो।
दिन नहीं भूख रैन नहिं निंदरा, यूं तन पल-पल छीजै हो।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, मिल बिछड़न मत कीजै हो॥

और निश्चय ही मीराँ कृत-काम होगई! उसकी जन्म-जन्मान्तरों की साध पूरी हुई। वह अपने प्रियतम के चिर सामीप्य को प्राप्त हुई! जीवन भर जिस प्रिय की विरह-ज्वाला में वह दग्ध रही, वह उसे मरणोत्तर ही प्राप्त हुआ!

मीराँ, कृष्ण-प्रेम में जलती विरह की एक ऐसी ही वर्तिका थी, जिसका ज्वलन ही उच्छ्‌वास बन कर उसके गीतों में फूट पड़ा तथा जो उसी उच्छ्‌वसित संगीत की आग अपने प्राणों में दबाए गीत-गाती ही प्रिय चरणों में निशशेष हो गई!!

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

4

मीराँ-पदावली की भाषा

मीराँ-पदावली के भाषा-रूप को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इस मतभेद का मूल कारण है मीराँ-पदावली के प्रामाणिक पाठ के विषय में निर्णय न हो पाना। दूसरे शब्दों में, मीराँ की भाषा का प्रश्न वस्तुतः मीराँ-पदावली के पाठालोचन के साथ जुड़ा हुआ है एवं जब तक मीराँ-पदावली के प्रामाणिक पाठ की समस्या हल नहीं हो जाती, तब तक मीराँ की भाषा का प्रश्न भी अनिर्णीत ही बना रहेगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि मीराँ की अद्यावधि प्रकाशित पदावलियों में कोई भी प्रामाणिक नहीं है, वरन् यह कि मीराँ की पदावली के जो विभिन्न संग्रह अब तक निकल चुके हैं, उनमें भाषागत एकरूपता नहीं है। और तो और, श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित पदावली के पूर्व संस्करण एवं डाकोर की प्रति के आधार पर सम्पादित उसके परवर्ती संस्करण में ही रात-दिन का अंतर है। इसी भाँति, पद्मावती शबनम द्वारा सम्पादित 'मीराँ बृहत् पद संग्रह' में संकलित पदों में ब्रज, राजस्थानी और गुजराती भाषा के पदों के अतिरिक्त पंजाबी व अनेक मिश्रित भाषाओं के भी पद हैं। यही हाल अन्य पदावलियों का है। समस्या तब और भी जटिल होजाती हैं, जब इनमें अनेक पद थोड़े बहुत रूपान्तर के साथ सभी भाषाओं में मिल जाते हैं। ऐसी स्थिति में, मीराँ-पदावली का कौन-सा पाठ प्रामाणिक माना जाए ? यही नहीं, गुजराती भाषा में भी मीराँ की पदावली के अनेक संकलन निकल चुके हैं एवं गुजराती भाषी-जन मीराँ पर अपना उतना ही अधिकार समझते हैं, जितना राजस्थानवासी, और उनका यह समझना अकारण नहीं है। फिर ब्रज-भाषी-जन भी अपने दावे में किसी से पीछे रहने वाले नहीं हैं। इस भाषागत अनैश्चित्य से छुटकारा पाने के लिए कुछ विद्वानों ने यह सरल निष्कर्ष निकाल लिया कि मीराँ की वाणी त्रिवेणी के समान ब्रज, राजस्थानी व गुजराती, इन तीनों ही धाराओं में बही। कुछ ने, अपनी प्रान्तीय भाषा का मोह संवरण न कर पाने के कारण किसी एक भाषा-विशेष के पक्ष में ही अपना निर्णय दे दिया। तात्पर्य यह कि पदावली के प्रामाणिक पाठ-निर्णय के अभाव में मीराँ की भाषा का प्रश्न विद्वानों की वैयक्तिक अभिरुचि का ही प्रश्न रह गया। इस वैयक्तिक रुचि के निर्धारण में विद्वानों की उर्वर कल्पना ने भी भरपूर सहयोग दिया एवं कहीं-कहीं तो भावुकता के आवेश में पाठ-निर्णय की कुछ ऐसी भ्रान्त और विचित्र कसौटियाँ भी कायम करदी गईं, जिनकी मीराँ-साहित्य के एक अधिकारी विद्वान् से आशा नहीं

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की जा सकती थी। मीराँ-पदावली के पाठ-ग्रहण के विषय में अपने आधारभूत सिद्धान्त का निरूपण करते हुए डॉ. श्रीकृष्णलाल लिखते हैं—

"आज मीराँ के नाम से सैकड़ों पद मिलते हैं, वे सभी उस मधुर भाव की प्रतिमा मीराँ की रचनाएँ नहीं हैं, वरन् मीराँ की भक्ति-भावना के प्रति श्रद्धा रखने वाले एक समुदाय की रचनाएँ हैं, जिनमें मीराँ प्रतीक-रूप में विद्यमान है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से मीराँ के नाम से प्रसिद्ध अधिकांश पद अप्रामाणिक अवश्य हैं, परन्तु भावना की दृष्टि से उन सभी पदों को मीराँ की रचना मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि प्रतीक-रूप से वे मीराँ की ही रचनाएँ हैं, केवल शब्द रचना मीराँ की नहीं है।"[1]

यह प्रतीक-रूप में विद्यमानता क्या वस्तु है? मीराँ की अपनी शब्द-रचना न होने पर भी उसे केवल भावनात्मक दृष्टि से मीराँ-रचित मान लेने का यह कौन-सा शास्त्रीय सिद्धान्त है? फिर तो मीराँ ही क्यों, सभी संदिग्ध कवि-कृतियों को इस भावनात्मक औदार्य से कृतार्थ किया जाना चाहिए ताकि हिन्दी-काव्य में पाठालोचन सम्बन्धी सब समस्याओं का सदा के लिए समाधान होजाए! भला प्रक्षेप की समस्या को हल करने का इससे सरल और अचूक उपाय दूसरा क्या होगा?

ऐसी स्थिति में, मीराँ-पदावली के प्रामाणिक पाठ-निर्णय की समस्या का, जो प्रकारान्तर से मीराँ की भाषा की ही समस्या है, जटिल हो जाना स्वाभाविक ही है। सच पूछा जाए तो मीराँ की भाषा को विवादास्पद बनाने का श्रेय हमारे इन हिन्दी के विद्वानों को ही है, जिन्होंने राजस्थान की मध्ययुगीन भाषा-स्थिति के सन्दर्भ में मीराँ-पदावली का मूल्यांकन किए बिना ब्रज-भाषा में सम्प्रति उपलब्ध रूपान्तरों को ही मीराँ का प्रामाणिक भाषा-रूप मान लिया तथा उसके आधार पर अपना फतवा दे बैठे। तद्विपरीत, हम उन गुजराती-भाषी विद्वानों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं, जिन्होंने प्रान्तीय भावनाओं से ऊपर उठकर तत्कालीन भाषा-स्थिति को ध्यान में रखते हुए तटस्थ बुद्धि एवं विशुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से मीराँ-पदावली का विवेचन-परीक्षण किया है तथा उसके आधार पर यह निर्णय दिया है कि मीराँ के पद गुजराती भाषा में उपलब्ध होने पर भी वस्तुतः मीराँ की मूल पद-रचना की भाषा तत्कालीन मारवाड़ी या पश्चिमी राजस्थानी ही थी, जो कि मीराँ की मातृ-भाषा थी। प्रस्तुत लेखक की भी ठीक यही मान्यता है। जहाँ तक मीराँ के पदों के गुजराती भाषा में उपलब्ध होने का प्रश्न है, उसका एक कारण यह भी है कि मीराँ के समय तक पश्चिमी राजस्थानी (अर्थात् मारवाड़ी) एवं गुजराती का भाषागत विभेद इतना अधिक स्पष्ट नहीं हुआ था जितना आज है।

अतः हमारी यह सुनिश्चित धारणा है कि मीराँ ने अपनी मूल काव्य-रचना अपनी मातृ-भाषा, अर्थात् बोलचाल की मारवाड़ी या तत्कालीन लोक-भाषा में ही

1 मीराँबाई—डॉ. श्रीकृष्णलाल, पृ. 82.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की थी, जिसे हम मध्यकालीन राजस्थानी या पश्चिमी राजस्थानी की संज्ञा भी दे सकते हैं। मूल मीराँ-पदावली की भाषा वही है। इस सम्वन्ध में, हमें यह स्मरण रखना होगा कि मीराँ के पद अपनी उत्कट प्रेमानुभूति एवं सरल व निश्छल भावाभिव्यंजना के कारण जन-जन के कंठहार बन गये थे। यही कारण है कि घूमते-फिरते फक्कड़ साधुओं और भक्त-मण्डलियों ने उन्हें गा-गा कर देश के विविध प्रान्तों में पहुँचा दिया, जहाँ वे वहाँ की प्रान्तीय भाषाओं में ढल-ढल कर अपना मूल स्वरूप छोड़ बैठे। हमारी समझ में मीराँ के पदों का गुजराती, वंगला, पंजावी, व्रज आदि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में उपलब्ध होना इसी तथ्य का सूचक है। इससे मेरा यह तात्पर्य नहीं कि गुजराती, व्रज आदि में उपलब्ध मीराँ के पद सर्वथा निर्मूल हैं, प्रत्युत मेरी यह मान्यता है कि वे मीराँ द्वारा मूल राजस्थानी भाषा में रचित पदों के ही प्रांतीय रूपान्तर हैं, ठीक उसी रूप में मीराँ-रचित नहीं हैं। अर्थात् वे रूपांतरित प्रतिकृति की दृष्टि से, आंशिक रूप में प्रामाणिक कहे जा सकते हैं, मूल पद-रचनागत भाषा की दृष्टि से नहीं। भाषा की दृष्टि से तो मीराँ-पदावली के वे ही पद प्रामाणिक माने जाने चाहिए, जिनमें उनका मूल राजस्थानी भाषा-निबद्ध रूप सर्वाधिक सुरक्षित रह सका है; अथवा दूसरे शब्दों में, जो तत्कालीन मारवाड़ी या राजस्थानी भाषा के निकटतम हैं। यह प्राचीन मारवाड़ी अथवा तत्कालीन राजस्थानी भाषा ही मीराँ की पद-रचना की मूल भाषा थी, इस तथ्य को हमें निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए। यों अपने उन्नत संस्कारों, विविध प्रांतों के सन्तों और भक्तों के सतत साहचर्य एवं वृन्दावन तथा द्वारिकावास के कारण मीराँ के पदों में अन्य भाषाओं व सम्प्रदायों के शब्दों का यत्र-तत्र समावेश होजाना स्वाभाविक ही है। साथ ही, इस सम्पर्क-जन्य प्रभाव के कारण कहीं-कहीं उनकी पद-रचना का स्वरूप पूर्णतः बदल जाना भी आश्चर्यजनक नहीं। किन्तु मीराँ के पदों का मूल स्वर राजस्थानी ही है, जिसकी पुष्टि प्रायःसभी अधिकारी विद्वानों ने की है। अतः मीराँ के पदों की प्रामाणिकता पर विचार करते समय हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा।

यहाँ मीराँ की भाषा के सम्वन्ध में व्यक्त किए गए कुछ प्रमुख विद्वानों के मतों का उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा ताकि पाठकों को हमारी उपर्युक्त मान्यता के सन्दर्भ में अपने निष्कर्ष निकालने में सुविधा हो। साथ ही, उन्हें मीराँ के भाषा-विषयक विवाद एवं तत्सम्बद्ध मत-वैभिन्न्य का भी किंचित् परिचय मिल सके।

(1) **डॉ. मंजुलाल मजमुदार** का मत है—"जन्म थी मारवाड़ी, लग्न-करण थी मेवाड़ी, वृन्दावन ना वसवाट थी व्रजवासी, उत्तरकाल मां द्वारकावासी थवाने कारणे, मीराँबाई नां पदोमां जुदी-जुदी भापानी छाँट देखाय छे, **मीराँ ना पदोनी असली भाषा मारवाड़ी राजस्थानी छे,** अने बहुधा ते समय ना पश्चिम हिन्दनी व्यापक भाषा 'जूनी पश्चिम राजस्थानी' कहेवाय छे।"[1]

1 मीराँबाई : एक मनन; डॉ. मंजुलाल मजमुदार, पृ. 84.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

(2) गुजरात के ही एक अन्य विद्वान् श्री हींमतलाल अंजारिया लिखते हैं—

"मीराँबाई नी भाषा 'वर्तमान गुजराती' न होय अेमां नवाई न थी, छतां मीरांना घणां पदो हालनी गुजराती भाषा मां मला आवे छे, तेनो अर्थ एटलो ज के कंठ-परंपरा थी ऊतरी आवेलां पदोनी भाषा, समयानुसार स्वरूप बदलती गई; अने तेथी तेनुं हालनुं स्वरूपज आपण ने मल्युं छे।"[1]

(3) मीराँ के पदों के गुजराती में उपलब्ध होने के कारणों की मीमांसा करते हुए डॉ. तारापूरवाला लिखते हैं—

"Miran is claimed by Gujrat, Rajputana and the whole of the Mathura region, But, as during the century in which she lived, there was only one language in these parts, Old Gujrati or Old Western Rajasthani, it is no wonder that her pada's are now found in all the different vernaculars have taken the place of that language."[2]

(4) प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् एवं यशस्वी उपन्यासकार श्री कन्हैयालाल माणकलाल मुंशी का मत भी अवलोकनीय है, जिसका हिन्दी रूपांतर निम्न-लिखित है—

"मीराँ गुजराती तो नहीं ही थी, उनके पद भी गुजराती में नहीं लिखे गए थे, यह मत वास्तविक लगता है। इधर इनके नाम से प्रचलित पदों में से कितने इन्हीं के हैं, यह निश्चित कर पाना भी कठिन है। परन्तु यह सत्य है कि गुजरात में शुद्ध भक्ति का जितना प्रचार मीराँ के पदों द्वारा हुआ, उतना नरसी के पदों से भी नहीं हो सका।"

(5) डॉ. जगदीश गुप्त ने गुजराती व ब्रज-भाषा-कृष्ण-काव्य का अच्छा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका मत है—

"वस्तुतः मीराँ के पदों की भाषा का स्वरूप बहुत ही अनिश्चित है। डाकोर वाली प्रति में उनके पदों की भाषा शुद्ध राजस्थानी है, जबकि 'बृहत् काव्य दोहन' में संगृहीत सौ से अधिक पद गुजराती के हैं। मीराँ की पदावली जैसे संग्रहों में ब्रजभाषा के भी शताधिक पद मिलते हैं। डाकोर की प्रति सं. 1642 की बताई जाती है। अतएव यदि वह प्रामाणिक है तो उनके पदों की भाषा राजस्थानी ही रहती है।"[3]

(6) प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुसार, मीराँबाई शुद्ध राजस्थानी (मारवाड़ी) की ही कवयित्री हैं। उनके मत का सार अग्रांकित वाक्य में आ गया है—

1 श्री हींमतलाल अंजारिया : 'साहित्य प्रवेशिका' (1922) पृ. 6.
2 *Dr. I. J. S. Taraporewala* : "Studies from Gujrati Literature, vol. I" Introduction, XIII (Calcutta University, 1924.)
3 'गुजराती और ब्रजभाषा-कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन। —डॉ. जगदीश गुप्त

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

"शुद्ध राजस्थानी (मारवाड़ी) के कुछ कवि अपने भावों के महत्त्व के कारण समग्र भारत के होगए हैं, जैसे मीराँबाई। मीराँ की रचना समग्र उत्तर भारत में इतनी लोकप्रिय बनी कि धीरे-धीरे इसकी शुद्ध राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा परिवर्तित होकर शुद्ध हिन्दी की ओर झुकी; अन्त में शुद्ध हिन्दी ही हो गई। राजस्थान के कवि हिन्दी ही के गिने गए।"[1]

डॉ. चटर्जी का अन्तिम वाक्य बड़ा महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित है।

(7) डॉ. हीरालाल माहेश्वरी का मत है—"मीराँ का अधिकांश जीवन राजस्थान में बीता। वह वहीं जन्मी और ब्याही गई। केवल जीवन के अन्तिम दिन गुजरात में बीते। उसकी वृन्दावन-यात्रा अथवा वहाँ निवास निराधार है। इस कारण शुद्ध गुजराती, शुद्ध पंजाबी और शुद्ध भोजपुरी भाषाओं में मिलने वाले पद अपने वर्तमान रूप में कदापि मीराँ के नहीं हो सकते। शुद्ध ब्रज-भाषा के पद भी संदेहास्पद ही हैं। अधिक से अधिक ऐसे पदों में मीराँ की भावना कुछ न कुछ रूप में भले ही सुरक्षित हो। मीराँ की भाषा राजस्थानी थी।"[2]

(8) राजस्थानी के प्रसिद्ध विद्वान् श्री नरोत्तमदास स्वामी मीराँबाई की कविता की भाषा तो राजस्थानी मानते हैं, परन्तु वे उसमें ब्रजभाषा का मिश्रण भी स्वीकार करते हैं—

"मीराबाई की कविता की भाषा राजस्थानी है, जो पश्चिमी हिन्दी का एक प्रधान विभाग है।..........मीराँबाई की भाषा में ब्रजभाषा का मिश्रण बहुत है। गुजराती की विशेषताएँ भी अनेक स्थानों पर पाई जाती हैं। पंजाबी, खड़ी बोली, पूरबी आदि का आभास भी कई स्थानों पर मिलता है। उनके अनेक पद शुद्ध गुजराती में भी पाये जाते हैं पर इसमें सन्देह है कि वे उनके ही बनाये हुए हैं।"[3]

(9) श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार—"मीराँबाई की पदावली उनके फुटकर पदों का संग्रह मात्र है और प्रत्येक पद की भाषा एक ही प्रकार की नहीं है। उसमें बहुत से पद ऐसे हैं, जो राजस्थानी में और कुछ की भाषा ब्रज-भाषा या गुजराती कही जा सकती है। किन्तु अधिकांश में राजस्थानी, ब्रजभाषा, गुजराती अथवा कहीं-कहीं पंजाबी, खड़ी बोली एवं पूरबी तक का न्यूनाधिक सम्मिश्रण है।"[4]

(10) गुजराती के प्रसिद्ध विद्वान् झवेरचंद मेघाणी के अनुसार मीराँ की भाषा शुद्ध राजस्थानी थी, जो लोकप्रियता व पदों की कंठ-परम्परा के कारण धीरे-धीरे परिवर्तित होती गयी।[5]

1 राजस्थानी भाषा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या।
2 राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ 325.
3 मीराँ-मन्दाकिनी : नरोत्तमदास स्वामी, पृष्ठ 15-16.
4 मीराँबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 60.
5 मरु भारती, वर्ष 3, अंक 3, अक्टूबर 1955, राजस्थानी भाषा।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

(11) राजस्थानी के प्रसिद्ध विद्वान् **डॉ. मोतीलाल मेनरिया** के मतानुसार—"मीरांबाई ने व्रजभाषा और राजस्थानी दोनों में कविता की है। इनके कुछ पद व्रजभाषा में और कुछ राजस्थानी में हैं।"[1]

(12) **डॉ. श्रीकृष्णलाल** का मत है—"मीरांबाई के पद वर्तमान रूप में तीन विभिन्न भाषाओं में मिलते हैं। कुछ पदों की भाषा पूर्ण रूप से गुजराती है और कुछ की शुद्ध व्रज-भाषा है; शेष पद राजस्थानी में पाये जाते हैं, जिनमें व्रज-भाषा का भी पुट मिला हुआ है। पता नहीं मीराँ के मूल पद किस एक अथवा किन-किन भिन्न भाषाओं में लिखे गये थे, परन्तु इस समय उनमें स्पष्ट तीन भाषायें हैं।"[2]

(13) लोक-साहित्य के मर्मज्ञ एवं हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् **डॉ. सत्येन्द्र** का मत है—"मीराँ का कृतित्व लोकभूमि के बहुत निकट था। अतः प्रत्येक क्षेत्र में मीराँ के पदों की भाषा उस क्षेत्र की ही भाषा होगई है। फिर भी राजस्थानी उनकी जन्म-भूमि मेड़ता की भाषा थी; गुजरात में वे रही थीं, अतः गुजराती पर भी उनका अधिकार हो सकता है। व्रजभाषा इस युग में सर्वत्र सामान्य भक्ति की भाषा थी। इन तीनों में ही उन्होंने अपने पद रचे हों, यह असम्भव नहीं। हम उन्हें व्रज-भाषा का भी कवि मानते हैं।"[3]

(14) मीराँ-काव्य पर शोध-प्रवन्ध के लेखक **डॉ. प्रभात** ने मीराँ द्वारा प्रयुक्त भाषा के विषय में अपना निष्कर्ष इन शब्दों में रखा है—

"उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मीराँ की भाषा के संभावित रूप निम्नांकित हैं—

(1) व्रज-भाषा का विक्रम की 16वीं शती का साहित्यिक रूप।
(2) प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का साहित्यिक रूप, जो गुजरात और मारवाड़ में प्रचलित था।
(3) सं. 1600 के आसपास मीराँ की मातृभाषा मारवाड़ी का लोक प्रचलित रूप।"[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से पाठकों को यह अनुमान करने में कठिनाई नहीं होगी कि मीराँ की भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में कितना तीव्र मतभेद है एवं मीराँ-पदावली के प्रामाणिक भाषा-रूप की समस्या हल न होने के कारण किस प्रकार भाषा का प्रश्न भी अनिर्णीत एवं विवादास्पद बना हुआ है।

यहाँ उपर्युक्त मतों की समीक्षा में न उलझ मैं अपनी पूर्व स्थापित मान्यता को फिर दुहराऊँगा कि मीराँ के पदों की मूल भाषा, उनकी मातृभाषा अर्थात् तत्कालीन मारवाड़ी का लोक-व्यवहृत रूप अथवा पश्चिमी राजस्थानी ही है। मीराँ

1 राजस्थान का पिंगल साहित्य : डॉ. मेनारिया, पृष्ठ 65.
2 मीरांबाई—डॉ. श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ 168.
3 व्रज साहित्य का इतिहास—डॉ. सत्येन्द्र, पृष्ठ 248.
4 मीरांबाई, डॉ. प्रभात, पृष्ठ 445.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

के गुजराती में उपलब्ध पदों के विषय में स्वयं गुजराती के विद्वानों के अभिमत ही स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त है । अतः उस विषय पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं ।

रहा मीराँ के पदों का व्रज-भाषा में रचित होने का प्रश्न, इस विषय में हमें सर्वप्रथम यह निर्णय करना होगा कि मीराँ-पदावली के किस संग्रह या संकलन को प्रामाणिक माना जाये, क्योंकि मीराँ के वास्तविक भाषा-रूप का निर्णय उनकी पदावली की प्रामाणिकता के प्रश्न को हल किये बिना सम्भव नहीं है ।

मीराँ की पदावलियाँ

इस सम्बन्ध में, जैसाकि डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने लिखा है--"पदावलियों के सम्पादकों में, केवल तीन विद्वानों ने हस्तलिखित प्रतियों के आधार की बातें कहीं हैं । ये हैं--श्री नरोत्तमदास स्वामी, श्री उदयसिंह भटनागर तथा श्री ललिताप्रसाद सुकुल ।"[1]

डॉ. माहेश्वरी के अनुसार इनमें स्वामीजी की 'मीराँ-मन्दाकिनी' अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है,[2] जो स्वामी जी के कथनानुसार 19वीं शताब्दी विक्रम की लिपिबद्ध एक हस्तलिखित प्रति पर आधारित है । इसमें संकलित पद हिन्दी-गुजराती की प्रायः सभी बहु-प्रचलित पदावलियों में भी किंचित रूपान्तर के साथ मिल जाते हैं । श्री भटनागर द्वारा संगृहीत 55 पद भी कुछ हेर-फेर और पाठान्तरों के साथ अन्य पदावलियों में प्राप्त हैं । रहे सुकुल जी, इनके विषय में डॉ. माहेश्वरी लिखते हैं कि उन्होंने "दो प्रतियों (संवत् 1642 की डाकोर की प्रति तथा संवत् 1727 की काशी की प्रति) के आधार पर 'मीराँ-स्मृति-ग्रन्थ' में मीराँ की 'पदावली' दी है । पर खेद है, इसका कोई प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। तथाकथित 'पदावली' को देखने पर पता चलता है कि उसकी भाषा बिल्कुल भ्रान्त है । उसमें व्याकरण की भद्दी भूलों की भरमार है ।"[3]

डॉ. माहेश्वरी के मत से हम पूर्णतः सहमत हैं । आगे डॉ. माहेश्वरी ने युक्ति-युक्त तर्कों एवं व्याकरण के नियमों के आधार पर उक्त डाकोर की प्रति की अप्रामाणिकता सिद्ध करदी है । उनकी टिप्पणी को हम अविकल रूप से उद्धृत करना चाहेंगे । वे लिखते हैं—

(1) शब्द के आदि का 'न' राजस्थानी में कभी 'ण' में नहीं बदलता, किन्तु इस पदावली में जगह-जगह ऐसे प्रयोग पाए जाते हैं—

(क) आली म्हाँणे लागां वृन्दाबण णीकां (पद 8)
(ख) पिया थारे णाम डभाणी जी (पद 25)
(ग) साँवरो णंदणण्दण दीठ पड्यां माई (पद 85) ।

(2) यद्यपि राजस्थानी में बहुधा संस्कृत शब्दों के 'न' को 'ण' कर दिया जाता है, तथापि मन, कनक, जनम, तन, नंभ आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जिनमें यह

1 राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ 322, डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ।
2 वही, पृष्ठ 343.
3 वही, पृष्ठ 323.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

परिवर्तन नहीं होता।[1] पदावली में जगह्-जगह ऐसा प्रयोग है—

(क) म्हारो मण साँवरो णाम रट्यां री।

(ख) जणम जणम दीखताँ पुराणी णामां स्याम मट्यां री।

(ग) वादड़ां णभ छाया।

(3) 'ल' अथवा 'ल' का विना किसी अर्थ-संगति के 'ड़' किया गया है—

गोपाल, गोपाल का गोपाड़ (पद 1)

अबला का अवड़ा (पद 91)

वल का वड़ (पद 91)

मुरलियां का मुरड़ियां (पद 94)

मोल का मोड़ आदि।

इससे कभी-कभी अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिए ऊपर के चार शब्द देखे जा सकते हैं।

'वल' (बल) का अर्थ है ताकत, शक्ति अथवा किसी वस्तु का टेढ़ापन, जबकि 'वड़' एक वृक्ष-विशेष को कहते हैं।

(4) विना किसी अर्थ-संगति के तालव 'श' मूर्धन्य 'स' का एक ही वाक्य में असंगत प्रयोग—

सखी म्हारी णींद णशाणी हो (पद 39)

(5) अनुस्वार और अनुनासिक के अस्वभाविक और असंगत प्रयोग—

अण्तर बेदण विरह री म्हारी पीड़णा जाणी हो। (पद 39)

(6) एक ही शब्द का एक ही प्रसंग और अर्थ में, दो रूपों में प्रयोग—

म्हाराँ री गिरधर गोपाड़ दूसरा णा कूयां

दूसरां णां कोयां साधां सकड़ डोक जूयां। (पद 1)

(7) छोटे-छोटे पदों का व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग तो और भी चिन्तनीय है—

मीराँ री लगण लग्यां होणां जो हूयां (पद 1) जबकि शुद्ध प्रयोग होगा—

मीरां री लगण लगी, होणी हो जो होई।

इस प्रकार के अनेक भ्रान्त प्रयोगों और अशुद्धियों से 'पदावली' भरी पड़ी है। प्राचीनता की दुहाई देने मात्र से ही प्रति प्रामाणिक नहीं बन जाती, उल्टे इससे गुमराह हो जाने की आशंका रहती है"[2]

उक्त पदावली के विषय में डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने भी सर्वथा उपयुक्त लिखा है—

1 डॉ. मोतीलाल मेनारिया; राजस्थान का पिंगल साहित्य; पृष्ठ 64.

2 राजस्थानी भाषा और साहित्य; डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ 323-325.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

"भुल-भुलैयां की तरह एक विचित्र परिस्थिति में इस प्रति के मिलने का वर्णन किया गया है, जो मन में सन्देह उत्पन्न करता है।....मालूम पड़ता है राजस्थानी भाषा से अनभिज्ञ किसी व्यक्ति ने यह सारा जाल रचा है। यदि मीराँबाई ने इस तरह की कर्णकटु और भद्दी भाषा में कविता की होती तो वह कदापि इतनी लोकप्रिय न हो पाती।....अतः इसकी भाषा को मीराँबाई की मूल भाषा मानना भारी भूल है।"[1]

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पदावली को उक्त डाकोर की प्रति के आधार पर ज्यों की त्यों पुनर्सम्पादित कर भारी भूल की है। वस्तुतः उक्त पदावली से बढ़ कर मीराँ का भ्रष्ट और भ्रान्त पाठ शायद ही किसी संकलन में देखने को मिले। जिसे राजस्थानी भाषा की प्रकृति का तनिक भी ज्ञान है, वह उक्त पाठ की इन कल्पनातीत विकृतियों से स्तंभित हुए बिना न रहेगा। अतः मीरा के प्रामाणिक भाषा-रूप का ज्ञान कराने के लिए उक्त प्रति पर आधारित संकलनों को मान्यता देना अयुक्त है।

ऐसी स्थिति में, मीराँ के सही भाषा-रूप का निर्णय, जब तक उसकी पदावली का किसी प्राचीनतर प्रति के विधिवत् पाठालोचन के आधार पर कोई प्रामाणिक संस्करण नहीं निकल जाता, अत्यन्त कठिन है। तब तक श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा पूर्व सम्पादित पदावली (यथा 1-6 संस्करण) एवं स्वामीजी द्वारा सम्पादित मीराँ-मन्दाकिनी को ही अपेक्षाकृत विश्वसनीय पदावली के रूप में स्वीकार करने के सिवा हमारे पास कोई अन्य विकल्प नहीं है।

उक्त दोनों पदावलियों में, चतुर्वेदीजी द्वारा सम्पादित मीराँ-पदावली में 201 (छठा संस्करण) और स्वामी जी द्वारा सम्पादित 'मीराँ-मन्दाकिनी' में 161 पद हैं। दोनों के पदगत पाठों में भी यत्र-तत्र अन्तर है, जो नगण्य है। इधर स्व. पुरोहित हरिनारायणजी द्वारा सम्पादित 'मीराँ बृहत्पदावली' भी इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है, जो उनकी दीर्घकालीन शोध और अध्यवसाय का परिणाम है।

इन पदावलियों में संकलित पदों की रचना-पद्धति एवं इनमें प्रयुक्त शब्द-विधान पर जब हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हैं तो एक तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है, और वह यह है कि इनमें से अधिकांश पदों की भाषा निर्भ्रान्त रूप से राजस्थानी है। इन पदावलियों में संग्रहीत पदो में राजस्थानी के देशज शब्दों का बाहुल्य इस बात का असंदिग्ध प्रमाण है, कि मीराँ ने अपनी मूल पद-रचना राजस्थानी में ही की थी, अन्यथा इनमें राजस्थानी संस्कृति व स्थानीय लोक-भाषा के शब्दों का इतना प्राचुर्य कदापि न हो सकता था। केवल लोक-भाषा के शब्द ही नहीं, बल्कि उसके अधिकांश पदों का सम्पूर्ण पद-विन्यास ही राजस्थानी भाषा के अनुरूप है। असल में, वे ही पद मीराँ के मूल पद हैं, अथवा उनमें ही मीराँ की मूल

1 राजस्थान का पिंगल साहित्य : डॉ॰ मोतीलाल मेनारिया, पृ. 64.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पद रचना का स्वरूप सर्वाधिक सुरक्षित है। मीराँ एक सीधी-सादी प्रेमोन्मादिनी भक्त-कवयित्री थी। वह कोई अधिक पढ़ी लिखी पण्डिता या विदुषी न थी। अतः उसमें केशवदास के समान पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा होने की बात सोचना सर्वथा अकल्पनीय है। फिर भला मीराँ अपनी मातृभाषा राजस्थानी को छोड़कर, जिसमें उसके भावों का वेग और वाणी का प्रवाह सहज-स्वाभाविक रूप से मुखरित हुआ था ब्रज, गुजराती, भोजपुरी, पंजाबी और यहाँ तक कि बंगला भाषाओं में भी पद-रचना करती, यह कोई तर्क-संगत और विश्वसनीय बात नहीं है। जब गुजराती में मीराँ के प्रचुर पद (लगभग 250) उपलब्ध होने पर भी गुजराती विद्वानों ने यह निस्संकोच भाव से स्वीकार किया है कि मीराँ के मूल पदों की भाषा गुजराती नहीं थी, तब मीराँ के अन्य प्रान्तीय भाषाओं ब्रज, पंजाबी आदि को ही, जिनकी संख्या गुजराती में उपलब्ध पदों के आगे नगण्य है, प्रामाणिक मानने का क्या औचित्य है? यह तर्क देना, जैसा कि डॉ. सत्येन्द्रजी व मीराँ-काव्य के एक शोधकर्त्ता विद्वान् ने दिया है, कि "मीराँ के समय में व्रज-भाषा अधिकांश उत्तरी भारत की कृष्ण-भक्ति की भाषा थी"[1] कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि ब्रज उत्तर भारत की भक्ति-साहित्य की व्यापक भाषा होते हुए भी उस समय की एकमात्र साहित्यिक भाषा नहीं कही जा सकती। कारण, उसी समय राजस्थान में राजस्थानी भाषा में भी प्रचुर कृष्ण-भक्ति-साहित्य का सृजन हुआ है, जिनमें राठौड़ पृथ्वीराज-कृत 'वेलि-क्रिसन रुक्मिणी री', सांखला करमसी रुणेचा-रचित 'क्रिसन जी री वेलि', सायांजी झूला-रचित 'नागदमण', 'रुखमणी-हरण' आदि उल्लेखनीय हैं। अतः हमारी यह सुविचारित धारणा है कि मीराँ के मूल पदों की भाषा बोलचाल की तत्कालीन मारवाड़ी या राजस्थानी ही थी, जिसकी झलक उक्त दोनों पदावलियों में संग्रहीत मीराँ के अधिकांश पदों में अब भी ज्यों की त्यों देखी जा सकती है। इसके विरुद्ध यह तर्क देना कि मीरा ने वृन्दावन-यात्रा की थी, अथवा वहाँ कुछ दिन प्रवास किया था, अतः व्रज-भाषा से उनका परिचय होना तथा वहाँ व्रज-भाषा के प्रभाव में आकर उसी में पद-रचना करना संगत व संभाव्य है, एक निरी बेतुकी कल्पना है, क्योंकि इतना अल्पकालिक प्रवास-वास करने से ही क्या कोई अपनी मातृभाषा में रचना करना छोड़ कर, दूसरी भाषा का प्रयोग करना शुरू कर देता है, और वह भी काव्य-रचना में? क्या यह तर्क, तर्क के लिए भी मान्य हो सकता है? हमारे आधुनिक हिन्दी कवि, जैसे बच्चन जी, जो अंग्रेजी के भी विद्वान् हैं तथा अंग्रेजी के व्याख्याता रहे हैं, एक अर्से तक विलायत रह आए हैं परन्तु क्या वे अंग्रेजी में काव्य-रचना करने लगे हैं? आधुनिक युग में तो फिर भी व्यक्ति अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने हेतु या अपनी बहु-भाषा-विज्ञता का द्योतन करने हेतु ऐसा कर सकता है, परन्तु मध्ययुगीन मीराँ, श्याम के प्रेम में दीवानी और उसके विरह से घायल मीराँ, जिसके लिए

1 मीराँबाई डॉ० प्रभात, पृष्ठ 444, तथा डॉ० सत्येन्द्र व्रज साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 248. "व्रज-भाषा इस युग में सर्वत्र सामान्य भक्ति की भाषा थी"—डॉ० सत्येन्द्र)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कविता अपनी कवित्व कला का प्रदर्शन करने का माध्यम न होकर प्राणों की एक विवशता थी, अपनी अन्तस्थ वेदना एवं हृदयस्थ पीड़ा को ही व्यक्त करने की एक दुर्निवार विवशता, वह भला अपनी काव्य-रचना की प्रकृत भाषा को छोड़कर नये-नये भाषा-माध्यमों को अपनाती, यह सर्वथा अचित्य एवं अकल्पनीय है। अतः हम डॉ. मेनारिया एवं डॉ. सत्येन्द्र प्रभृति विद्वानों के इस मत से सहमत होने में असमर्थ हैं कि मीराँ ने ब्रज-भाषा में भी पद लिखे हैं। इस सम्बन्ध में, प्रासंगिक रूप से, हमें यह देख कर भी किंचित् विस्मय हुआ कि डॉ. सत्येन्द्रजी ने अपने 'ब्रज-भाषा के इतिहास' में राजस्थानी कवियों की उन कृतियों का भी समावेश कर लिया है जो एकान्ततः डिंगल की हैं। वे लिखते हैं—

"राजस्थान में भी राजे-महाराजे काव्य-रचना में प्रयत्नशील रहे और कवियों को आश्रय देने में वे कभी हिचकिचाये ही नहीं। इस प्रवृत्ति के कारण राजस्थान में अनेकों कवियों ने ब्रज-भाषा में कविताएँ की हैं।"[1]

इसके आगे डॉ. सत्येन्द्रजी ने अपने द्वारा मान्य इन ब्रज-भाषा कवियों (?) की एक लम्बी सूची दी है, जिसमें उन्होंने अन्य कवियों के साथ नरपति नाल्ह-रचित 'बीसलदेवरासो', रतनू वीरभांण-कृत 'राजरूपक' और कविराजा बाँकीदास-रचित सभी कृतियों का, जो 'बाँकीदास ग्रन्थावली' में संग्रहीत हैं, समावेश कर लिया है। 'राजरूपक' की भाषा के विषय में उनकी पाद टिप्पणी है—"इसकी भाषा डिंगल बताई गई है, पर यह ब्रज के अनुकूल है।"[2] भाषा डिंगल होते हुए भी ब्रज के अनुकूल होने का क्या अर्थ है ? भाषा तो कोई भी अनुकूल-प्रतिकूल नहीं होती। वह एक माध्यम मात्र है। अनुकूलता-प्रतिकूलता एक रुचि-सापेक्ष प्रश्न है, जिसके आधार पर भाषा के मूल, प्रकृत स्वरूप की उपेक्षा कर कोई वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। यदि 'राजरूपक' व कविराजा बाँकीदास की, डॉ. सत्येन्द्र द्वारा परिगणित रचनाओं की भाषा को ब्रज-भाषा के अन्तर्गत मान लिया जाता है, तब या तो हमें डिंगल की परिभाषा बदलनी पड़ेगी या ब्रज की। विद्वान् लेखक ने यदि इस एकरूपता के द्वारा दोनों में कोई भावात्मक ऐक्य स्थापित करने की बात नहीं सोची है तो निश्चय ही यह परिगणन सदोष और भ्रान्त है। कविराजा बाँकीदास ने एक अत्यन्त लघु रचना 'मानसिंघजी-रूपक' अवश्य ब्रजभाषा में लिखी है। साथ ही कुछ सवैये, कवित्त व एकाध छप्पय भी, परन्तु यह अत्यल्प है एवं डॉ. सत्येन्द्रजी द्वारा परिगणित रचनाओं में इनका उल्लेख नहीं किया गया है।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि स्वामीजी द्वारा सम्पादित 'मीराँ मन्दाकिनी' को ही प्रमाणभूत मानकर यदि यह तर्क दिया जाय कि उसमें कई पद ब्रज-भाषा में रचित या उससे प्रभावित मिलते हैं, अतः उन्हें अप्रामाणिक क्यों माना

1 ब्रजभाषा का इतिहास, डॉ. सत्येन्द्र, पृष्ठ 682.
2 वही, पृष्ठ 695.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जाए तो इसके उत्तर में निवेदन है कि उसमें गुजराती प्रभाव से युक्त पद भी तो मिलते हैं, जिनकी अप्रामाणिकता के विषय में हम पहले भी चर्चा कर आए हैं एवं जिसे गुजराती विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ—

प्रेमनी, प्रेमनी, प्रेमनी रे, मने लागी कटारी प्रेमनी।
जल जमुना मां भरवा गयां तो, हती नागर माथे हेमनी रे।
काचे तो तातणे हरि जीए बांधी, जमे खेंचे तेम तेमनी रे।
मीराँ कहे प्रभु गिरधरनागर, शामली सूरत शुभ एमनी रे ॥118[1]

अतः यदि हम गुजराती में उपलब्ध पदों की संदिग्धता स्वीकार करते हैं तो व्रज या अन्य भाषाओं में उपलब्ध पदों की स्थिति किस रूप में भिन्न मानी जा सकती है? इस सम्बन्ध में मूल्यांकन के दो भिन्न मापदण्ड नहीं अपनाये जा सकते।

अन्त में, अपनी मान्यता की पुष्टि में हम यहाँ राजस्थानी के कुछ जनपदीय एवं देशज शब्दों की सूची देना चाहेंगे, जो ठेठ मारवाड़ी या प्राचीन राजस्थानी के ही शब्द हैं एवं राजस्थान या गुजरात से बाहर अन्य किसी भी प्रान्त या आंचल में प्रायः प्रचलित नहीं हैं। मीराँ की यह विशिष्ट शब्द-योजना उसके भाषा-रूप का सबसे बड़ा परिचायक है क्योंकि भाषा के रूप-वैभव का पता उसके अपरिमित शब्द-भण्डार से ही चलता है। हमने अपने व्याख्या-खण्ड में राजस्थानी के इन विशिष्ट भाव-गर्भित शब्दों की सूक्ष्म अर्थ-व्यंजना पर विशदता से विचार किया है। अतः मीराँ की इस जनपदीय शब्द व पद-योजना को देखते हुए हमें उसकी पदावली के मूल भाषा-रूप के विषय में कोई भ्रान्ति नहीं रहनी चाहिए। यहाँ हम संक्षेप में उसके कुछ उदाहरण देंगे।

शब्द-योजना

राजस्थानी शब्द—मीराँ के पदों में प्रयुक्त राजस्थानी के तद्भव व देश्य शब्दों की संख्या इतनी अधिक है कि उनकी पूरी सूची देना यहाँ न संभव है, न इष्ट ही। जब पदावली मूल भाषागत स्वरूप ही राजस्थानी है, तो उसमें इन देशज शब्दों का बाहुल्य होना स्वाभाविक ही है। यहाँ केवल परिचयार्थ कुछ शब्दों का उल्लेख कर रहे हैं, जो राजस्थानी के अपने जनपदीय शब्द हैं— .

काँकड़, झिरमिट, निवांण, कालर, वीड़, कूड़ो, कंटक, कामदार, हाली-मोल्या, गहणा-गाँठी, अपूठी, सेर्या, क्यांने कैर, काण, निसाण, आरोग्या, जाँच्याँ घूम घुमाय, नोसरहार, दाय, रावला कोल, गुंढी, बभूत, दल के थंभण, चूँतरो, सुगणा, पाज, अबोलणाँ, राती, सगपण, ओलूं, गत, पिंडवाय, हिवड़ो, छाणै, (छानै,) तालावेली, धान, रोसणा ठानी (रूसणो ठानी), जीवड़ो, ओलगियो, निराट, (निरवाट), पैंज, उमावो, आंटड़ी, खारा, बारणे, 'आंस्यां सामा', तीजां खेले, पिंडत, जोसी, वाली बेस, रालूंली (क्रिया), रीसाणा (क्रिया), ओज्यूं, करहो,

1 मीराँ मन्दाकिनी : नरोत्तमदास स्वामी, पृष्ठ 54.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गोठड़ी, गाढ़ा, गुझबाती, सीझ्या, गुमानी (सम्बोधन), सीर, सोगन, भरतार, हिंदवाणे सूरज, सांसा, भाग्या बड़-भागण. सांड्यो, जेज, साल, जोहड़, सांपड़वो (क्रिया), आजार, कामण, मोडो, आवड़े, पेठ्या आदि ।

केवल परिचयार्थ उद्धृत इन कतिपय शब्दों से ही पाठकों को यह विदित हो जाएगा कि मीराँ की भाषा पर राजस्थानी-रंग कितना गहरा है । उसकी पद-योजना तो पूर्णतः उसमें ढली है ही ।

विदेशी शब्द—मीराँ की शब्द-योजना पर विचार करने पर हम देखते हैं कि उसमें राजस्थानी के तद्भव व देशज शब्दों के अतिरिक्त विदेशी भाषा के शब्दों—अरबी, फारसी का भी यत्र-यत्र प्रयोग हुआ है । उदाहरणतः—

साहिब (अ०); दरद (फा०); तकसीर (अ०); हाजिर-नाजिर (अ०); सिलाम (अ०) महरि (फा०) सूरत (अ०) पेस (फा०) सदकै (अ०) कमर (अ०) अरज (अ०) आदि ।

तत्सम शब्द—मीराँ के पदों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है यथा—

चरण, कोमल. अधर, घट, अंग, पुरातन, कुल, व्याल, कुंजर, विरहानल, उपकार, मकर, मीन, भाल, लोचन, किरीट आदि ।

तद्भव शब्द—मीराँ में प्रयुक्त तद्भव शब्दों के कुछ राजस्थानी रूपान्तरों के उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं । यहाँ अन्य तद्भव शब्दों के उदाहरण दिए जा रहे हैं, जो सामान्यतः हिन्दी में भी प्रचलित हैं ।

रतणाकर, हिरदे, सरवर, मारग, निरमल, अविनासी, भोसागर, गेह, वैण वणराइ, कोयल, सनेह, सीस, परतीत, निसबासर, भसम, पनग, सबद, मोच्छ, भूखण, प्रीतम आदि ।

ब्रजभाषा के प्रयोग

मीराँ-पदावली में ब्रज-भाषा के शब्दों या उससे प्रभावित शब्द-रूपों का भी प्रयोग हुआ है, जो ब्रज की व्यापकता, उसके लालित्य एवं भक्ति के संदर्भ में उसकी सहज लोक-प्रियता का ही द्योतक है । इसका एक कारण यह भी है कि मीराँ प्रायः साधु-सन्तों के सम्पर्क में आती रहती थी, तथा उनका सत्संग-लाभ किया करती थी, जैसाकि उनके पदों में हुए बहुशः उल्लेखों से प्रकट है । ये साधु-सन्त-जन प्रायः देश के सभी भागों में, एवं विशेषतः, कृष्ण के पावन लीला-धाम, ब्रज-मण्डल से भी आते रहते थे । अतः उनके सान्निध्य में भजन-कीर्तन आदि करते रहने से उनकी शब्दावली का भी मीराँ पर सहज प्रभाव पड़ा है । ब्रज-भाषा के शब्द ही क्यों, मीराँ-पदावली में यत्र-तत्र उपलब्ध नाथ-सम्प्रदाय या सन्त-मत की शब्दावली के प्रयोग का भी यही कारण है । परन्तु, जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, नाथ व सन्त-मत की शब्दावली का यह प्रभाव केवल अभिव्यक्तिगत ही है, सैद्धान्तिक या उपासनागत नहीं । कोई भी कवि अपनी समयुगीन काव्य-प्रवृत्तियों व चिन्तन-धाराओं से पूर्णतः निरपेक्ष या असम्पृक्त नहीं रह सकता ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ पर भी यदि यह प्रभाव, सन्त-साहचर्य व तीर्थ यात्रादि के कारण न्यूनाधिक रूप में पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

अन्त में, हम अपने निष्कर्ष को सार रूप में यों रख सकते हैं कि यद्यपि सम्प्रति मीराँ के पद राजस्थानी, गुजराती, व्रज, पंजाबी आदि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में उपलब्ध होते हैं, तथापि मीराँ के पदों की मूल भाषा तत्कालीन बोलचाल की मारवाड़ी या मध्ययुगीन पश्चिमी राजस्थानी ही रही है, जैसा कि उसकी पदावलियों के अधिकांश पदों से, जो अपने प्राचीन राजस्थानी रूप को संभाव्य परिवर्तनों के उपरान्त भी अपने में गर्भित किए हैं, प्रकट है। श्री पद्मसिंह शर्मा कमलेश भी मीराँ की वर्तमान पदावलियों में उपलब्ध भाषा को उनकी मूल भाषा नहीं मानते––

"आज गुजराती या राजस्थानी या हिन्दी में मीराँ के पद जिस रूप में मिलते हैं, वह मीराँ की मूल भाषा नहीं। हाँ, आत्मा उसके साहित्य की नहीं बदली और न ही बदलेगी।"[1]

मीराँ की आत्मा जैसे उसके पदों में सुरक्षित है, वैसे ही मीराँ के पदों की आत्मा भी उसकी मातृ-गिरा राजस्थानी में ही सुरक्षित है।

1 गुजराती और उसका साहित्य, श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', पृष्ठ 30.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

5

मीराँ-काव्य का लोकतात्त्विक विवेचन

मीराँ के काव्य पर लोकतात्त्विक दृष्टि से विचार करने के पूर्व लोकतत्त्व का अर्थ समझ लेना चाहिए। सामान्यतः अपने अभिधार्थ में लोक का तात्पर्य है विश्व या भुवन तथा उसका विराट् भूत समुदाय। द्युलोक, मृत्युलोक आदि शब्दों में लोक इसी अर्थ का वाचक है।

परन्तु अपने विशिष्ट एवं रूढ़ अर्थ में लोक, समाज के सभ्य एवं सुसंस्कृत वर्ग से भिन्न उस अशेष जन-वर्ग का बोधक है, जो तथाकथित सभ्यता के बाह्य उपचारों से सर्वथा अनभिज्ञ होकर भी अपनी अन्तस्थ निर्मलता एवं अकृत्रिम भाव-व्यंजना में कहीं अधिक सभ्य और पवित्र है, शिक्षित न होकर भी जिसकी उद्दाम जिजीविषा एवं अदम्य सिसृक्षा सौंदर्यबोध की नित नई दिशाएँ एवं विधाएँ खोजने में सदा समर्थ रही हैं एवं असंस्कृत होकर भी जो युग-युग में विकसित हमारी सांस्कृतिक चेतना के जीवन-रस से अपने को अनुप्राणित किए है। इसी लोक-वर्ग के पास हमारी विगत सांस्कृतिक परम्पराओं और जीवनादर्शों की अलभ्य धरोहर सुरक्षित है एवं हमारा कृत्स्न लोक-साहित्य उसी जीवन्त लोक-मानस का अलिखित उद्गीथ है।

अतः लोक-साहित्य वस्तुतः लोक-मानस का ही समष्टि रूप उद्गार है एवं लोक-जीवन से सम्बद्ध उपकरण ही लोक-तत्त्व। साहित्य जीवन की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। अतएव लोक-जीवन के ये सभी तत्त्व—भाव, विश्वास, रूढ़ि, आचार, विचार, पर्वोत्सव आदि लोक-साहित्य के भी उपजीव्य हैं। लोक—साहित्य में लोक-जीवन के इन तत्त्वों ने अनेक रूपों में अभिव्यक्ति पाई है, जिनमें लोक-गाथा, लोक-वार्ता, लोकगीत, लोक-नाट्य, लोकोक्ति आदि प्रमुख हैं। लोक-साहित्य की इन्हीं विविध विधाओं में अभिव्यक्त लोक-जीवन तथा तत्सम्बद्ध उपस्कर ही लोक-तत्त्व की संज्ञा पाते हैं।

यद्यपि मीराँ-काव्य-विवेचन के अन्तर्गत उसके विविध पक्षों—मीराँ की भक्ति-भावना, उपासना-पद्धति, भाव-माधुर्य, इष्टगत स्वरूप तथा उस पर समसामयिक संत व भक्ति-सिद्धान्तों के प्रभावादि की तो पर्याप्त चर्चा हुई है, परन्तु लोकतात्त्विक दृष्टि से मीराँ-काव्य का सविस्तार विवेचन अद्यावधि नहीं हुआ है। यहाँ मीराँ-काव्य के उसी उपेक्षित पक्ष का विवेचन करना हमारा उद्दिष्ट है।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि मीराँ-काव्य के दोनों ही पक्षों-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष पर लोक-तत्त्व का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। अतः विवेचन की सुविधा के लिए विवेच्य विषय को इन दो भागों में वर्गीकृत कर विचार करना उपयुक्त होगा।

अनुभूति-पक्ष

मीराँ-काव्य के अध्ययन तथा उसके सम्यक् विवेचन के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि मीराँ की काव्य-चेतना सामन्ती परिवेश में पलकर भी लोक-धरातल पर ही विकसित हुई है। राजकुल में जन्म लेकर तथा राजकुल की वधू होकर भी मीराँ का जीवन अंतःपुर के प्रकोष्ठ में ही आबद्ध नहीं रहा, वल्कि अपनी व्यापक प्रेमानुभूति एवं भक्ति-भावना के कारण उसका व्यक्तित्व अशेष लोक के साथ एकरूप होगया था। पहले तो उसने राजकुल की मर्यादाओं को यत्किञ्चित् स्वीकार करते हुए ही भक्तों व सन्तों का सत्संग कर अपनी भक्ति-क्षुधा शान्त की, किन्तु जव राजकुल के नियम उसमें बाधक बनने लगे तो मीराँ उन्हें तिलाञ्जलि दे अपने आराध्य की क्रीड़ाभूमि वृन्दावन की ओर चल पड़ी। कृष्ण-प्रेम की उस दुर्निवार स्रोतस्विनी के आगे लोक और कुलाचार के कूल ढ़ह गए। किन्तु उस 'दरद दिवानी' को वहाँ भी चैन कहाँ? वहाँ से मीराँ अपने आराध्य की कर्मभूमि द्वारिका चली गई एवं वहीं श्याम रूप में तन्मय हो वह अन्तिम श्वास तक उन्हें अपने प्राणों का नैवेद्य अर्पित करती हुई उन्हीं में लीन होगई। सन्तों के इस सतत साहचर्य एवं इन लम्बी यात्राओं ने मीराँ के जीवन को सीधे लोक-सम्पर्क में ला दिया। लोक-जीवन के इसी संस्पर्श ने मीराँ की काव्य-चेतना को अतिशय प्रभावित किया।

यह प्रभाव मीराँ के काव्य की अन्तश्चेतना पर किस रूप में पड़ा तथा तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि में उसने किन क्रान्तिकारी मूल्यों (Values) का प्रवर्तन किया, यह प्रश्न वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। इस सम्वन्ध में हमें यह स्मरण रखना होगा कि उस समय दरबारी या सामन्तवादी व्यवस्था अपने पूर्ण उत्कर्ष पर थी, जो अपने परम्परागत आचार-विचारों, रूढ़ियों, जाति-भेद तथा वर्गगत वैशिष्ट्य को प्रश्रय देती हुई व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, व्यक्ति-समत्व, एवं नारी-समानाधिकार आदि लोकतान्त्रिक मूल्यों का प्रत्याख्यान कर रही थी। उस वर्ग-भेद की पोषक ह्रासोन्मुख सामन्तवादी संस्कृति के विरुद्ध व्यष्टि के विद्रोह का स्वर जन-संस्कृति की उत्कर्षमूलक चेतना का ही प्रमाण है, मीराँ जिसकी ज्वलन्त प्रतीक थी। मीराँ के काव्य में उस चेतना के स्फुलिंग स्पष्टतः विद्यमान हैं। मध्ययुग के उस रूढ़िग्रस्त समाज को मीराँ की यह चुनौती कुछ कम क्रान्तिकारी नहीं है—

चोरी करूं न मारगी, नहीं मैं करूं अकाज।
पुन्न के मारग चालतां, झक मारो संसार॥

'झक मारो संसार' में अनीतिमूलक समष्टि के विरुद्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का स्वर कितनी तीव्रता से फूटा है! यहाँ 'संसार' शब्द में व्यक्त आक्रोश लोक के प्रति

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

नहीं वरन् केवल राजकुल के स्वजनों तथा उनके अन्ध समर्थकों के प्रति है, जिनका प्रतिनिधित्व राणाजी करते हैं तथा जिनके उत्पीड़न व दुर्व्यवहार से मीराँ का जीवन दुखी होगया था। इसीलिए वह राणाजी को सम्बोधन कर कहती है—

राणोजी रूठ्याँ बांरो देस राखसी।
हरि रूठ्याँ कुम्हलास्यां हो माइ॥

तत्कालीन समाज में व्याप्त वर्ग-भेद को भी मीराँ ने स्वीकार नहीं किया, जहाँ एक वर्ग दूसरे पर आरोपित हीनता को ही अपनी महत्त्व-स्थापना का साधन बना बैठा था। मीराँ ने इसी वर्ग-भेद के मूल पर प्रहार किया—

राणाजी हो, जाति रो कारण म्हारे को नहीं,
लागो म्हारो हरि भगतां सूं सनेह।

उस युग में, जबकि जगन्मात्र को 'सिया राम मय' समझने वाले भक्त तुलसी भी वर्णाश्रम-धर्म के औचित्य का अनथक समर्थन कर रहे थे, मीराँ की इस साम्य-भावना का तनिक महत्त्वांकन तो कीजिए! एक व्यापक सन्दर्भ में हम इसे वर्ग-वैशिष्ट्य की पोषक सामन्तवादी संस्कृति के विरुद्ध वर्ग-निरपेक्ष जन-संस्कृति के मूल्यों का ही प्रतिष्ठापन मानते हैं। हमारे इन्हीं सन्त और भक्त कवियों ने आगे चलकर हमारे समाज में जनवादी विचारधाराओं के प्रवर्तन व प्रसार के लिए उपयुक्त मनोभूमि तैयार की थी, जिसके फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दू-समाज में अछूतोद्धार के रूप में महान् समत्व-यज्ञ का अनुष्ठान हुआ। उस यज्ञ के होता चाहे उन्नीसवीं शताब्दी के रहे हों, परन्तु उसके मन्त्र हमारे इन्हीं कवियों ने पहले हमें दिए थे। मीराँ के काव्य में हमारी इसी लोकपरक सांस्कृतिक चेतना का उन्मेष है, जो समस्त प्रतिक्रियावादी मान्यताओं एवं वर्ग-भेद-जन्य दुराग्रहों का प्रतिकार करती हुई जगत तथा जग-जीवन के साथ एकरूप हो गई है—

सासू अमारी सुषमणारे, सासरो प्रेम सन्तोष।
जेठ जग-जीवन जगत माँ, म्हारो नावलियो निर्दोष॥

मीराँ-काव्य में उपलब्ध लोक-तत्त्व का विवेचन करते समय हमें उसके मूल में व्याप्त उस अन्तश्चेतना को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए, जो तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में मीराँ-काव्य के मूल्यों का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमान है।

अब हम लोक-तत्त्व के मूल विषय पर आते हैं। विवेचन की सुविधा के लिए लोक-तत्त्व को निम्नांकित रूपों में वर्गीकृत कर विचार करना उपयुक्त होगा।

लोक-विश्वास

लोक-विश्वास जन-मानस में युग-युग से प्रतिष्ठित वे आस्थाएँ और धारणाएँ हैं, जिनका आधार तर्क न होकर भावना है तथा जो अमरबेल से निर्मूल होकर भी पल्लवित होते रहते हैं।

मीराँ के काव्य में जन-साधारण में प्रचलित कई लोक-विश्वास अभिव्यक्ति पा गए हैं, जिनमें मुख्य अग्रांकित हैं—

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. Nanaji Deshmukh Library, BJP, Jammu. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

(क) **ज्योतिषियों की भविष्यवाणी में आस्था**—लोकमानस की एक विशेषता है, अपनी मनोवांछित एवं प्रीतिकर बातों पर सहज विश्वास कर लेना। जब किसी का प्रिय परदेश से लौटता नहीं तो उसके वियोग में व्यथित स्वजन अधीर होकर किसी ज्योतिषी के पास जाते थे तथा उसके आगमन की सम्भावित तिथि पूछते थे। गाँवों में यह रीति अभी कुछ समय पहले तक न्यूनाधिक रूप में विद्यमान थी। प्रिय-मिलन हेतु उत्कंठिता मीराँ भी, इसी लोक-विश्वास से आशान्वित हुई किसी ज्योतिषी से कातर हो पूछती है—

कहो न जोशी प्यारा, राम मिलण कद होसी।

जोशीजी (ज्योतिषी) पत्रा देखकर तिथि बता देते हैं और सौभाग्य से वियोगिनी की मनोकामना पूर्ण होती है। वह हर्ष विभोर हो जोशीजी की बलैयाँ लेती हुई बधाइयों से पूर देती है—

जोसीड़ा नै लाख बधाई, अब घर आया श्याम।

विरह और मिलन के इन उद्गारों में ज्योतिषियों के प्रति सामान्य लोक-विश्वास ही व्यक्त हुआ है। बीसलदेवरासो में भी गमनोद्यत राजा के प्रस्थान का शुभ दिन (शुभ मुहूर्त) जानने के लिए ज्योतिषी की तलब होती है।

ले पतड़ो जोशी वेगो आई।
सूदन कहै रूडा जोईसी ॥[1]

मध्ययुग ही क्यों, आज भी हर शुभ व माङ्गलिक कार्य का प्रारम्भ शुभ महुर्त देख कर ही किया जाता है। परन्तु अन्तर इतना ही है कि आज किसी के लौटने की तिथि जानने के लिए लोग ज्योतिषियों के पास जाने का कष्ट नहीं करते!

(ख) **तन्त्र-मन्त्र में आस्था**—तन्त्र-मन्त्रों में आस्था लोक-जीवन का एक प्रमुख अंग है, जिसकी परम्पराएँ हमारे शास्त्रों जितनी ही पुरानी है। विशेषतः देहगत व्याधियों के निवारण के लिए ये तंत्र-मंत्र अचूक साधन माने जाते हैं। गाँवों में अब तक लोग प्रेत-बाधा के निवारणार्थ 'स्याणों' के पास जाते देखे जाते हैं तथा दैहिक बाधाओं के निवृत्यर्थ झाड़ों, मन्त्रों व विविध टोनों का आश्रय लेते देखे जाते हैं। कविवर तुलसी ने भी एक ऐसे ही टोने का उल्लेख किया है—

स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को-सो टोटक,
औचट उलटि न हेरो ॥[2]

वियोगिनी मीराँ भी अपनी विरह-व्याधि से त्राण पाने के लिए इन्हीं तन्त्र मन्त्रों की आवश्यकता अनुभव करती है—

तन्त-मन्त औषद कर तक पीर न जाई, है कोउ
उपकार करै, कठिन दर्द री माई।

1 बीसलदेवरासो, पृष्ठ 40, सं. सत्यजीवन वर्मा।
2 विनयपत्रिका।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तथा एक अन्य स्थल पर वे कहती हैं—

जन्तर लिखि ल्याओ, मन्तर लिखि ल्याओ।
औषध ल्याओ, घसि कै री।

(ग) शकुनों में विश्वास—लोक-जीवन में शकुनों का बड़ा महत्त्व है। यहाँ तक कि मध्ययुग में शकुन बताने का अन्य रोजगारों के समान एक रोजगार तक होने का उल्लेख मिलता है। इन शकुन (सूंरण) बताने वालों को 'सूणी' या 'सवणी' कहा जाता था यथा—

"वरसो, तिलोकसी, दूदो, रायपाल रावल जैसल कन्है रहै। इरण नूं सवणी पणै रो रोजगार। जिसड़ो सवरण हुवै, तिसड़ो आय मालम करैं।"[1]

शकुन अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के होते हैं, जिनका शकुन-विषयक ग्रन्थों में सविस्तार निरूपण हुआ है। ये शकुन कई प्रकार के होते हैं, जिनमें कुछ निम्न हैं—

(अ) अंग फड़कना—स्त्रियों के वामाङ्ग एवं पुरुषों के दक्षिणाङ्ग फड़कना शुभ माना जाता है। प्रिय-मिलन के लिए आकुल मीराँ भी अपनी बाँई आँख फड़कने पर हर्ष से फूली नहीं समाती। वह कहती है—

कद आसी गोपियाँ वालो कान्ह, फरुखै बाँई आँखड़ी।

(आ) पक्षियों का उड़ना—अपने अंग फड़कने से तो शुभाशुभ का अनुमान किया ही जाता है, प्रिय-स्मरण के साथ ही किसी पक्षी का अकस्मात उड़ जाना भी प्रिय-मिलन का असंदिग्ध सूचक माना जाता है। इसीलिए विरहिणी प्रिय-स्मरण करती हुई कभी कौए को उड़ जाने का अनुरोध करती है, कभी हंस को। मीराँ ने भी इसी लोक विश्वास के माध्यम से अपनी विरहानुभूति की मार्मिक व्यंजना की है—

उड़ उड़ जा रे कागा बन का,
स्याम गया बोहो दिन कारी।

क्योंकि—

तेरे उड्यां सूं राम मिलेगा, धोखा भागे मन का रैं।

इसी प्रकार कभी वह सरोवर के हंस को उड़ जाने का अनुनय करती हुई कहती है—

उड़ जा रे सरवरिया रा हंस, सोने से गढ़ा द्यूं तेरी चोंच।
रूपे में गढ़ा द्यूं तेरी पाँखड़ी।

विरह वर्णन के अन्तर्गत इस प्रकार इन पक्षियों को उड़ जाने का अनुरोध प्रायः लोक-काव्यों की एक सामान्य रूढ़ि होगई है। प्रिय-मिलन होने पर उन्हें प्रलोभन भी कम नहीं दिए जाते। उदाहरणार्थ मीराँ पपीहे को सम्बोधन कर कहती है—

चांच मँढाऊँ थारी सोवनी रे, तूं म्हारो सिरताज।

1 भाटी वरसै तिलोकसी री बात।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

वस्तुत: इन शकुनों में अतर्क्य आस्था के मूल में अतीत व मध्ययुगीन अनिश्चित एवं असुरक्षित जीवन-स्थितियाँ ही कारणरूप रही हैं। यह वह युग था जब सामाजिक असुरक्षा के कारण प्रवास-यात्रा निरापद न थी। लोग घर से बाहर पैर रखते समय मन ही मन इस आशंका से भयभीत रहते थे कि शायद वे सही सलामत घर लौट पाएँगे या नहीं। यह भय उनकी अन्तश्चेतना में व्याप्त-सा रहता था तथा तार्किक प्रक्रिया से किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में असमर्थ होने पर वे दैवी अन्तःप्रेरणाओं, प्राकृतिक व्यापारों (पशु-पक्षी विशेष के दाहिने या बाएँ आने या बोलने आदि), स्वीय अंग-स्फुरणों अथवा प्रस्थान-काल के समय संयोग से घटित होने वाली अन्य शताधिक क्रियाओं द्वारा शुभाशुभ फल जानने अथवा तद्विषयक कोई संकेत खोज निकालने का प्रयत्न करते रहे होंगे। कालान्तर में ये संकेत-विशेष ही किसी अनुकूल या प्रतिकूल अथवा शुभ या अशुभ सूचना के अर्थ में रूढ़ हो गए होंगे, एवं कभी संयोग वशात् इनमें से किसी एक-दो की वैयक्तिक अनुभव से पुष्टि हो जाने पर शेष को भी लोक-सत्य के रूप में विश्वसनीय समझ कर ग्रहण कर लिया होगा। कालांतर में वे लोक-विश्वास ही लोक-मानस के अटल सत्य बन कर प्रतिष्ठित होगए। मध्ययुग में घर से प्रस्थान करते समय यात्री की मनस्थिति एवं उसकी मनोवृत्ति का परिचय हमें ढोला के इस कथन से मिल जाता है, जब वह मारवणी का सन्देश पाकर नरवर से पूगल के लिए प्रस्थान करता है--

ढोलह करह चलावियउ, करि सिणगार अपार।
आस्यां तउ मिलस्यां वले, नरवर कोट जुहार।।

"ढोला ने बहुत शृंगार कर ऊँट को चलाया (और नरवर की ओर देखकर बोला) यदि (जीते) लौट आए तो फिर मिलेंगे; ए नरवर के दुर्ग प्रणाम।"[1]

साहित्य में शकुन-वर्णन की परम्पराएँ बहुत पुरानी हैं, एवं मध्यकालीन काव्यों में इनका प्राचुर्य है। इस कोटि के वर्णन बहुत कुछ रूढ़ होगए हैं।

(घ) शापों में विश्वास--लोक-मानस स्वभावत: बड़ा भीरू होता है। शिक्षा के अभाव में अलौकिक अथवा अतिमानवीय (Supernatural) तत्त्वों में उसकी अतर्क्य आस्था होती है, जिनमें किसी के शाप के कुप्रभाव में विश्वास होना भी एक है। शाप में विश्वास की इस वृत्ति का मूल हमारे पौराणिक एवं काव्य-ग्रन्थों में है, जिनमें 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'मेघदूत' आदि उल्लेखनीय हैं।

जब स्वजन मीराँ को उसके उद्दिष्ट भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करने में अनेक बाधाएँ डालते हैं एवं उसे बलात् उससे विमुख करने की चेष्टा करते हैं तो आक्रोशदग्ध हो मीराँ उन्हें शाप देने की धमकी देती है--

जो थे पकड़ो ला हाथ हमरो, खबरदार मन मांहों।
देवूंगी सराप मैं सांचा मन सूं, बल जल भसम होई जाई।।

1 ढोला-मारू रा दूहा ।।347।।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

(2) लोक-रूढ़ि

लोक-काव्यों में प्रचलित विरह-वर्णन की अनेक रूढ़ियों (Motifs) में प्रिय को पक्षियों द्वारा सन्देश-प्रेषण, अवधि के दिन गिनते-गिनते अंगुलियाँ घिस जाना, प्रियागम पर मोतियों से चौक पुराना आदि हैं। व्याख्या-खण्ड में हमने इनका यथा-स्थान उल्लेख किया है। मीराँ भी प्रिय के आगमन पर मंगल-गान के साथ-साथ अपना चौक मोतियों से पुराती है।

मोती चौक पुराऊं वाल्हा, तन मन तो पर वारी।

इस प्रकार एक अन्य स्थल पर कौए को दूत बनाकर वह अपनी प्रेम-पाती भेजती है—

प्रीतम को पतियाँ लिखूं, कउआ तू ले जाई।

हमारी अति समृद्ध दूत-काव्य-परम्परा के सन्दर्भ में ये उक्तियाँ सर्वथा स्वाभाविक हैं। पक्षियों द्वारा सन्देश-प्रेषण की यह पद्धति एक अति प्रसिद्ध काव्य-रूढ़ि है, जिसका लोक-साहित्य एवं लोकेतर साहित्य, दोनों में ही भरपूर प्रयोग हुआ है।

(3) लोक-रीति

कभी-कभी कुछ सामान्य लोक-रीतियाँ भी काव्य में अभिव्यक्ति पा जाती हैं। गाँवों में जब किसी परिवार के यहाँ ब्राह्मण अतिथि आ जाता है तो उसके लिए विशेष रूप से 'सोध की' (शुद्धता या स्वच्छता से बनी) रसोई की जाती है। ब्राह्मण अतिथि के पवित्र आतिथ्य-सत्कार की यह एक सामान्य लोक-रीति है, जिसका मीराँ ने भी वर्णन किया है—

थे म्हारे घर आओ बन्सी वारा, करस्याँ बहत लड़ानी।
करूँ रसोई सोध की जी, भोत करूँ मिजमानी ॥

इसी प्रकार, विवाह के पूर्व वर और वधू दोनों के ही हल्दी आदि अन्य अनेक सुगन्धित द्रव्यों से निर्मित उबटन का अंगों पर आलेपन किया जाता है। इसे लोक-शब्दावली में 'पीठी करना' कहते हैं। इस 'पीठी' या उबटन के प्रसंग को लेकर राजस्थान में अनेक भाव भरे लोकगीत गाए जाते हैं। मीराँ के एक पद में इसी लोक-रीति की ओर संकेत है—

हल्दी तो पोठी म्हारे अंग लिपटाई,
मेंहदी सूं राच्या म्हारा हाथ।

इसी भाँति, अन्य अनेक सामाजिक एवं धार्मिक लोक-रीतियों का भी मीराँ ने यथा-प्रसंग उल्लेख किया है जिनमें जनपदीय विशेषताओं की बड़ी सुन्दर झलक उभरी है। उदाहरणत: कार्तिक मास में होने वाली देव-पूजा व व्रतोत्सवों का उल्लेख करती हुई मीराँ कहती है—

देव काती में पूजहे, मेरे तुम होई हो।

(4) लोक-पर्व

लोक-जीवन में लोक-पर्वों का बड़ा महत्त्व होता है। वैसे तो पर्व या त्यौहार

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रत्येक वर्ग के लिए समान रूप से आनन्ददायक होते हैं, किन्तु इन पर्वों पर हर्षोल्लास का जैसा स्वाभाविक स्रोत लोक-वर्ग में फूटता है, वह सर्वथा अनुपम है। शिष्टवर्ग के समान वहाँ उसके व्यक्तिकरण पर औपचारिकता के प्रतिबन्ध नहीं लगते। इसीलिए लोक मानस से उद्‌भुत उल्लास-निर्झर नितान्त स्वाभाविक निर्बन्ध एवं आवेगमय होता है।

राजस्थानी जन-जीवन में होली, तीज और गणगौर के पर्व अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। होली के पर्व पर प्रेम और यौवन के मस्ती भरे गीत गाती युवक-युवतियों की टोलियाँ वसंत की मादकता में चार चाँद लगा देती हैं। मीराँ भी होली के पर्व पर लोक के स्वर में स्वर मिला गा उठती है—

रंग भरी, रंग भरी रंगसूं भरी री,
होली आई प्यारी रंग सूं भरी री।
उड़त गुलाल लाल भयो अम्बर,
पिचकारिन की लगी झरी री ॥

इसके पहले वसंत-पंचमी पर फाग के गीतों का भी मीराँ ने उल्लेख किया है—

महामही-वसन्त पञ्चमी फागां सब गावै हो।

साथ ही तीज और गणगौर के पर्वों का भी मीराँ ने अपने पदों में वर्णन किया है, जो संयोग या वियोग के उद्दीपन-विभाव के रूप में प्रयुक्त हुए हैं एवं जो राजस्थानी लोक-जीवन के सबसे रसीले एवं प्रतिनिधि सांस्कृतिक पर्व हैं—

सावण में झड़ लागियो, सखि तीजाँ खेलैं हो।

तथा—

रे साँवलिया म्हारे आज रंगीली गणगौर छै जी।

ये पर्व राजस्थानी जन-जीवन में व्याप्त उल्लास और माधुर्य के ही प्रतीक हैं—जिनके साथ न जाने कितनी संयोगिनियों की मिलन-कामनाएँ और विरहिणियों की विरह-गाथाएँ जुड़ी हुई है।

(5) लोक-सम्बद्ध प्रकृति-चित्रण

प्रकृति लोक-जीवन का पालना है। राजस्थान अधिकांशतः एक मरु-प्रदेश है। अतः दूर-दूर तक विस्तीर्ण बालुका-राशि और बीच-बीच में कहीं कूँचे, कहीं फोग और कहीं कैरों के झाड़; बस, यही राजस्थानी लोक-जीवन की प्राकृतिक पृष्ठभूमि है। प्रकृति चाहे राजस्थान के प्रति अनुदार रही हो, परन्तु राजस्थानी कवियों का भावकोश उसके प्रति कभी कृपण नहीं रहा। वह तो प्रकृति की इस विरल सम्पदा पर ही रीझ गया है। बीकानेर के महाराज रायसिंह जी का 'फोग' के प्रति कथित दूहा निश्छल प्रकृति-प्रेम का एक अनूठा दृष्टान्त है।

फोग की भाँति 'कैर' भी राजस्थान में प्रचुरता से पाया जाने वाला एक झाड़ होता है। मीराँ ने राणाजी की उपमा उसी से देते हुए लिखा है—

थे तो राणाजी म्हाने इसड़ा लागो, ज्यूं ब्रच्छन में कैर।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लोक-प्रकृति से सम्बद्ध एक वृक्ष से राणा की उपमा देने से मीराँ की अभिव्यक्ति में एक तीव्रता आगई है।

इसी भाँति, एक अन्य स्थल पर वे संसार की उपमा 'बीड़ के काँटे' से देती हैं, जो चुभने पर बड़ा कष्टकर होता है।

(6) लोक-जीवन से सम्बद्ध आभूषण

मीराँ राजकुल की वधू थी। अतः उसके काव्य में रानियों के आभूषण—'नौसरहार' आदि का प्रसंगतः उल्लेख स्वाभाविक है। परन्तु मीराँ ने इसके अतिरिक्त उन आभूषणों का भी उल्लेख किया है, जो सौभाग्य के मंगल चिह्न होने से राजमहलों से लेकर कुटियों तक में समान रूप से शोभा बढ़ाते हैं। हाँ, यह बहुत संभव है कि कुटियों में उनके प्रतिरूप रत्न-स्वर्णादि के न होकर अन्य धातुओं के हों, परन्तु ये हर सौभाग्यवती के अंगों का मंडन बनते हैं। इनमें मुख्य हैं—राखड़ी (मंगल सूत्र), खगवालो, बाजूबन्द, नकबेसर, चुड़लो आदि। कुछ उदाहरण देखिए—

1. राधा रुकमण रो नौसरहार, किसनजी की राखड़ी।
2. कर 'खगवालो' पहरियो, कोई आप जाणो दीनानाथ।
3. तन का गहणा मैं सब कुछ दीन्हा, दियो है बाजूबन्द खोल।
4. चुड़लो तो पहरो ए हाथी दाँत को, पहरो ए नौसरहार।

(7) लोक-भोज्य वस्तुएँ

लोक-जीवन राजमहलों में बने षटरस व्यंजन के स्वाद को नहीं जानता और 'छप्पन भोग' का नाम भी रसनेन्द्रिय की अपेक्षा उसकी श्रवणेन्द्रिय को ही अधिक तृप्त करता है—

छप्पन भोग छतीसों व्यंजन, लाई भर-भर थाल जू।

किन्तु 'लापसी' और 'मगद' पदार्थ तो ऐसे हैं, जो उसकी कल्पना से बाहर नहीं। मीराँ इन्हीं का उल्लेख करती हुई कहती है—

घीव कर घबिर सुआ, मो लापसी रँधाऊँ रे।

तथा—

गढ़ से तो मीराँबाई ऊतर्या जी हाथ में मगद को थाल।

'लापसी' गुजरात व राजस्थान का एक लोकप्रिय भोज्य रहा है व राजस्थान में तो आज दिन तक प्रचलित है। प्राचीन गुजराती के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'वर्णक-समुच्चय' में इस 'लापसी' के बनाने की यह विधि तो देखिए—

दुग्धं गोधूम चूर्णं घृतगुड़ सहितं नालिकेरस्य खंड।
द्राक्षाषर्जूर शुंठीत जमरिचयुतं पेशलं देवपुष्पम्।
पक्त्वा लोहे कडाहे टलविटलटलत्पावके मंदकांतौ।
धन्यो हेमंतकाले प्रचुर घृतयुतां भुंजते लापनश्रीम्॥[1]

1 वर्णक-समुच्चय; भाग 1, पृ. 174; सं. डॉ. भोगीलाल साँडेसरा।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

यही नहीं, राजस्थानी भोजन के अन्य पदार्थ भी मीराँ के पदों में अभिव्यक्ति पागए हैं—

बाहला म्हारा दाल–भात ने, कढ़ी बड़ी समग्री सब घी की रे।
बाहला म्हारा राइता, शाक पापड़ छे, तमे जीमो प्रीतम म्हारा रे।।

12वीं शताब्दी के कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) ने भी अपने 'सन्देश-रासक' में एक सामान्य लोक-भोज्य 'रावड़ी' को लेकर क्या अनूठी उक्ति कही है—

जइ बहुलदुद्ध संमीलिया य उल्ललइ तंदुला खीरी।[1]
ता कणकुक्कसहिआ रब्बडिया मा दडव्वडउ ।।16।।

(8) लोक-जीवन से सम्बद्ध उपवर्ग

राजस्थान में कई उपवर्ग ऐसे हैं, जिनका लोक-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। फलत: लोक-साहित्य में भी उनका किसी न किसी रूप में चित्रण हुआ है। यही नहीं, उन्होंने लोक-साहित्य के प्रसार में भी अतुल योग दिया है। ऐसे वर्गों में राजस्थान का 'भोपा' या 'भोपड़ता' वर्ग भी एक है। यह वह वर्ग है, जिसने हमारे न जाने कितने लोकगीतों तथा लोकाख्यानों को विस्मृति के गर्त में विलीन होने से बचाया है। इतिहास के न जाने कितने अबोले पृष्ठ उसके अधरों पर खेलते हैं और हमारे न जाने कितने अनाम वीरों की शौर्य-गाथाएँ केवल उसी की वाग्मिता एवं स्मरण-शक्ति का वरदान पाकर जीवित हैं। इतिहास ने उसके गीतों को प्रेरणा दी है तो इसके गीतों ने इतिहास को अमरत्व !

अपने 'जंतर' (वाद्य-यन्त्र) पर जब वह भाव-विभोर हो किसी सूरमा के वीरता भरे आख्यानों को गा-गा कर सुनाता है और बीच-बीच में उसकी कोकिल-कंठी प्रिया अपनी तीक्ष्णमधुर स्वर-लहरी से उसके साथ आलाप भरती है तो एक निराला ही समाँ बँध जाता है। कौन ऐसा श्रोता है, जो उस गायक-युगल की तान पर झूम न उठे ! जन-जीवन के इस अमर गायक की रसवन्ती से मरु का कण-कण मानो आप्लावित हो उठता है। मीराँ ने (यद्यपि भिन्न संदर्भ में) इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

एक संख सेवा चढ़ै, दूजो भोपड़ता के हाथ।

मद्य-विक्रेता 'कलाल' या 'कलालिन' को लेकर राजस्थान में अनेक मस्ती भरे लोकगीतों की सृष्टि हुई है। राजस्थान के रंगीन जीवन में सुरा सदा से ही स्वीकार्य रही है। मीराँ ने (भक्ति के सन्दर्भ में) कलाल का उल्लेख करते हुए कहा है—

एक कलस सेवा चढ़ै, दूजो कलालां रे हाथ।

इसके अतिरिक्त, लोक-जीवन से सम्बद्ध अन्य वर्गों—जैसे बनजारा, नटवा, आदि का भी मीराँ के पदों में उल्लेख मिलता है—

चकोर को ध्यान लगो चन्दवा सों, नटवा को ध्यान लगो डोरी डोरी।

1 सन्देशरासक; पृ. 5. सं. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी व विश्वनाथ त्रिपाठी।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लोक-जीवन का एक अभिन्न अंग 'हाली' (सं. हालिक; कृषि-कर्म हेतु नियुक्त श्रमिक) का भी मीराँ के पदों में उल्लेख हुआ है। उजड्ड एवं मूर्ख को राजस्थान में व्यंग्यमें 'मोल्या' (बन्दर) कहते हैं। इस विशेषण का 'हालियों' के लिए प्रयोग करते हुए मीराँ कहती है––

हाल्यां-मोल्यां सूं काम नहीं रे, सीख नहीं सिरदार।

मीराँ-काव्य के अनुभूति या भाव-पक्ष के अन्तर्गत लोकतात्त्विक प्रभाव का विवेचन करने के अनन्तर अब हम उसके व्यंजना-पक्ष अथवा अभिव्यक्ति-पक्ष पर लोक-तत्त्व के प्रभाव की चर्चा करेंगे।

अभिव्यक्ति-पक्ष

मीराँ-काव्य के वर्ण्य-पक्ष के समान उसके अभिव्यक्ति-पक्ष पर भी लोकतात्त्विक प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इसका कारण है। मीराँ विशेष पढ़ी लिखी न थी। अतः न तो पाण्डित्य ही उसकी सीधी सच्ची प्रेम-व्यंजना को प्रभावित कर सका और न कल्पना का बौद्धिक विलास ही उस पर किसी प्रकार की कृत्रिमता का आवरण डाल सका। उसकी उत्कट प्रेमानुभूति तो लोकभाषा के ही सहज माध्यम से फूटी है। फलतः मीराँ की अभिव्यक्ति में लोकभाषा के शब्दों तथा कथन की लोक-व्यवहृत शैलियों का प्रयोग स्वाभाविक ही है। मीराँ-काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष पर लक्षित लोकतात्त्विक प्रभाव को हम निम्न रूपों में वर्गीकृत कर विचार कर सकते हैं।

(1) **लोकोक्तियाँ**––लोकोक्तियाँ लोकानुभव की ऋचाएँ हैं। इनमें लोक-जीवन के युग-युग के अनुभवों का सार संचित है। जन-जीवन के ये व्यावहारिक सूत्र हैं। जीवनानुभव पर आधारित होने के कारण इनकी व्यंजना बड़ी मार्मिक और गहरी होती है। मीराँ ने अपने पदों में प्रसंगानुसार विविध लोकोक्तियों का प्रयोग किया है, जिससे अभिव्यंजना में तीव्रता आगई है। उदाहरणार्थ–––

(क) **दाझ्या ऊपर लूण लगायो**, हिवड़ो करवत सार्‌यो।

(ख) **नाचण लागी तब घूंघट कैसो**, लोक लाज तिनका ज्यूं तोर्‌यो।

(ग) **गज सूं उतर गधे नहीं चढ़स्यां**, या तो बात न होई।

(घ) **हस्ती की असवारी पाछे, लाख कुतिया भूसी।**

(ङ) कासी को लोग बड़ो विसवासी। **मुख में राम बगल में फाँसी।**

(च) कहा बोझ मीराँ में कहिए, **सौ पर एक घड़ी।**

(2) **लोक-प्रचलित मुहावरे (Idioms) और कहावती पद्यांश (Phrases)**–लोकोक्तियों के साथ मीराँ ने लोक-जीवन में प्रचलित मुहावरों का भी प्रयोग किया है। कुछ को छोड़कर, जिनके प्रतिरूप या रूपान्तर हिन्दी में भी उपलब्ध हैं, ये हमारे साहित्यिक मुहावरों से सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि ये मूलतः राजस्थान में व्यवहृत लोक-भाषा के हैं। उदाहरणतः––

(क) सोती को सुपणा आविया जी, सुपणा **बिस्वा बीस।**

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

(ख) बाई ऊदां हो, लोकां रो भाव,
म्हे म्हाको राम लडावस्यां ।
(ग) गिरधर, दुनिया दे छै बोल ।
(घ) साध सन्त हिरदै बसै, हथलेवा को लाग्यो पाप ।
(ङ) आप तो जाय विदेसां छाये, हमको पड़ गयो झोल ।
(च) अंग भभूत गले मृगछाला, तू जन घुण्डियाँ खोल ।

मीराँ ने राजस्थानी लोक-भाषा के ऐसे और भी अनेक मुहावरों का प्रयोग किया है, जिन सबका यहाँ स्थानाभाव से परिगणन सम्भव नहीं ।

(3) लोक-भाषा के प्रचलित शब्द—मीराँ के काव्य में उपलब्ध लोक-तत्त्व के उपर्युक्त उपकरणों पर दृष्टिपात करने के अनन्तर उसमें प्रयुक्त लोक-भाषा के शब्दों के विषय में किंचित् उल्लेख असंगत न होगा । वैसे मीराँ की भाषा के प्रसंग में हमने अलग से इस पर विचार किया है, तथापि यहाँ प्रसंगत: यह निवेदन करना हम आवश्यक समझते हैं कि डाकोर की प्रति को आधार मानकर मीराँ की काव्य-भाषा के रूप के विषय में कोई निर्णय लेना भयंकर भूल होगी । वस्तुत: डाकोर की प्रति तथा उसके आधार पर पुनर्सम्पादित श्री परशुराम चतुर्वेदी की 'मीरांबाई की पदावली' से बढ़ कर मीराँ के पदों का भ्रष्ट और भ्रान्त पाठ शायद ही किसी संकलन में देखने को मिले । इसकी विशद चर्चा यथा-प्रसंग की जा चुकी है ।

जैसा कि कहा जा चुका है, मीराँ के पदों की भाषा मूलत: राजस्थानी थी । अत: उसमें राजस्थानी के देशज शब्दों का बाहुल्य सर्वथा स्वाभाविक है । राजस्थानी के इन विशिष्ट देश्य शब्दों की प्रकृति व अर्थ से अनभिज्ञ होने के कारण कुछ विद्वानों व विदुषियों ने अर्थ के नाम पर अनर्थ कर डाला है, जिसकी चर्चा 'शोध पत्रिका' (अप्रेल, 1965) में मैंने अलग से की है तथा उससे भी अधिक विस्तार से प्रस्तुत कृति के व्याख्या-खण्ड में की गई है ।

मीराँ द्वारा प्रयुक्त देश्य शब्दों के पहले दिए गए कुछ उदाहरणों से यह विदित होजाएगा कि मीराँ ने स्थानीय लोक-भाषा को ही, जो मीराँ की मातृ-भाषा थी, अपनी प्रेमाभिव्यंजना का माध्यम बनाया था । वैसे मीराँ के पद गुजराती, ब्रज आदि अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी उपलब्ध हैं, तथापि मीराँ के समष्टिरूप काव्य की भाषा राजस्थानी है—इसमें कोई सन्देह नहीं । मीराँ के पदों की लोकप्रियता का कारण उनमें व्यक्त प्रेमानुभूति की सच्चाई और अकृत्रिमता तो है ही, उनकी भाषा का यह लोकपक्षीय रूप भी मुख्य है, जिसके फलस्वरूप वे सन्तों व भक्तों के ही नहीं, अपितु हर धर्म-प्राण गृहिणी के कंठहार बने हुए हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण की उस अनन्य अनुरागिनी और प्रेम-दीवानी मीराँ का काव्य लोकजीवन के अन्तरंग स्पर्श से प्राणवान है । राजस्थानी लोक–जीवन इसमें पुष्प–गन्ध के समान सर्वत्र परिव्याप्त है । मीराँ के पदों में छलछलाता लोक–भाषा का यह जल कबीर-कथित 'कूप-जल' नहीं है, यह तो 'बहता नीर' है; नित्य निर्मल और स्वच्छ !

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी 'प्राचीन साहित्य' नामक पुस्तक में लिखा है— "भाषा जब तक जन-सामान्य को भावों में बहा न ले जाए, तब तक गल्प और गान का आविर्भाव नहीं हो सकता। सरस काव्य के रचयिता कालिदास एवं संस्कृत के गीतकार जयदेव भी बंगाली वैष्णवों की समता नहीं कर सकते। कालिदास का काव्य झरने की तरह सर्वाङ्ग रूप से नहीं बहता। उसका श्लोक अपने में ही सम्पूर्ण है। वह श्लोक हीरे के टुकड़े जैसा है, किन्तु नदी के समान कल-कल निनादिनी अविच्छिन्न धारा नहीं।"[1]

परन्तु मीराँ का काव्य तो उस कल-कल निनादिनी मन्दाकिनी की मधुर धारा के समान है, जो व्यक्तिनिष्ठ होकर भी लोक-जीवन के उपकूलों का स्पर्श करती हुई कृष्ण--प्रेम के महासिंधु में पर्यवसित होगई है।

1 प्राचीन साहित्य; कवीन्द्र रवीन्द्र।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

6

मीराँ व अन्य कवि

मीराँ की प्रेमाभिव्यंजना अथवा उसकी काव्य-साधना की तुलना कुछ मध्यकालीन एवं आधुनिक हिन्दी कवियों से की गई है तथा उसके आधार पर अनेक निष्कर्ष भी निकाले गए हैं। तुलना की इस प्रक्रिया का दुःखद पक्ष यह है कि उससे प्रायः इस प्रेम-योगिनी, भक्त-कवयित्री के साथ अन्याय ही हुआ है। मीराँ के मर्मज्ञ विवेचक श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ने यद्यपि इस सम्बन्ध में अपना अतीव महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित निर्णय दिया है, तथापि वे स्वयं भी घनानन्द से मीराँ की तुलना कर परोक्षतः इस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं रह सके हैं। श्री माधव लिखते हैं–

"जिस किसी कवि से मीराँ की तुलना करना मीराँ के दिव्य प्रेम का अनादर करना है। मीराँ का काव्य हृदय की निगूढ़ वेदना से प्रसूत है। मीराँ विरह की गायिका है और इसमें रंचमात्र भी शंका के लिए स्थान नहीं है कि अपने क्षेत्र में, उस क्षेत्र को आज के समालोचक बहुत ही सीमित या संकुचित क्यों न कहें, मीराँ सर्वश्रेष्ठ है।"[1]

मीराँ की अनूठी और सर्वथा अनुपम प्रेम-व्यंजना पर इससे सुन्दर टिप्पणी दी नहीं जा सकती। तथापि, तुलना के अभ्यस्त एवं 'सूर सूर, तुलसी ससि' की मनोवृत्ति से ग्रस्त हमारे समालोचकों ने मीराँ को बख्शा नहीं! यहाँ हम संक्षेप में केवल कुछ प्रमुख कवियों के साथ की गई मीराँ की तुलना पर अपने विचार प्रस्तुत करेंगे।

मीराँ और नरसी

यद्यपि नरसी एकान्ततः गुजराती भाषा के कवि थे एवं मीराँ मूलतः राजस्थानी थी, तथापि निश्छल एवं अगाध भक्ति-भावना की दृष्टि से मीराँ और नरसी में पर्याप्त साम्य है। नरसी मीराँ से लगभग 85 वर्ष पहले हुए थे। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपने द्वारा सम्पादित पदावली की भूमिका में इन दोनों की भक्ति-भावना, धार्मिक दिन-चर्या एवं गार्हस्थिक जीवन-स्थिति का अच्छा तुलनात्मक विवेचन किया है।[2] दोनों को ही अपने रूढ़ि-ग्रस्त समाज से तिरस्कृत हो, नाना कष्ट व यातनाएँ झेलनी पड़ी थीं। यद्यपि विनय के पदों की दृष्टि से दोनों में समानता है, परन्तु मीराँ

1 मीराँ की प्रेम-साधना; 'माधव', पृ. 225.
2 मीराँबाई की पदावली, पृ. 69.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

का विरह-निवेदन अधिक मार्मिक है। उसमें नारी-सुलभ वियोग-व्यथा की अत्यन्त नैसर्गिक व्यंजना हुई है। डॉ. मजमुदार ने दोनों की तुलना करते हुए ठीक ही लिखा है कि नरसी के पदों में कहीं-कहीं प्रभु-भक्ति के साथ तत्त्व-ज्ञान का निचोड़ भी उतरा है, जैसे—

1. 'ज्यां लगी आतमा-तत्त्व चिन्त्यो नहि, त्यां लगी सर्व झूठी।'
2. 'अखिल ब्रह्माण्ड मां एक तु श्री हरि।'

वहाँ 'व्याकुल विरहिणी' मीराँ में ज्ञान-चर्चा की अपेक्षा वियोग का स्वर ही अधिक तीव्र है।[1]

शृंगार (प्रेम) चित्रण में जहाँ नरसी का शृंगार किंचित् नग्न व अमर्यादित है, वहाँ मीराँ का संयत और गंभीर। वस्तुतः मीराँ के पदों में शृंगार का बड़ा ही ललित-मधुर रूप निखरा है। नरसी और मीराँ की तुलना करते हुए डॉ. तारापुरवाला लिखते हैं—

"The Mehta is not merely a devotee ordinarily understood. There is a **human** element in his attachment to Krishna, which is very refreshing. He often addresses his Lord in terms of easy familiarity. In Narsi Mehta we have a **man's** devotion to his Lord, while Miran is the **woman**, utterly oblivious of herself. These two have, therefore, divided the whole of Gujrati Community between them."[2]

मीराँ और घनानन्द

प्रेम-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से मीराँ की तुलना प्रायः घनानन्द से की गई है। चतुर्वेदीजी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"मीराँबाई की तुलना हम इस बात को दृष्टि में रखते हुए विरह-कवि घनानन्द के साथ कहीं अधिक उपयुक्त ढंग से कर सकते हैं।"[3] इसी प्रसंग में चतुर्वेदी जी आगे लिखते हैं–"विरह-निवेदन की क्रिया में घनानन्द मीराँ से अवश्य बढ़ जाते हैं। घनानन्द के विरह-निवेदन में एक असमर्थता या निरुपायता प्रेरित आश्रित का अनूठा अनुरोध है, जो विवशता से भरी हुई मीराँ की बेचैनी से भी कहीं अधिक प्रभावशाली बन जाता है। उसके एक-एक शब्द से किसी बैठते हुए दयनीय हृदय की दर्द-भरी आह निकलती जान पड़ती है। घनानन्द अपने विरह-निवेदन में वास्तव में अद्वितीय हैं। घनानन्द में कला-पक्ष भी मीराँ से कहीं अधिक स्पष्ट है और कवि-कौशल में वे मीराँ से अधिक प्रवीण हैं।"[4]

श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' भी कुछ इसी स्वर में अपना अभिमत देते हुए लिखते हैं—"हिन्दी साहित्य में विरह के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए घनानन्द।

1 मीराँबाई—एक मनन, पृ. 175.
2 Dr. I. J. S. Taraporewala's "Introduction to Selections from Gujrati Literature." Vol. I, Calcutta University, 1924.
3 मीराँबाई की पदावली, पृ. 72.
4 वही।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

निश्चय ही विश्व-साहित्य में घनानन्द के समान विरह का कवि पाना कठिन है। घनानन्द का एक-एक शब्द विरह के रस से सराबोर है। कला-पक्ष तो मीराँ की अपेक्षा सुव्यवस्थित है ही, भाव-पक्ष भी मीराँ से किसी भाँति घटकर नहीं है।"[1]

जहाँ तक विश्व-साहित्य में घनानन्द के विरह-वर्णन की अद्वितीयता की बात है, हम इस विवादास्पद मत के विषय में इतना ही कहना चाहेंगे कि विश्व-साहित्य की बात तो दूर, राजस्थानी प्रेमाख्यानक काव्यों, विशेषतः ढोला मारू रा दूहा में वर्णित (मारवाणी का) विरह-वर्णन ही उसकी टक्कर में किसी प्रकार कम नहीं है, जिसमें नारी हृदय के सहज, स्वाभाविक भावोद्‌गारों की अत्यन्त मर्मस्पर्शी व्यंजना हुई है।

रही मीराँ व घनानन्द की तुलना—इस विषय में हमारे विचार से मात्र विरह-वर्णन के आधार पर ही इन दोनों कवियों को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः इन दोनों की तुलना की बात ही असंगत है। घनानन्द के प्रेम का आलम्बन सर्वथा लौकिक (सुजान) है, जबकि मीराँ का आराध्य (श्रीकृष्ण) लोकोत्तर है। फलतः घनानन्द का विरह-वर्णन अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी होने पर भी उस लौकिक स्थूलता एवं ऐन्द्रिकता (Sensuousness) से पूर्णतः मुक्त नहीं रह सका है, जिसका मीराँ में होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह ठीक है कि घनानन्द की लौकिक रति सुजान के अपमान की चोट से आहत हो ईश्वरोन्मुख होगई थी, परन्तु सुजान के प्रति उनकी आसक्ति कदाचित उनके मन से पूरी तरह जा नहीं सकी थी। जा भी नहीं सकती थी। घनानन्द के काव्य में लौकिक प्रेम की यह धारा अंतःसलिला के समान स्पष्टतः प्रवाहित है। जो विद्वान् घनानन्द को भक्ति के रंग में रंग कर उन्हें एकान्ततः भक्त-कवियों की श्रेणी में ला बिठाने का प्रयास करते हैं, वे वस्तुतः घनानन्द की प्रेमी आत्मा के साथ न्याय नहीं करते। मीराँ कृष्ण-प्रेम की कवयित्री है, घनानन्द लौकिक प्रेम के कवि हैं। मीराँ का विरह एक भक्त-कवयित्री का विरह है, जबकि घनानन्द का एक लौकिक प्रेम की चोट से आहत प्रेमी का। विरह दोनों का ही सर्वोपरि है, परन्तु परिवेश भिन्न है। एक भगवान् के मन्दिर में जलती दीपशिखा है तो दूसरा विरही के शयनागार में जलता दीप! जलते दोनों ही है, परन्तु दोनों की साधना भिन्न परिवेशों में भिन्न प्रेम-देवताओं को समर्पित है। ऐसी स्थिति में, इनमें तुलना का आधार ही क्या रह जाता है? घनानन्द ने अपनी प्रेमिका को पाया नहीं, इसलिए वे उसके विरह की निर्धूम ज्वाला में दग्ध हुए, परन्तु मीराँ तो प्राप्ति नहीं, समर्पण की वह चाह है, जो अर्चना की धूप-गन्ध सी लहराती हुई अपने आराध्य के चरणों में विसर्जित होगई है।

मीराँ और महादेवी

घनानन्द के समान मीराँ की तुलना महादेवी वर्मा से भी बहुधा की जाती है। सच तो यह है कि मीराँ और महादेवी की तुलना की अपेक्षा घनानन्द और महादेवी

1 मीराँ की प्रेम-साधना—भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की तुलना करना कहीं अधिक संगत है क्योंकि दोनों की काव्य-प्रेरणाओं का स्रोत मूलतः लौकिक प्रेम की निष्फलता में है, जो भिन्न युगीन परिस्थितियों में क्रमशः आध्यात्मिकता एवं रहस्य-भावना के रूप में प्रतिफलित हुई है। इस सत्य को स्वीकार किए बिना हम उनकी काव्य-चेतना को ठीक से नहीं समझ सकते। तथापि, न जाने क्यों हमारे हिन्दी के समालोचकगण महादेवी की तुलना मीराँ से करने में कुछ विशेष रसानुभव करते हैं। यह जीवन का सहज सत्य है कि किसी भी कवि के कृतित्व का सम्यक् मूल्यांकन उसके जीवनकाल में नहीं किया जा सकता। उसके लिए एक दूरी, समय का एक निश्चित अन्तराल अपेक्षित होता है, जब कवि के व्यक्तित्व से निरपेक्ष हो उसके कृतित्व को ही आधार मान कर उसका मूल्यांकन करना संभव हो पाता है। कवि के जीवन-काल में, अनेक पूर्वाग्रहों के कारण, जो प्रायः अपरिहार्य होते हैं, कुछ दृष्टि-दोष आ ही जाता है। श्रीमती महादेवी वर्मा के विषय में, विशेषतः उनकी रहस्य-भावना एवं मीराँ से सम्बद्ध उनकी चर्चा में हमारे अधिकांश समालोचकों की दृष्टि बहुत कुछ कवयित्री के पक्ष में उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होगई जान पड़ती है। यही कारण है कि मीराँ पर लिखी गई प्रायः हर कृति में निरपवाद रूप से उनकी तुलना महादेवी वर्मा से करने की एक परिपाटी-सी चल पड़ी है, जिसका वस्तुतः कोई औचित्य नहीं है।

इस सम्बन्ध में विद्वानों के कुछ मत देखिए—"हिन्दी कवियों में मीराँ के सबसे निकट आने वाले बस दो तीन ही हैं—वे हैं जायसी, घनानन्द और महादेवी।"[1] तथा "मीराँ के साथ महादेवी की तुलना आजकल बहुत प्रचलित है। परन्तु प्रायः आलोचक यह भूल जाते हैं कि मीराँ मध्यकाल की एक भक्त हैं और महादेवी आधुनिक काल की एक कवि। महादेवी विरह की पुजारिन है और विरह में ही चिर है।"[2] आदि आदि।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने दोनों की तुलना करते हुए किंचित् अधिक स्पष्टता एवं साहस से काम लिया है। वे लिखते हैं—

"मीराँबाई की विरक्ति अथवा 'भगति-रसीली' की अनन्यता कुछ भिन्न क्षेत्र की बातें हैं, जिस विचार से उनके साथ यदि हम चाहें तो महादेवी वर्मा का नाम ले सकते हैं।"[3] वे आगे लिखते हैं—'दार्शनिक आदर्शों के फेर में पड़ जाने के कारण उनकी कविताओं में क्लिष्ट कल्पना का अंश अधिक आ जाता है। भावों की न्यूनाधिक अस्पष्टता के कारण, उनमें उनके असीमित माधुर्य की सफल अभिव्यक्ति भी नहीं हो पाती।....कल्पना-बाहुल्य उनकी पंक्तियों को बहुत भाराक्रान्त-सा बना देता है।"[4]

1 मीराँ की प्रेम-साधना—श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', पृ. 225.
2 वही, पृ. 231.
3 मीराँबाई की पदावली, पृ. 85.
4 वही, पृ. 84–85.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

वस्तुतः मीराँ व महादेवी के काव्य का अन्तर समझने के लिए महादेवी की रहस्य-भावना का तात्त्विक विश्लेषण आवश्यक है। इस सम्बन्ध में, हमारी धारणा है कि आधुनिक हिन्दी कविता में रहस्यवाद के नाम पर एकान्त कल्पना एवं बौद्धिकता को ही अनुभूति का पर्याय मान कर जो काव्य-रचना की जा रही है, वह एक निरी प्रवंचना है। इसे आध्यात्मिक कविता (रहस्यवादी) समझने की भ्रान्ति का मूल कारण यह है कि हमने कल्पना को ही अनुभूति का पर्याय मान लिया है। फलतः इन प्रेमपरक कविताओं को हमने कल्पना के मान दण्ड से नपरख, अनुभूति के आधार पर उनका मूल्यांकन करने का प्रयास किया। इन रहस्यवादी कवियों (या कवयित्रियों) ने भी अपनी समर्थ अभिव्यंजना शक्ति द्वारा कल्पना का ऐसा व्यामोह उत्पन्न किया कि उनका सम्पूर्ण बौद्धिक अतिचार हमें उनकी स्वानुभूत रागात्मकता की ही मिथ्या प्रतीति कराने लगा। इस प्रकार इन रहस्यवादी कवियों के प्रति आलोचकों का 'एप्रोच' मूल से ही गलत रहा।

यदि कोई दर्शनशास्त्र का विद्वान् या व्याख्याता केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करने मात्र से ही दार्शनिक (Philosopher) के अभिधान का अधिकारी मान लिया जाए तो अपराध-विज्ञान (Criminology) के विशेषज्ञ को सबसे बड़ा अपराधी मानना होगा। इसी प्रकार, यदि कोई कवि स्वयं किसी अनुभूति से आन्दोलित हुए बिना ही केवल अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर किसी अनुभूति या भाव-दशा का चित्रण करे तो उसे उस अनुभूति का भोक्ता समझ लेना क्या भ्रान्ति नहीं है? कबीर ने जैसा अनुभव किया था, वैसा ही लिखा ('तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी')। यही बात मीराँ के विषय में भी सत्य है। परन्तु हमारे ये आधुनिक रहस्यवादी कवि क्या अपनी कविता के अनुभूति-पक्ष के विषय में इस सच्चाई का दावा कर सकते हैं? अवश्य ही इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। ऐसी स्थिति में, हमारा आग्रह है कि उनकी रचनाओं के मूल्यांकन का आधार भावगत न होकर कल्पनागत ही होना चाहिए ताकि इस भ्रामक मूल्यांकन में उत्पन्न प्रश्न, जैसे मीराँ और महादेवी की तुलना, आदि का स्वतः समाधान होजाए। भला मूलतः अनुभूतिमूलक काव्य की एकान्त कल्पना-प्रसूत काव्य से कैसी तुलना? इसका यह तात्पर्य नहीं कि रहस्यवादी कवियों की समस्त काव्य-रचना सर्वथा अनुभूति-शून्य है, किन्तु जहाँ भी उन्होंने अलौकिक आलम्बन के माध्यम से व्यक्त अपने भावों को कल्पना का जामा पहनाकर स्वानुभूति के रूप में प्रस्तुत किया है, वह एक निरा साहित्यिक छद्म है। यदि रीतिकालीन कवियों द्वारा रचित कल्पना एवं चमत्कार-प्रधान कविताओं को हमने अनुभूति-पक्ष से हीन होने के कारण ही उत्कृष्ट काव्य के पद से च्युत कर दिया है तो हमारे इन आधुनिक रहस्यवादी कवियों की कविताएँ अनुभूति की ओट में यह काल्पनिक खिलवाड़ कर हमें कब तक भ्रान्ति में डाले रहेंगी? रीतिकालीन कवियों में कल्पना की सच्चाई तब भी थी, परन्तु इनमें तो कल्पना का विशुद्ध कुहक है। उनकी समर्थ अभिव्यंजना-शक्ति ने भी कल्पना के छद्म-विधान द्वारा यह मात्रानुभूति का अभ्यास (Illusion)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उत्पन्न करने में बड़ा योग दिया है। परन्तु मीराँ के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति-पक्ष के विषय में ऐसी कोई असंगति नहीं है। उसकी अनुभूति में जितनी सच्चाई है, उतनी ही अभिव्यक्ति में भी। तद्विपरीत, महादेवी वर्मा की रहस्यवादी कविताएँ तथा उनमें निहित विरह-भावना, यदि लेखक को अन्तर्विरोधी या स्वतोव्याघात-मूलक कथन की छूट दे दी जाए, तो प्राय: लौकिक एवं 'काल्पनिक अनुभूति' की ही कविताएँ हैं, जिनमें कल्पना ने ही अनुभूति को रूपायित किया है। फलत: महादेवी वर्मा की विरह-व्यंजना का रूप न लौकिक रह सका है, न अलौकिक ही। दूसरे शब्दों में, उनकी कविताएँ अलौकिक या रहस्यमूलक शब्दावरण में निबद्ध लौकिक विरह के गीत हैं, जबकि मीराँ के पद कृष्ण-प्रेम में दीवानी तथा उसके वियोग में व्याकुल विरहिणी के घायल मन के स्वत: स्फूर्त उद्‌गार हैं। इस तथ्य को लक्ष्य कर प्रसिद्ध आलोचक स्व० श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भी दबी जबान से स्वीकार किया था—

"महादेवी की कविताओं में अनुभूति तो है ही, किन्तु उसमें कलापक्ष (अभिव्यक्ति-पक्ष) इतना प्रधान है कि हृदय-पक्ष (भाव-पक्ष) अत्यन्त अलंकृत हो गया है। वह सहज सुलभ नहीं रह गया है, रहस्य बन गया है।"[1]

यदि मान्य द्विवेदीजी अपनी बात कुछ अधिक स्पष्टता से कह देते तो शायद उनके और हमारे निष्कर्ष में अधिक अन्तर नहीं रहता।

महादेवी वर्मा की कविता में भी जहाँ कल्पना, अनुभूति की स्थानापन्न होकर नहीं आती एवं विरहोद्‌गार जहाँ भावना के सहज स्तर पर फूट पड़े हैं, वहाँ उनकी विरह-व्यंजना निश्चय ही अतीव मार्मिक होगई है। उदाहरणत: प्रिय की प्रतीक्षा में आकुल विरहिणी का यह अनुनय कुछ कम रस-संवेद्य नहीं है—

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा, कितने संदेस,
पथ में बिछ जाते बन पराग।
गाता प्राणों का तार-तार,
अनुराग भरा उन्माद राग !
आँसू लेते वे पद पखार !

परन्तु प्रश्न यह है कि 'वे' कौन हैं ? महादेवी के संदर्भ में, जहाँ वे अज्ञात हैं, मीराँ में उनका स्वरूप स्पष्ट है। यदि यह कहा जाए कि महादेवी भी कबीर के समान ईश्वर-प्रेम में विकल है तथा उनका सम्पूर्ण विरह उन्हीं के प्रति निवेदित है, तर्क का विषय हो सकता है, परन्तु इस स्थापना का साक्ष्य न उनकी कविताएँ ही देती हैं, न उनका जीवन ही। तद्विपरीत, मीराँ के जीवन का तो प्रत्येक क्षण अपने आराध्य गिरधरलाल के ही समर्पित था। इसीलिए उसका जीवन उसके कृतित्व से एकरूप होगया था। उसके गीतों का विरह उसके प्राणों का ही विरह था; जीवन

1 'साकल्य'; श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

का विरह था। उसने जो अलौकिक प्रेम की पीड़ा सही, उसे ही कहा। उस दर्द को सहने और उसे कहने का अन्तर ही मीराँ और महादेवी का अन्तर है। यदि महादेवी वर्मा की प्रेम-व्यंजना पर रहस्यात्मकता का यह कृत्रिम और स्वारोपित आवरण न चढ़ा होता, तो वे कदाचित् आधुनिक हिन्दी कविता की, प्रेम और विरह की सर्वोपरि गायिका होतीं! परन्तु रहस्य-भावना के आवरण में उनकी विरह-व्यंजना का सहज, मौलिक और निश्छल स्वरूप ही बदल गया है। वह अनुभूतिजन्य एवं भावपूर्ण न होकर निरा बौद्धिक और काल्पनिक होगया है, जिसके फलस्वरूप वे न अलौकिक प्रेम के कवि—कबीर और मीराँ से तुलनीय हो सकी हैं और न लौकिक प्रेम के उत्कृष्ट गीतिकार बच्चन और नीरज से ही। उनका सम्पूर्ण रहस्यवाद, वस्तुतः इस बीच की रहस्यमयी स्थिति से ही अनुस्यूत है।

इस सम्बन्ध में, श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ने अपनी मान्यता को बड़े ही स्पष्ट एवं असंदिग्ध शब्दों में रखा है। वे लिखते हैं—

"महादेवी की वेदना भौतिक है—मीराँ की आध्यात्मिक। महादेवी में लौकिक दाह है—मीराँ में पारलौकिक कराह। महादेवी का प्रियतम लौकिक ही है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।"[1]

वे आगे लिखते हैं—"केवल वेदना के आधार पर उन्हें एक कैसे कहा जा सकता है? जब दोनों की प्रेरणाओं के स्रोत भिन्न हैं, दिशा भिन्न है और भिन्न है अनुभूतियों की विभूति भी।"[2]

श्री 'माधव' ने कुछ गलत नहीं कहा है।

ऐसी स्थिति में, समता का वह कौनसा धरातल है, जिस पर मीराँ और महादेवी की तुलना की जाती है, हम समझ नहीं पाते?

मीराँ और सूफी कवि

मीराँ की प्रेम-भावना पर कुछ विद्वान् सूफी प्रेम-पद्धति का प्रभाव देखते हैं, जो निरा असंगत है। प्रेम या राग-तत्त्व, सूफियों में ही क्यों, अपनी व्यापकता में सार्वत्रिक एवं विश्वजनीन है, केवल उसकी अभिव्यक्ति का रूप और माध्यम ही देश, जाति व कालानुसार विभिन्न रहा है। अतः अपनी प्रेमोत्कटता में मीराँ सूफियों से तुलनीय है, अथवा मीराँ में सूफियों की-सी प्रेम की तीव्रता या अनन्यता है, यह एक बात है, जिससे हम पूर्णतः सहमत हैं; परन्तु यह कहना कि मीराँ की प्रेम-भावना पर सूफी प्रेम-तत्त्व या उनकी प्रेम-पद्धति का प्रभाव है, एक सर्वथा अनर्गल बात है, जो 'घुणाक्षर-न्याय' से ही सिद्ध की जा सकती है। तथापि, एक विद्वान् ने मीराँ के एक दो पदों में आए प्रासंगिक उल्लेखों के आधार पर उनकी प्रेम-वेदना पर विदेशी छाप देखते हुए निम्न अभिमत दिया है—

1 मीराँ की प्रेम-साधना : 'माधव', पृ. 52.
2 वही, पृ. 51.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

"मीराँबाई ने माधुर्य-भाव की उपासना ग्रहण की थी, पर बाहरी प्रभाव उन पर भी पड़ा था। सूफियों के प्रभाव से उनकी कविता या भजन प्रभावित हैं या नहीं, इसका विश्लेषण करना हमारा उद्देश्य नहीं है, पर इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि उनकी प्रेम की वेदना में विदेशी छाप है अवश्य और कहीं-कहीं उनके पदों में जुगुप्सा वाली विदेशी पद्धति भी मिलती है। 'सूली ऊपर सेज पिया की मिलणो किहि विध होय' से ही इसका पता चल जाता है। यदि इतने से ही किसी को सन्तोष न हो तो निम्नलिखित पद देखिए—

काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे, कौवा तू ले जाइ ।
ज्यां देसां म्हारो पीव बसै, (सजनी) वे देखैं, तू खाइ ।।

कलेजा काढ़कर दिखलाने तक तो कोई बात नहीं, पर कौवे का उसे खाना अवश्य विदेशी छाप है।"[1]

पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र के उपर्युक्त कथन से केवल यही सिद्ध होता है कि मीराँ ने अपनी विरह-व्यंजना के अन्तर्गत अपनी समकालीन काव्य-रूढ़ियों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया है, परन्तु इन दो-चार गिने-चुने उल्लेखों के आधार पर यह स्थापना करना कि मीराँ की प्रेम-वेदना सूफियों से प्रभावित है, उसकी प्रेम-साधना व भक्ति-भावना को एक भिन्न परिवेश में प्रस्तुत करना है, जो सर्वथा असंगत, अनुपयुक्त एवं निराधार है। मिश्रजी जिसे 'प्रभाव' की संज्ञा देते हैं, मैं उसे 'प्रयोग' कहना अधिक उपयुक्त समझता हूँ क्योंकि 'प्रभाव' शब्द में निहित अर्थ-व्याप्ति मीराँ पर लागू नहीं होती। न मीराँ की प्रेम-भावना ही और न उनकी प्रेम-व्यंजना ही सूफी प्रेम-पद्धति से प्रभावित है। मिश्रजी द्वारा अपने कथन की पुष्टि में दिए गए ये उद्धरण वस्तुतः तत्कालीन प्रेम-काव्यों में प्रयुक्त काव्य-रूढ़ियों (Motifs) के ही सामान्य उदाहरण हैं, जिनका प्रसंगतः मीराँ ने भी उपयोग कर लिया है। मध्यकालीन हिन्दी व राजस्थानी प्रेमाख्यानक काव्यों से जिनका थोड़ा भी परिचय है, वे जानते हैं कि उनमें प्रेम एवं विरह-वर्णन की प्रचलित काव्य-रूढ़ियों का किस प्रकार मुक्त-भाव से आदान-प्रदान होता रहा है। उदाहरणार्थ ढोला-मारू का यह दोहा देखिए—

कउआ दिऊँ वधाइयाँ, प्रीतम मेलई मुज्झ ।
काढ़ि कलेजउ आपणउ, भोजन दिउंली तुज्झ ।।75।।

यहाँ नायिका (मारवणी) द्वारा अपना कलेजा निकाल कर कौवे को देने के उल्लेख मात्र से क्या हम यह मान लें कि ढोला-मारू पर सूफी प्रभाव है? ये तो विरह-वर्णन के सामान्य उद्गार हैं, जिनकी परम्पराएँ ठेठ भारतीय हैं। अतः इनके उल्लेख से चौंकने की आवश्यकता नहीं है। 'कौआ' अतीत काल से ही विरहिणियों का प्रिय-आगमन-सूचक प्रिय पक्षी रहा है, जिसे लेकर अपभ्रंश-काव्यों में एक से एक अनूठी उक्तियाँ कही गई हैं। यदि जायसी सहित अन्य सूफी कवियों ने इसका

1 विहारी की वाग्विभूति ; पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र; पृ. 33–34.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विरह-वर्णन के प्रसंग में प्रयोग किया है तो यह सूफी-काव्य पर भारतीय प्रभाव का द्योतक है न कि उल्टे भारतीय काव्यों पर सूफी प्रभाव का। फारसी काव्यों में प्राय: बुलबुलें उड़ती हैं, कौए नहीं।

यथा—

1. ऐ बुलबुले गोइंदा व ए कब्के खिरामाँ।
मैं खुर कि ज़े मै वाद हमेशा परो वालत ।।[1]

2. ज़े हर सू बुलबुले आशिक़ दर अफ़गाँ।
तनुम दरमियाँ वादे सब कर्द ।।[2]

रही 'कलेजा निकालने' जैसी शब्दावली की वात, तो उसका ठेका कोई सूफी कवियों ने ही नहीं ले रखा है। ऐसे वर्णन हमारे प्राचीन काव्यों में शतश: बिखरे पड़े हैं। एक और उदाहरण लीजिए—

केसुय कलिय ति वांकुडी, आंकुडी मयण ची जाणि।
विरहिय ना इणि कालि ज, कालिज काढइ ताणि ।।29।।
(34)[3]

अत: इस प्रकार के फुटकर उद्धरणों के आधार पर, जो काव्य की वर्णनात्मक रूढ़ियों की कोटि में आते हैं, मीराँ के मूल प्रेम-भाव या उसकी सहज-विरह वेदना को विदेशी प्रभाव से आक्रान्त मानना वस्तुत: अनजाने अपनी ही चीज को पराई बताना है।

मीराँ की प्रेम-भावना पर सूफी प्रभाव हो ही कैसे सकता है? ईश्वर के प्रति सूफी प्रेम-भावना आशिक-माशूक की है, जो मीराँ की दाम्पत्य-भाव मूलक माधुर्योपासना के सर्वथा विपरीत है। दूसरे, सूफी मत मूलत: इस्लाम से भिन्न नहीं है, जबकि मीराँ विशुद्ध भारतीय वैष्णव-भक्ति-परम्परा की कवयित्री है। वास्तव में सूफीमत इस्लामी रहस्यवाद का ही दूसरा नाम है—

"Sufism is the name given to the mysticism of Islam. Sufism may be defined as the mystical movement of an uncompromising Monotheism."[4]

साथ ही, सूफीमत का उपजीव्य फारस की रहस्यवादी विचारधारा है, जिसका मीराँ की विशुद्ध भारतीय प्रेम-भावना से कोई साम्य नहीं है—

"The Indian Sufism has largely been built upon the mystical ideas of Persia where it has reached the point of its highest attainment by fifteenth century."[5]

1 सनाई; ईरान के सूफी कवि, ले. श्री बाँकेबिहारी व कन्हैयालाल, पृ. 26.
2 हाफिज; वही, पृ. 357.
3 वसन्तविलासफागु, सं. मधुसूदन चिमनलाल मोदी, पृ. 5.
4 *A. J. Arbery* : Sufism, p. 11–12 (First Edition, 1950).
5 *John A. Subhan* : Sufism, Its Saints and Shrines (Lucknow, 1938).

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अतः केवल प्रेम-तत्त्व या विरह-वर्णन की कुछ प्रयोग-रूढ़ उक्तियों के साम्य के आधार पर ही मीराँ की सूफी कवियों से तुलना कोई अर्थ नहीं रखती और न उसके आधार पर निकाले गए भ्रामक निष्कर्ष ही मीराँ की काव्य-चेतना के स्वरूप को समझने में सहायक हो सकते हैं। श्री ललिताप्रसाद सुकुल एवं डॉ. तारकनाथ अग्रवाल ने भी मीराँ पर सूफी मत के प्रभाव की धारणा को भ्रान्त व निर्मूल बतलाया है।[1] डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने भी इस धारणा का खण्डन किया है—

"मीराँ की प्रेमाभिव्यक्ति पर सूफी प्रभाव देखना संगत प्रतीत नहीं होता।"[2]

अतः जैसा कि हम कह आए हैं, अपनी उत्कट प्रेम-व्यंजना एवं निश्छल आत्म-निवेदन अथवा आत्म-समर्पण में मीराँ निश्चय ही सूफी कवियों से तुलनीय है, परन्तु उसे सूफी प्रेम-पद्धति से प्रभावित मानना मीराँ की मूल प्रेम-भावना व काव्य-चेतना को ही विकृत करना है।

मीराँ और गोदा

गोदा आण्डाल तमिल की प्रसिद्ध वैष्णव भक्त-कवयित्री होगई हैं। तमिल-साहित्य में इनका वैसा ही स्थान है, जैसा हिन्दी में मीराँ का। दोनों ही गोपी-भाव के प्रेम की मूर्त प्रतिमाएँ थीं एवं जीवन-भर कृष्ण के अनन्य प्रेमोन्माद में डूबी रहीं। गोदा ने 'श्री सूक्तियों' के छठे दशक में स्वप्न में 'माधव' के साथ होने वाले अपने विवाह का वर्णन किया है, जो मीराँ के दीनानाथ के साथ सम्पन्न हुए स्वप्न-विवाह से तुलनीय है—'माई, म्हांने सुपना में परण्या दीनानाथ।' मीराँ के समान ही 'आण्डाल' ने श्रीकृष्ण-मिलन-जन्य-मनोल्लास एवं उनकी विरह-जन्य-वेदना का मार्मिक चित्रण किया है। उसके प्रणय-निवेदन में बहुत कुछ मीराँ की-सी ही भावाकुलता है। कृष्ण की जिस अनुपम रूप-माधुरी पर मीराँ रीझ गई थी, आण्डाल भी उसके सम्मोहन से मोहित होगई थी। आण्डाल के प्रियतम "बालसिंह सम कमल-नयन तथा सूर्य-चन्द्र सम आनन वाले हैं। उनके कपोल गोल, अधर अरुणारे, नासा शुक सदृश एवं भौंहें धनुषवत् हैं। उनके गले में वनमाला और मुख पर मुस्कान शोभित है।"[3]

सावन में उमड़ती घटाओं को देखकर मीराँ को जैसे श्याम की याद सताने लगती है, वैसे ही आण्डाल भी अपने साँवरे की सुधि से सन्तप्त हो उठती है। वह मेघों को सम्बोधन कर कहती है––"नील कालीन की भाँति आकाश में बिछे हुए हे मेघो! मुक्ता-राशि बरसाने वाले हे दानियो! तुम्हीं बताओ, सुन्दर साँवरे की बात क्या रही? इस आधी रात में मैं इस तरह दोनों ओर से झुलस रही हूँ। मेरी इस दशा पर तनिक तरस तो खाओ।"

1 देखिए 'मीराँ स्मृति ग्रन्थ' में उक्त दोनों विद्वानों के लेख।
2 राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ. 65, डॉ. हीरालाल माहेश्वरी।
3 श्री गोदाम्बाकृत गीतावली, अनु. श्री लक्ष्मणाचार्य, पृ. 1, वैष्णवधर्मसंविवर्धनी सभा-शिवपुरी, ग्वालियर (1925).

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ के समान आण्डाल अपने भी प्रियतम के विरह में सब वस्त्र-सज्जा एवं रत्नाभरण आदि त्याग देती है। यह सब भाव-साम्य होने पर भी मीराँ और आण्डाल के प्रणय-निवेदन में थोड़ा अन्तर है। वह अन्तर दोनों के संस्कारों का है। आण्डाल विषम जीवन-स्थितियों में एक साधु द्वारा पालित हुई थी एवं बचपन से ही भगवान् 'रंगनाथ' के अर्पित होगई थी। अतः जीवन की क्रूर प्रताड़नाओं ने उसे किंचित् अधिक साहसी एवं प्रगल्भ बना दिया था। फलतः वह अपने प्रणय-निवेदन में कहीं-कहीं उन्मुक्त प्रेम-वर्णन करने से भी नहीं हिचकिचाती है। एक स्थल पर वह कहती है—"जैसे ब्राह्मणों के यज्ञ में देवताओं को लक्ष्य करके अर्पित की जाने वाली हवि को कोई जंगली स्यार सूँघने लगे, वैसे ही चक्रधर, शंखधर भगवान् को लक्ष्य कर उभरे हुए मेरे उरोजों को यदि मानवों के उपभोग्य बनाने की चर्चा चली तो हे मन्मथ ! मैं जीवित नहीं रहूँगी।"[1]

परन्तु अपने राजोचित शील व संस्कारों के कारण मीराँ अपने प्रणय-निवेदन में इतनी प्रगल्भ नहीं हुई कि अपने 'उन्नत उरोजों' की बात करे। तथापि, यह अन्तर नगण्य है एवं भक्त-कवियों या कवयित्रियों में यदि मीराँ किसी से सर्वाधिक तुलनीय है तो वह इस तमिल-कवयित्री आण्डाल से ही, जिसे तमिल-मीराँ कहने में कोई अत्युक्ति न होगी।

उपसंहार—उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त मीराँ की तुलना प्रायः कबीर, चन्द्रसखी व सुभद्राकुमारी चौहान से भी की जाती है। जहाँ तक कबीर का सम्बन्ध है, यद्यपि कबीर निर्गुणोपासक सन्त-कवि थे एवं मीराँ सगुणोपासिका भक्त-कवयित्री, तथापि प्रेम की अनन्यता एवं विरह-व्यंजना की तीव्रता की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य है और इस साम्य का आधार है दोनों का नारी-भाव से विरह-निवेदन। मीराँ तो अपने गिरधरलाल की 'जनम-जनम की दासी' थी ही, कबीर भी स्वयं को अपने 'राम की बहुरिया' ही मानते थे। फलतः पत्नी-सुलभ विरह की तीव्रता एवं उत्कटता का दोनों में ही अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है। उनकी विरहोक्तियों में निहित इस साम्य का हमने पुस्तक के व्याख्या-खण्ड में यथास्थान सोदाहरण उल्लेख किया है। अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है। वस्तुतः मीराँ की-सी निश्छल एवं भाव-प्रवण विरह-व्यंजना हमें कबीर में ही दिखाई देती है।

मीराँ के अनेक पद या पदांश किंचित् रूपान्तर के साथ 'चन्द्रसखी' से मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि राजस्थान में, विशेषतः महिला-समाज में, चन्द्रसखी के भजन मीराँ के समान लोकप्रिय हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति में चन्द्रसखी के भजन मीराँ से भी अधिक लोकप्रिय हैं।[2] जैसे मीराँ के पदों में 'मीराँ के प्रभु गिरधरनागर' की छाप प्रायः मिलती है, वैसे ही चन्द्रसखी के पदों में, 'चन्द्रसखी भज

1 तमिल और उसका साहित्य, पृ. 65.

2 श्री अगरचन्द नाहटा (विक्रम, मार्गशीर्ष सं. 2009) श्री मनोहर शर्मा (राजस्थान-भारती, अप्रेल, 1950) श्री कैलासचन्द्र माथुर (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 12 जुलाई, 1953)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

बालकृष्ण छवि' की । इससे अनुमान किया जा सकता है कि चन्द्रसखी के आराध्य बालकृष्ण थे । मीराँ के पदों के समान चन्द्रसखी के पदों में भी उनकी लोकप्रियता व मौखिक परम्परा के कारण प्रक्षेप का बहुत समावेश होगया है, जिसके फलस्वरूप उनके पदों का मूल व प्रामाणिक रूप खोज निकालना एक समस्या होगई है। प्रसिद्ध विद्वान् श्री प्रभूदयाल मीतल ने बड़े परिश्रमपूर्वक चन्द्रसखी के जीवन व कृतित्व पर शोध कर लिखा है—

"मेरी खोज से यह निश्चय होता है कि चन्द्रसखी स्त्री नहीं, पुरुष थे। वे विक्रम की अठारहवीं शती के आरम्भ में विद्यमान थे।"[1]

चूँकि चन्द्रसखी का समय मीराँ के बाद है, अतः मीराँ के पदों की छाया उन पर देखी जा सकती है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने एक बड़ी आश्चर्यजनक तुलना की है और वह है मीराँ की सुभद्राकुमारी चौहान से । वे लिखते हैं—

"मीरांबाई की तुलना यदि आजकल की वैसी कवयित्रियों के साथ करने लगें तो भावों की सुकुमारता एवं हृदय की तन्मयता की दृष्टि से सुभद्राकुमारी चौहान को उनके बहुत कुछ निकट पाएँगे । श्रीमती चौहान ने श्रद्धा, वात्सल्यभाव एवं देश-प्रेम सम्बन्धी अनेक सुन्दर कविताएँ लिखी हैं"[2] आदि-आदि ।

चतुर्वेदीजी की इस अद्भुत सूझ को क्या कहा जाए जो मीराँ और सुभद्राकुमारी चौहान में समता का धरातल खोज लेती है ? यदि इन दोनों कवयित्रियों में कोई पारस्परिक समानता का तत्त्व है तो वह है दोनों का स्त्री होना । इसके अतिरिक्त इनमें किसी भी रूप में कोई समानता नहीं है । अतः इनकी तुलना की बात करना ही नितान्त हास्यास्पद और असंगत है । सच तो यह है कि हमारे आलोचकों को तुलना करने का कुछ रोग-सा लग गया है; अतः बिना किसी भाव या अनुभूतिसाम्य का आधार खोजे वे बाह्य लक्षणों को ही अपनी तुलना की कसौटी बनाकर अनेक भ्रान्तियों को जन्म दे देते हैं । मीराँ की महादेवी वर्मा या सुभद्राकुमारी चौहान से तुलना इसका ज्वलन्त प्रमाण है । मीराँ और सुभद्राकुमारी की काव्य-चेतना का स्वरूप ही भिन्न है । अतः इस प्रकार की गई ये तुलनाएँ सर्वथा अनर्गल हैं । यदि तुलना का यही दौर जारी रहा तो कोई आश्चर्य नहीं जब एक दिन आदर्शवाद के समान धरातल पर हमें बाबा तुलसीदास की तुलना पं. जवाहरलाल नेहरू से देखने को मिल जाए !

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमें यह निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि अन्य कवियों से यत्किञ्चित् भाव व अनुभूति-साम्य होने पर भी यह प्रेम-दीवानी गायिका अपने में सर्वथा अनुपम है । प्रीति के जिस सर्वोच्च शिखर

1 चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत : सं० प्रभूदयाल मीतल ।
2 मीरांबाई की पदावली, पृ. 83-84.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पर इस प्रेमोन्मादिनी ने अपने विरह का विकल विहाग गाया है, वह सर्वथा अप्रतिम है। इसीलिए मीरां अन्य कवियों से तुलनीय होकर भी अतुलनीय है!

इस सम्बन्ध में, मीरां के जर्मन जीवनी-लेखक श्री हरमन मोएट्ज ने सर्वथा उचित ही लिखा है—

"A great poetess ? No, much more, a saint, a wonderful human being, living in this world, and yet shrouded in the invisible presence of her Divine Lord ! We know only of one other personality of whom the same could be stated : Jesus, the Christ. If poetry is inspired by the Divine, she was the greatest poetess of India during the last millennium, because she was extraordinary personality, a saint, one of the loftiest and purest of mankind."[1]

---

1 *Mira Bai* : Her Life and Times by *Hermann Goetz*; p. 1, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

7

मीराँ का 'जोगी' या 'जोगिया' कौन ?

मीराँ के अनेक पदों में 'जोगी' या 'जोगिया' शब्द का उल्लेख हुआ है—

1. धूतारा जोगी एकरसूं हँसि बोल।
2. जोगिया जी छाड़ रह्या परदेस।
3. जोगिया जी आवो ने या देस।

इन सम्बोधनों के आधार पर कुछ विद्वानों ने मीराँ का सम्बन्ध नाथ-सम्प्रदाय से तथा कुछ ने किसी जोगी-विशेष (लौकिक व्यक्ति) से जोड़ने का प्रयास किया है। इनमें श्री डॉ. हीरालाल माहेश्वरी[1], डॉ. सावित्री सिन्हा,[2] डॉ. श्रीकृष्णलाल,[3] पद्मावती शबनम,[4] प्रो. मुरलीधर श्रीवास्तव[5] आदि उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः इस शब्द का मर्म न समझ पाने के कारण ही मीराँ के विषय में ये भ्रान्त स्थापनाएँ की गई हैं। मैंने इस शब्द के अर्थ पर अपने शोध-लेख—"मीराँ के 'जोगी' या 'जोगिया' का मर्म" में विस्तार से विचार किया है।[6] यहाँ अपनी उसी मान्यता को अत्यन्त संक्षेप में विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ।

वस्तुतः मीराँ का 'जोगी' या 'जोगिया' और कोई नहीं, उसके आराध्य एवं प्रियतम गिरधरलाल ही हैं, जिन्हें वह 'जोगी' या 'जोगिया' आदि विविध नामों से पुकारती है। मीराँ-काव्य में प्रयुक्त यह शब्द नाथ-पन्थ या उससे संबद्ध किसी व्यक्ति-विशेष का वाचक न होकर विशिष्टार्थ में मात्र प्रियतम के अर्थ का व्यंजक है। इस शब्द के इस विशेषार्थवाची प्रयोग को समझने के लिए हमें राजस्थानी प्रेमाख्यानों तथा उनमें प्रयुक्त प्रियतमवाची सम्बोधनों की विशाल परम्परा से परिचित होना अपेक्षित है।

1 राजस्थानी भाषा और साहित्य, डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, पृ. 329.
2 मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, डॉ. सावित्री सिन्हा, पृ. 126.
3 मीरांबाई, डॉ. श्रीकृष्णलाल, पृ. 129.
4 मीराँ : एक अध्ययन, पद्मावती शबनम, पृ. 118-119.
5 मीराँ दर्शन : प्रो. मुरलीधर श्रीवास्तव, पृ. 108.
6 नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 72, अंक 1-4; संवत् 2024 में प्रकाशित।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

राजस्थानी प्रेमाख्यानों में प्रियतम के लिए अनेक नामों एवं सम्बोधनों का प्रयोग हुआ है, जो राजस्थानी लोकगीतों में भी बहुश: प्रयुक्त होते हैं। इन नामों में-ओल्गियो (जिसका मीराँ ने भी प्रयोग किया है-'म्हारा ओल्गिया घर आज्यो जी'), लसकरियो, उमराव, कँवरजी, भँवरजी, ढोला, मारूजी, सायबो, बालम, जलाल, साजनिया आदि उल्लेखनीय हैं। ये सब सम्बोधन भावार्थ में केवल प्रियतम के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं तथा उसी के अर्थ का वाचकत्व करते हैं।

यदि हम प्रियतमवाची इन नामों अथवा सम्बोधनों पर ध्यान से विचार करें तो देखेंगे कि इनमें अभिधार्थ सर्वथा गौण एवं लक्ष्यार्थ अथवा रूढ़ार्थ ही प्रमुख है तथा उसी रूढ़ार्थ के द्वारा उपर्युक्त शब्दों को केवल प्रियतम के अर्थ में ही ग्रहण किया जाता है। उदाहरणत: 'ढोला' शब्द को ही लीजिए; यह 'ढोला-मारू रा दूहा' का प्रसिद्ध नायक है, परन्तु लोकगीतों में 'बादीला ढोला' शब्द उक्त नायक-विशेष के लिए नहीं, प्रत्युत सामान्य प्रेमी या प्रियतम के अर्थ में ही व्यवहृत होता है। इसी प्रकार 'जलाल' शब्द मूलत: जलाल-बूबना प्रेमाख्यान में वर्णित जलाल नामक नायक-विशेष का वाचक है। परन्तु लोक गीतों में इसका प्रयोग प्रियतम के अर्थ में ही रूढ़ होगया है। उदाहरणार्थ—'म्हारी जोड़ी रा जलाल' में आया 'जलाल' शब्द व्यक्ति-विशेष का वाचक न होकर सामान्यार्थ में प्रेमी या प्रियतम का ही व्यंजक रह गया है। इसी प्रकार ऊपर परिगणित नाम या सम्बोधनपरक शब्द वस्तुतः अपने वाच्यार्थ को छोड़ कर उससे भिन्न सामान्य प्रेमी या प्रियतम के लिए ही व्यवहृत होते हैं। इससे स्पष्ट है कि राजस्थानी साहित्य में इन सम्बोधनों की एक विशाल परम्परा रही है। स्थानाभाव से यहाँ केवल कुछ ही उदाहरण दिए गए हैं।

इसी भाँति, 'जोगी', 'जोगिया' शब्द भी वाच्यार्थ में किसी लौकिक जोगी (नाथ-सम्प्रदाय से सम्बद्ध व्यक्ति) का वाचक न होकर वस्तुत: प्रेमी या प्रियतम का ही बोध करता है। दूसरे शब्दों में, यह प्रीति-संदर्भ में प्रयुक्त एक प्रियतम-वाची सम्बोधन है, जिसकी परम्परा विशुद्ध भारतीय है एवं जिसका मूल उत्स शिव-पार्वती के पवित्र प्रणय-सम्बन्ध में है।

पार्वती के आराध्य एवं प्रियतम शिव योगेश्वर भी हैं। पार्वती ने शिव के योगी रूप का ही पति-भाव से स्तवन कर उन्हें तुष्ट किया था। अत: शिव के साथ 'योगी' और 'प्रियतम', दोनों ही के भाव परस्पर संश्लिष्ट होगए। फलत: 'जोगी' (योगी का अपभ्रष्ट रूप) कालान्तर में प्रियतम के लिए भी प्रयुक्त होने लगा एवं उसी अर्थ में रूढ़ भी होगया। शिव-पार्वती सनातन काल से दाम्पत्य जीवन के आदर्श माने गए हैं। राजस्थान का सांस्कृतिक पर्व गणगौर इसी तथ्य का सूचक है। अत: मूलत: पार्वती द्वारा ध्यात शिव का वह योगेश्वर रूप ही प्रकारान्तर से एक प्रेमी का आदर्श रूप बन कर प्रेमाख्यानों में स्वीकृति पागया तथा उसी के फलस्वरूप 'जोगी' या 'जोगिया' आदि सम्बोधन प्रीति-संदर्भ में प्रयुक्त होकर सामान्य प्रेमी या प्रियतम के ज्ञापक हो गए। विद्यापति-रचित 'महेशबानियों' में, जो मिथिला

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भर में शुभ अवसरों पर गाई जाती हैं, अपने प्रियतम शिव को पार्वती 'जोगिया' कह कर ही पुकारती है[1]—

(1) जोगिया एक हम देखलगे माई ।
अद्भुत रूप मोहि कहलोने जाई ॥
(2) अंग में विभूति अनूपे,
कंतक कहब हुनि जोगिक सरूपे ।
विद्यापति मन ताही,
गौरी हर लएं भेलि बनाही ।

इसी भाँति, सन्त कवियों ने भी 'जोगिया' शब्द का प्रयोग 'प्रियतम' के अर्थ में ही किया है । यहाँ केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा । पलटू साहब अपने प्रियतम परमात्मा को 'जोगी' या 'जोगिया' कह कर ही पुकारते हैं[2]—

जब से दृष्टि परी जोगी पर,
कल न परै दिन राती ।
यहि जोगिया के कारण माई,
जरौं तेल बिनु बाती ।

यहाँ 'जोगी' व 'जोगिया' स्पष्टतः प्रियतम के ही पर्याय होकर आए हैं, किसी नाथ-पन्थी योगी के लिए नहीं । इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी इन शब्दों का प्रयोग प्रेमी या प्रियतम के अर्थ में ही किया है । इस सम्बन्ध में गुजराती के आधुनिक कवि श्री दलपतराम नान्हाराम के 'जया-जयन्त' नाटक का यह उद्धरण भी द्रष्टव्य है—

दूरी दूरी है छपरी जोगी की मेरे,
पास है फूलों की बाड़ी रे ।
साधेंगे जोग स्नेह गंगा के तट पै
बीनेंगे फूल भर डाली ।

यहाँ 'जोगी' शब्द को 'स्नेह-गंगा' से मिलाकर विचार कीजिए । क्या यह प्रियतम से भिन्न किसी अन्य अर्थ की व्यंजना करता है ?

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होजाएगा कि 'जोगी' या 'जोगिया' शब्द वस्तुतः प्रेमी या प्रियतम का ही बोध करते हैं तथा प्रणय-निवेदन के प्रसंग में ये इसी अर्थ में प्रयोग-रूढ़ होगए हैं ।

परन्तु हमारे हिन्दी के कुछ विद्वानों ने 'जोगिया' शब्द के इस मर्म को न समझ अपनी अज्ञतावश मीराँ के चरित्र पर नाना प्रकार के लांछन तक लगा दिए हैं तथा कुछ ने उसे नाथ-पन्थ से प्रभावित मान लिया है, जो सर्वथा निर्मूल एवं भ्रान्त

1 महेशबानी : विद्यापति-रचित, हिन्दुस्तानी, अप्रेल 1936 में प्रकाशित डॉ. उमेश मिश्र के लेख से उद्धृत ।
2 पलटू साहब की बानी, भाग 2, पृ. 35, बेलवेडियर स्टीम प्रिंटिंग वर्क्स, 1915 का प्रकाशन ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

है । मीराँ-साहित्य के इन अध्येताओं को राजस्थानी साहित्य तथा इसकी शब्द-परम्पराओं से परिचित होना चाहिए, जिसके अभाव में उन्होंने ऐसी अनेक भ्रान्त स्थापनाओं को जन्म दे दिया है । मीराँ का 'जोगिया' और कोई नहीं, उसके अनन्य आराध्य एवं प्रियतम गिरधरलाल ही हैं, जिन्हें वह प्रीति-वश इन नामों से पुकारती है ।

यहाँ यह संकेत कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि अपने प्रियतम के लिए 'जोगन बन जाऊँगी' आदि शब्दावली का प्रयोग प्रेम-वर्णन के प्रसंग में आज दिन तक होता है, जिसके प्रमाणस्वरूप हमारे कुछ सिनेमा-गीतों की ये पंक्तियाँ 'जोगन बन जाऊँगी, सैंयाँ तेरे कारन' आदि उद्धृत की जा सकती हैं । सिनेमा-गीत की पंक्ति होने से इसे हल्की समझ कर हमें उपेक्षा से देखने की जरूरत नहीं है । वस्तुतः इसका मूल हमारी प्रणय-निवेदन की उसी प्राचीन भारतीय परम्परा में है जिसके अन्तर्गत जोगी-जोगन क्रमशः शिव-पार्वती तथा उनके अनन्य प्रणय-सम्बन्ध के प्रतीक-रूप में ही गृहीत हुए हैं । अतः प्रणय-सम्बोधन की इस विशिष्ट परम्परा के सन्दर्भ में ही हमें 'जोगी' या 'जोगिया' शब्द का मर्म समझना चाहिए ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ पदावली
(मूल पद व व्याख्या)

मन रे परस हरि के चरण। (टेक)

सुभग शीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण।
जे चरण प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरण ॥
जिन चरण ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी शरण।
जिन चरण ब्रह्मांण्ड भेट्यो, नख शिखौ श्री भरण॥
जिन चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम घरण।
जिन चरण कालीहि नाथ्यो, गोप लीला करण॥
जिन चरण धार्यो गोवर्धन, गरब मघवा हरण।
दासि मीराँ लालगिरधर, अगम तारण तरण ॥1॥

व्याख्या—हे मन! तू भगवान् के चरणों का स्पर्श कर। अर्थात् निरन्तर ध्यान-स्तवन द्वारा इन चरणों की वन्दना कर। ये चरण सुन्दर, शीतल एवं कमल-से कोमल हैं तथा संसार के त्रिविध संतापों (दैहिक, दैविक और भौतिक) की ज्वाला को हरण करने वाले हैं। अर्थात् इन चरणों के प्रताप से समस्त देहगत, सांसारिक एवं दैवी आपदाएँ नष्ट होजाती हैं, जिनकी ज्वाला प्राणियों को सन्तप्त करती रहती है।

जिन चरणों का ध्यान करने से ही भक्त प्रह्लाद इन्द्र पद का अधिकारी हुआ एवं जिन चरणों का आश्रय प्राप्त कर भक्तवर ध्रुव को अटल ध्रुवलोक की प्राप्ति हुई। वामनावतार के समय जिन चरणों ने विराट रूप धारण कर अखिल ब्रह्माण्ड को नाप लिया था तथा जो नख से शिखा तक–सर्वाङ्ग में शोभा से भरे हैं। जिन चरणों से प्रभु राम ने स्पर्श कर गौतम-पत्नी अहल्या का उद्धार किया था। जिन चरणों ने कालिय नाग को वशीभूत कर उसका दर्प-दलन किया था तथा गोपियों के साथ रासलीला की थी। जिन चरणों ने गोवर्धन पर्वत उठा कर इन्द्र कोप से त्रस्त व्रजजनों की रक्षा की थीं तथा इन्द्र के गर्व को चूर किया था। दासी मीराँ अपने गिरधरलाल के, इस दुस्तर संसार-सागर को पार उतारने में नौका-रूप, इन्हीं चरणों की शरण आई है। अर्थात् भव-बन्धन से मुक्त करने वाले ये मोक्षदायी चरण ही मीराँ के आश्रय हैं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दार्थ—सुभग = सुन्दर। भेट्यो = नाप लिया। धरण = पत्नी। नाथ्यो= वशीभूत किया। मघवा = इन्द। अगम = अगम्य संसार-सागर। तरण = नौका : बेड़ा (सं. तरणी)।

विशेष—इस पद में 'चरण' शब्द व्यापक अर्थ में, भगवान के अतुल महिमा-मय स्वरूप के प्रतीक रूप में गृहीत हुआ है। यह हमारी सांस्कृतिक शालीनता का आदर्श है कि हम अपने पूज्य के प्रति अपनी अतिशय श्रद्धा या भक्ति प्रकट करने हेतु प्रायः कहा करते हैं—'यह उन्हीं के चरणों का प्रताप है,' अथवा 'मैं उनकी चरण-रज हूँ' आदि। प्रस्तुत पद में चरणों के माध्यम से भगवान विष्णु के अवतारी स्वरूप एवं उनकी लोकोपकारिणी महिमा का भावपूर्ण स्तवन है।

अन्तर्कथाएँ

1. प्रह्लाद—भक्त प्रह्लाद दैत्यराज हिरण्यकशिपु का पुत्र था। हिरण्य-कशिपु देव-विरोधी, अत्यन्त क्रूर एवं अत्याचारी था। उसने बलपूर्वक इन्द्रासन पर भी अधिकार कर लिया था। परन्तु प्रह्लाद जन्म से ही भगवद्भक्त था। अपने पुत्र की इस ईश्वर-भक्ति से हिरण्यकशिपु क्रुद्ध हो उठा तथा उसने प्रल्हाद को विष्णु-भक्ति से विमुख करने हेतु उसे नाना प्रकार से पीड़ित करना शुरू किया। इस पर भी जब प्रह्लाद की भगवान विष्णु के प्रति निष्ठा अविचल रही तो दुष्ट हिरण्यकशिपु ने उसके प्राण-हरण के अनेक उपाय किए, परन्तु सभी विफल रहे। एक दिन प्रह्लाद का वध करने को उद्यत हिरण्यकशिपु ने उससे पूछा—'बता तेरा भगवान कहाँ है ?'—तभी भगवान नृसिंह रूप में प्रकट हुए एवं हिरण्यकशिपु को मारकर प्रह्लाद को उसके पिता का राज्य दे दिया। अन्त में प्रह्लाद को इन्द्र-पद की प्राप्ति का भी उल्लेख मिलता है। यह कथा भागवतपुराण के दशम स्कन्ध में आई है। इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह जी ने लिखा है[1]—

राख लियो प्रहलाद कूं, हिरणाकुश को मार।
खम्भ फाड़ प्रकट भए, धर नरहर अवतार ॥

2. ध्रुव—विष्णुपुराण के अनुसार ध्रुव स्वयंभू मनु के पौत्र तथा राजा उत्तानपाद के पुत्र थे। उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं—सुरुचि और सुनीति। ध्रुव छोटी रानी सुनीति के पुत्र थे, जिस पर राजा का स्नेह कम था। बड़ी रानी सुरुचि के भी एक पुत्र था, जिसका नाम था उत्तम। एक बार जब उत्तम राजा की गोद में बैठा हुआ था तभी ध्रुव भी एक ओर उनकी गोद में जा बैठा। क्षुद्र-हृदया सुरुचि को यह सहन नहीं हुआ और उसने अवज्ञापूर्वक ध्रुव को राजा की गोद से हटा दिया। विमाता के इस दुर्व्यवहार से ध्रुव के बाल हृदय को बड़ी चोट पहुँची और

1 गज उद्धार ग्रन्थ—महाराजा अजीतसिंह जी विरचित।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

माता सुनीति से यह जानकर कि भगवान के रूप में एक पिता ऐसा भी है, जो सबसे बड़ा व दयालु हैं, वे निर्जन वन में जाकर उसी परमपिता की प्राप्ति हेतु कठोर तपश्चर्या में लीन होगए। उनकी साधना सफल हुई एवं भगवान् ने अवतीर्ण होकर अपने पुत्र का मनोरथ सफल किया तथा उसे सब लोकों से ऊपर अविचल ध्रुव-लोक प्रदान किया। (श्री भागवतपुराण, दशम स्कन्ध)

3. कालिय नाग—यह नाग, नागों के निवास-स्थान रमणक द्वीप को छोड़ ब्रज-भूमि में आकर एक दह में रहने लगा था, जिससे ब्रज-जन आतंकित रहते थे। एक बार बालक कृष्ण खेलते-खेलते अपनी गेंद लेने हेतु उस दह में कूद पड़े। कालिय ने अपने साथी अन्य नागों सहित उन्हें घेर लिया। कृष्ण ने कालिय का दमन कर उसे वृन्दावन छोड़ने को विवश किया।

4. गरब मघवा हरण—श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध के अनुसार कृष्ण ने जब परम्परागत इन्द्र-पूजा के स्थान पर ब्रज-जनों को गोवर्धन-पूजा की सम्मति दी तो इन्द्र अत्यन्त कुपित हुआ एवं उसने ब्रजवासियों को दंडित करने हेतु मूसलाधार वर्षा करनी शुरू की। कृष्ण ने तत्काल गोवर्धन पर्वत को अंगुली पर उठा कर उस भीषण जल-प्लावन से आर्त ब्रज-जनों की रक्षा की तथा इन्द्र के गर्व को चूर्ण कर दिया।

बसो मेरे नैनन में नंदलाल। (टेक)
मोहनि मूरति साँवरि सूरति, नैना बने विशाल।
अधर सुधारस मुरली राजित, उर वैजन्ती माल॥
क्षुद्र घंटिका कटितट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीराँ के प्रभु संतन सुखदाई, भक्त वछल गोपाल॥ 2॥

व्याख्या—हे नंदनंदन कृष्ण! आप मेरे नयनों में निवास करो। अर्थात् आपकी मधुर मूर्ति मेरी आँखों में बसी रहे। आपकी छवि अतीव मोहिनी है, सूरत साँवला-सलोनी है तथा नयन विशाल हैं। आपके ओठों पर पीयूष-वर्षिणी (अमृत बरसाने वाली) मुरली शोभित है (अन्यार्थ–आपके सुधारस भीने अधरों पर मुरली सुशोभित है) एवं आपके वक्ष पर वैजयंती माला बड़ी ही रुचिर लगती है। आपके कटि-प्रदेश में बँधी लघु घंटिका अतीव शोभन लगती है तथा आपके नूपुरों की ध्वनि अत्यन्त मधुर है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु! आप सदा ही सन्तों को सुख देने वाले हैं। हे गोपाल! आप परम भक्त-वत्सल हैं।

शब्दार्थ—मूर्ति = देहाकृति, छवि। राजित = शोभित। वैजंती माल = एक माला विशेष, जिसे विष्णु धारण करते हैं। इसके विषय में एक दोहा प्रसिद्ध है—

करी दरी अर सूकरी, सीपी कश्यप व्याल।[1]
षट षट मुक्ता तासु कर, सो वैजंती माल॥

1 यह दोहा मैंने अपने हिन्दी–अध्यापक श्रद्धेय पं. धीरजलालजी चतुर्वेदी से सुना था।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हरि ! मेरे जीवन प्राण-आधार । (टेक)
और आसिरो नाहिन तुम बिन, तीनूं लोक मंझार ।।
आप बिना मोहि कछु न सुहावै, निरख्यौ सब संसार ।
मीराँ कहै मैं दासी राव ! दीज्यौ मती बिसार ।।3।।

व्याख्या—हे कृष्ण ! आप ही मेरे जीवन और प्राणाधार हैं । आपके सिवा तीनों लोकों में मेरा अन्य कोई आश्रय (सहारा) नहीं है । आपके बिना मुझे कुछ भी नहीं सुहाता, यह मैंने सारे संसार को भली-भाँति देखकर जान लिया है । मीराँ कहती है कि मैं तो आप की दासी हूँ । अतः मुझे आप भुला मत देना ।

शब्दार्थ—प्राण-आधार = जीवन-मूल; सर्वस्व । रावरी = आपकी (आदर सूचक) ।

तनक हरि चितवौ जी मोरी ओर । (टेक)
हम चितवत तुम चितवत नाहीं, दिल के बड़े कठोर ।
म्हारी आसा चितवनि तुमरी, और न दूजी दोर ।।
तुम से हमकूं तो तुम ही हो, हम सी लाख करोर ।
ऊभी ठाढ़ी अरज करत हूँ, अरज करत भयो भोर ।।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, दूँगी प्राण अकोर ।।4।।

व्याख्या—हे कृष्ण ! तनिक मेरी ओर देख लो, कृपा-दृष्टि डाल दो । मैं निरन्तर आपकी ओर आशा भरी दृष्टि से निहारती हूँ परन्तु आप नहीं देखते । निश्चय ही आपका हृदय बड़ा कठोर है, जो इस दर्शनातुरा की मर्म व्यथा से भी द्रवित नहीं होता । हे कृष्ण ! आपकी कृपापूर्ण चितवन ही मेरी एकमात्र आशा है। इसी के अवलम्ब पर मैं जीती हूँ । मेरे लिये अन्य कोई ठौर नहीं है । हमारे लिये तो आप जैसे बस केवल आप ही हैं परन्तु आपको हम जैसी लाखों-करोड़ों मिल सकती हैं । मैं खड़ी-खड़ी कब से निवेदन कर रही हूँ पर आप ध्यान नहीं देते । यहाँ तक कि दर्शन-याचना करते-करते भोर भी होगई है ।

हे मीराँ के आराध्य, अविनाशी कृष्ण ! अब तो कृपा कीजिये । मैं आपको अपने प्राणों की ही भेंट चढाऊँगी । अर्थात् आप पर अपना सर्वस्व निछावर कर दूँगी ।

शब्दार्थ—चितवौ = देखो । दोर = दौड़, पहुँच । अँकोर = भेंट, उपहार । यथा—

टका लाख दस दीन्ह अकोरा ।।[1]
विनती कीय पांय परि गोरा ।।

विशेष—मीराँ का यह पद धरमदास के निम्न पद से तुलनीय है—

साहिब चितवो हमारी ओर ।
हम चितवैं तुम चितवो नाहीं, तुम्हारो हृदय कठोर ।।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हे री माँ ! नंद को गुमानी म्हारे मनड़ बँस्यो । (टेक)
गहे द्रुम-डार कदम की ठाड़ो, मृदु मुस्क्याय म्हारी ओर हँस्यो ।।
पीतांबर कटि काछनी काछे, रतन जटित सिर मुकुट कस्यो ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, निरख वदन म्हारो मनड़ो फँस्यो ।।5।।

व्याख्या—हे सखी ! नन्द का वह गर्वीला पुत्र (कृष्ण) मेरे मन में बस गया है । वह कदम्ब की डाल पकड़े खड़ा हुआ मेरी ओर किञ्चित् मुस्कुरा कर हँस दिया । वह पीताम्बर धारण किए था, तथा उसकी कमर में कछनी (धोती) एवं मस्तक पर रत्न-जटित मुकुट सुशोभित था । मीराँ के आराध्य वे ही गिरधरलाल हैं, जिनकी अपूर्व मुख-छवि को देख मेरा मन बरबस उनमें फँस गया है । अर्थात् उनके सौन्दर्य-सम्मोहन से अभिभूत होगया है ।

शब्दार्थ—गुमानी = गर्वीला (स्नेहातिशय्य का व्यंजक) । मनड़े = मन में । पीताम्बर = उत्तरीय, दुपट्टा । यहाँ पीताम्बर इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जबकि प्रसंगानुसार यह अधोवस्त्र का भी वाचक है । यहाँ उसके लिए 'काछनी' शब्द आ गया है । काछनी = कमर में बाँधी जाने वाली धोती, जो घुटनों से ऊपर तक ही रहती है । काछे = कसे या पहने हुए ।

विशेष—इसी से मिलता-जुलता चन्द्रसखी का भजन है[1]

रंगील्यौ गुमानी कान्ह हीयरे बस्यौ ।
पीताम्बर, कटि काछे काछनी,
हीरा मोती जर्‌यो माथे मुकुट कस्यो ।

निपट बंकट छवि नैना अटके । (टेक)
देखत रूप मदन मोहन को, पियत पियूष न मटके ।
वारिज भवाँ अलक टेढ़ी मानो, अति सुगंध रस अटके ।
टेढी कटि टेढी कर मुरली, टेढी पाग लर लटके ।
मीराँ प्रभु के रूप लुभानो, गिरधर नागर नट के ।।6।।

व्याख्या—मेरी आँखों में कृष्ण की निपट बाँकी छवि अटक गई है । अर्थात् कृष्ण की अतुल शोभामयी (त्रिभंगी मूर्ति) मेरी आँखों में ऐसी समा गई है कि अब वह निकलती ही नहीं । हे सखी ! कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य को देख कर ये नेत्र इस रूप-सुधा का पान करते अघाते नहीं । अर्थात् ये निर्निमेष इस सौन्दर्यामृत का पान करने में ऐसे डूब गये हैं कि एक क्षण भी उससे विरत नहीं होते । उनके कमल से कमनीय मुख पर काली भौंहें और घुँघराली अलकें ऐसी मोहक लगती हैं कि नयन-भ्रमर उसकी गंध-माधुरी में अटक गए है, उसके सुगंध-संभार में खो गए हैं ।

1 चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत, सूचना-विभाग, उ० प्र०, पृ. 66,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उनकी कटि वंशी-वादन के कारण ईषत् टेढी होगई है तथा उस तिर्यक् भंगिमा (त्रिभंगी मुद्रा) में वे हाथों में मुरली धारण किए हैं। उनकी टेढ़ी पाग (शिरोवस्त्र) से लटकती हुई मोतियों की लड़ी बड़ी ही शोभन लग रही हैं। मीराँ अपने आराध्य, गिरधर नटनागर के इस सौन्दर्य पर मुग्ध है।

शब्दार्थ—बंकट छवि = बाँकी छवि, सुंदर छवि। न मटके = हटे नहीं, विरत नहीं हुए। कृष्ण की रूप-सुधा का एक-टक पान करते रहे।[2] अथवा, सौन्दर्यामृत की राशि का मानों कलश भर-भर कर (जी भर) पान करते रहे। अन्यार्थ में 'पियूषन' शब्द को एकात्मक मान कर 'मटके' का अर्थ माट = कलश किया गया है। वारिज = कमल, मुख का उपमान। उपमेय (मुख) लुप्त है।

विशेष—तुलनीय—

1. कहा कहौं इन नैननि की वात।
   ये अलि पिया वदन अम्बुज रस, अटके अनत न जात॥[1]
2. दृगा दीजिए दीसि परौं जिनसों, इन मोर पखौवनि को भटके।[2]
   मनु ते फिर लीजिये आप नहीं, जुत ही अटकें, न कहूँ मटके॥

जब तें मोहि नंदनंदन दृष्टि पर्यो माई।
तबतैं परलोक लोक, कछु नाँ सुहाई॥ (टेक)
मोरन की चंद्रकला, सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहै॥
कुंडल की अलक-झलक, कपोलन पर छाई।
मानो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई॥
भृकुटि कुटिल चपल नयन, चितवन से टौना।
खंजन अरु मधुप मीन, मोहै मृग-छौना॥
अधर बिम्ब अरुण नयन, मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाडिम द्युति, दमकै चपला-सी॥
कंबु कंठ भुज विसाल, ग्रीव तीन रेखा।
नटवर को भेष मानु, सकल गुण विसेखा॥
छुद्र घंट किंकिनी, अनूप धुन सुहाई।
गिरधर के अंग-अंग, मीराँ बलि जाई॥7॥

व्याख्या—हे सखी! जबसे मैंने नंदनंदन (कृष्ण) को देखा है, तबसे ही मुझे तो लोक-परलोक कुछ भी नहीं सुहाता है। अर्थात् लोक-परलोक के सभी आकर्षणों

1 हितहरिवंश।
2 घनानंद।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

से मुक्त हो मैं तो एक मात्र श्याम में ही अनुरक्त होगई हूँ। उनके मस्तक पर मयूर-पिच्छांकित-चँदवों का सुन्दर मुकुट शोभित है तथा ललाट पर केसर का रुचिर तिलक लगा हुआ है। उनकी यह छवि त्रिभुवन को मोहित करने वाली है। उनके कपोलों पर मकराकृति कुंडलों (कर्णाभूषणों) की प्रभा पड़ रही है तथा उसके पार्श्व में अलकें लहरा रही हैं। इसे देख कर ऐसा लगता है, मानों मछलियाँ (अलकों के रूप में) सरोवर को छोड़ कर अपने सहचर मकरों (कपोलों पर पड़ने वाले मकराकृति कुण्डलों के प्रतिबिम्ब के रूप में) से मिलने हेतु वहाँ चली आई हैं।

कृष्ण की भौंहे टेढ़ी हैं, नेत्र चंचल हैं तथा उनकी चितवन सम्मोहक है। नेत्रों के प्रसिद्ध उपमान—खंजन, मधुप, मीन और मृगशावक भी उसे देख कर मोहित हो जाते हैं। उनके अधर बिंव (कुंदरू) से लाल हैं, नयन रतनारे हैं तथा मुख पर मन्द-मधुर मुस्कान है। हँसने पर उनकी दाडिम-सी दंत-पंक्ति विद्युल्लेखा-सी दमकती है। उनके कंठ शंख से सुन्दर हैं; बाहुएँ दीर्घ हैं तथा ग्रीवा पर तीन रेखाएँ हैं। वे सर्व कला-निधान नटवर-वेश धारण किए हैं। उनकी कटि में किंकिणी की अनूठी ध्वनि बड़ी सुहावनी लगती है। मीराँ अपने आराध्य के अंग-अंग पर न्योछावर है। अर्थात् उनके सर्वाङ्ग से फूटती रूप-माधुरी पर मुग्ध है।

शब्दार्थ—टौना = जादू, सम्मोहन। विम्व = कुंदरू जिसकी लालिमा से ओठों की उपमा दी जाती है, यथा 'विम्बाधरोष्ठी'। कंवु = शंख। छुद्र = लघु।

नैनां लोभी रे बहुरि सके नहि आय। (टेक)
रोम-रोम नख सिख सब निरखत, ललच रहे ललचाय॥
मैं ठाढ़ी गृह आपने रे, मोहन निकसे आय।
सारंग ओट तजे कुल अंकुस, बदन दिये मुसकाय॥
लोक कुटंवी बरज बरज ही, बतियाँ कहत बनाय।
चंचल चपल अटक नहिं मानत, पर हथ गये बिकाय॥
भली कहो कोइ बुरी कहो मैं, सब लई सीस चढ़ाय।
मीराँ कहे प्रभु गिरधर के बिन, पल भर रह्यो न जाय॥8॥

व्याख्या—रूप के लोभी मेरे ये नयन कृष्ण की अनुपम सौन्दर्य-माधुरी में ऐसे अटके कि लौट कर न आ सके। उसके दुर्निवार आकर्षण में ऐसे फँस गये कि हटाए नहीं हटते। नख से शिखा तक, रोम-रोम में व्याप्त कृष्ण के सर्वाङ्ग सौन्दर्य का अवलोकन कर लेने पर भी इन रूप लोभी नयनों को तृप्ति नहीं हुई। इसीलिये ये ललक-ललक कर उसे देखने के लिये लालायित रहते हैं।

श्याम के दर्शन का वह संयोग भी कैसा आकस्मिक था! मैं तो अपने घर के द्वार पर खड़ी थी कि कृष्ण अचानक उधर से आ निकले। उन्हें देखते ही मैं तो कुल की लाज का अंकुश छोड़ घूँघट की ओट से ही उन्हें निरखने लगी। वे मुस्कुरा

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

दिए। लोक और कुटुंबी बार-बार मना करते हैं तथा तरह-तरह की बातें बनाते हैं। परन्तु मेरे ये चपल-चंचल नयन कोई भी रोक नहीं मानते। ये तो श्याम के दुर्निवार सौन्दर्य-सम्मोहन से विमोहित हुए लोक-लज्जादि समस्त अवरोधों की उपेक्षा कर पराये हाथों बिक गये। अर्थात् श्याम के अनिंद्य सौन्दर्य पर रीझ कर मैं तो अपना सर्वस्व निछावर कर बैठी हूँ। उस अनुपम लावण्य के आगे पूर्णतः समर्पित होगई हूँ।

हे सखी! चाहे मुझे कोई भली कहे या बुरी, मैंने तो उनकी निन्दा-स्तुति सभी को सादर शिरोधार्य कर लिया है। अर्थात् श्याम के प्रेम में तन्मय हुई मैंने लोकापवाद अथवा लोकस्तुति की चिन्ता नहीं की। मीराँ कहती है कि अपने प्रभु गिरधरलाल के बिना मुझसे एक पल भी नहीं रहा जाता। अर्थात् उनका क्षण भर का वियोग भी मुझे असह्य है।

शब्दार्थ—बहुरि = फिर। ठाढ़ी = खड़ी। सारंग = वस्त्र, घूँघट। वदन = मुख।

आली री मेरे नयनन बान पड़ी। (टेक)
चित्त चढ़ी मेरै माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी॥
कब की ठाडी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी॥
मीराँ गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहै बिगड़ी॥9॥

व्याख्या—हे सखी! मेरे इन नयनों को कृष्ण की अनुपम रूप माधुरी को निरन्तर देखते रहने की आदत पड़ गई है। अर्थात् कृष्ण के सौन्दर्य का अनिमेष अवलोकन किए बिना अब इन आँखों से रहा नहीं जाता। वह मधुर मूर्ति मेरे हृदय में बस गई है। उस सुन्दर छवि ने मेरे मन को लुभा लिया है एवं वह मेरे हृदय में गड़ गई है। भाव यह है कि कृष्ण की वह मधुर मूर्ति मेरे हृदय में ऐसी दृढ़ता से स्थापित हो चुकी है कि वह निकलने की नहीं। मैं उस रूप के पूर्णतः वशंवद हो गई हूँ। उसकी प्रतीक्षा में जाने कब से अपने भवन पर खड़ी हुई मैं उसकी वाट जोह रही हूँ। अपने उस प्यारे कृष्ण के बिना ये प्राण कैसे रह सकते हैं क्योंकि वही मेरा जीवन-मूल किंवा मेरी जीवन-जड़ी है। अर्थात् प्रियतम कृष्ण मेरे प्राणाधार एवं जीवन-सर्वस्व हैं, जिनके प्रेम-पाश में मेरे ये प्राण सदा के लिए बँध गए हैं। मीराँ अपने उन्हीं गिरधरलाल के पूर्णतः समर्पित हो चुकी है, परन्तु संसार के लोग हैं, जो कहते हैं कि मीराँ बिगड़ गई है; चरित्र-भ्रष्ट होगई है। मेरे प्रेम को वे लांछित करते हैं।

शब्दार्थ—आली री = हे सखी!। बान = आदत, टेव। जीवन····जड़ी = प्राणाधार; प्राणाधिक प्रिय। 'जीव की जड़ी' या 'जीव जड़ी' राजस्थानी मुहावरा है, जो अपने सर्वाधिक प्रिय के लिए प्रयुक्त होता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विशेष—प्रस्तुत तथा आगे के अन्य अनेक पदों में मीराँ ने जो बारम्बार अपने प्रेम पर हुए लोकापवाद की चर्चा की है, उसे हम विश्वसनीय अंतसाक्ष्य के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। मीराँ ने उसकी उपेक्षा कर उसका समुचित उत्तर दिया। सामन्ती व्यवस्था की दुर्लंघ्य सीमाओं एवं मध्ययुग के व्यापक रूढ़िवादी वातावरण में उस प्रेम-दीवानी मीराँ का यह ऐकान्तिक विद्रोह निश्चय ही धन्य था।

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरौ न कोई। (टेक)
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥
छांडि दई कुल की कानि, कहा करि है कोई।
संतन ढिग बैठि-बैठि लोकलाज खोई॥
अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेल बोई।
अब तो बेल फैलि गई, आणँद फल होई॥
दूध की मथनिया, बड़े प्रेम से बिलोई।
दधि मथि घृत काढ़ि लियो, डारि दयी छोई॥
भगत देखि राजी हुई, जगत देखि रोई।
दासि मीराँ लाल गिरधर, तारो अब मोहि॥ 10॥

व्याख्या—मेरे तो गिरधर गोपाल के सिवा और कोई नहीं है। अर्थात् वे ही मेरे सर्वस्व है। जिनके मस्तक पर मोर-मुकुट शोभित है, वे ही मेरे पति हैं। उनके लिए मैंने कुल की मर्यादा (अंतःपुर से बाहर न निकलने की राजोचित रीति) भी छोड़ दी है। मेरा कोई क्या करेगा ? सन्तों के पास बैठ-बैठ कर मैंने लोकलाज को भी तिलांजलि दे दी है। मैंने अपनी प्रेम-बेल को आँसुओं से सींच-सींच कर ही परिपुष्ट किया है। अर्थात् अहर्निश कृष्ण-प्रेम में तन्मय रहने तथा श्याम के वियोग में निरन्तर रोती रहने से उनके प्रति मेरा प्रेम उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता गया है। अब तो यह प्रेम-बेल फैल गई है; पुष्पित-पल्लवित होगई है एवं इसके आनन्द रूपी फल लगने लगा है। मैंने दूध जमाने के पात्र को बड़े प्रेम से बिलोया है तथा उसमें जमे दही को मथ कर कृष्ण-प्रेम रूपी नवनीत निकाल लिया है। शेष छाछ रूपी निस्सार वस्तु को छोड़ दिया है। अर्थात् इस संसार की अशेष निस्सार एवं निष्फल वस्तुओं के बीच मैंने केवल कृष्ण-प्रेम रूपी सारभूत तत्त्व ही ग्रहण किया है तथा अन्य सब असार एवं निस्सत्व वस्तुओं को त्याग दिया है। कृष्ण-भक्तों को देख कर तो मैं प्रसन्न होती हूँ परन्तु संसार का व्यवहार देख मुझे दुःख होता है और मैं रो पड़ती हूँ। हे गिरधरलाल ! मीराँ तो आपकी दासी है। इसे इस दुस्तर भवसागर से तार दीजिए। इसका उद्धार कर दीजिए।

शब्दार्थ—मथनिया = दही बिलौने का पात्र। मथि = मथ कर। छोई = छाछ; निस्सार वस्तु। भगत = हरि भक्तों को।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मैं तो साँवरे के रँग राची । (टेक)
साजि सिंगार, बाँधि पग घुँघरू, लोकलाज साजि नाची ।
गई कुमति, लई साध की संगत, भगत रूप भई साँची ।
गाइ-गाइ हरि के गुन निसिदिन, काल-व्याल सों बाँची ।
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काची ।
मीराँ श्री गिरधरन लाल सूँ, भगत रसीली जाँची ॥ 1[1] ॥

व्याख्या—हे सखी ! मैं तो साँवरे (कृष्ण) के रंग में रँग गई हूँ । अर्थात् उसके प्रेम में तन्मय होगई हूँ । इसीलिए सोलह-शृंगार सज तथा पैरों में घूँघरू बाँध मैं इसके समक्ष सारी लोकलाज छोड़कर प्रीति में उन्मत्त हुई नाची हूँ । सन्त-संगति (या सत्संग) के प्रभाव से मेरा अविवेक नष्ट होगया है तथा मुझे सद्ज्ञान की प्राप्त हुई है, जिससे मैं सच्चे भक्त-स्वरूप को प्राप्त हुई हूँ ।

मैंने अहर्निश भगवान् का ही गुणगान किया है, जिससे मैं काल रूपी सर्प से बच गई हूँ । अर्थात् हर बार जीवन और मृत्यु को प्राप्त होकर आवागमन के चक्र से मुक्त होगई हूँ । मोक्ष की अधिकारिणी होगई हूँ । अब तो कृष्ण-प्रेम का रंग मुझ पर कुछ ऐसा छा गया है कि मुझे श्याम के बिना यह संसार खारा (कटु, बुरा) लगता है । संसार के सब प्रपंच मुझे असार और क्षणभंगुर प्रतीत होते हैं । इसीलिए मीराँ ने श्री गिरधरलाल की अतुल आनन्ददायिनी प्रेमा-भक्ति की याचना की है । अर्थात् अपने आराध्य को प्राप्त करने हेतु भक्ति की सरस और मधुर विधा, प्रेमा-भक्ति का अवलम्बन किया है ।

शब्दार्थ—व्याल = सर्प । बाँची = बच गई ।

विशेष—भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वलनीलमणि में विवेचित उत्तमा भक्ति के त्रिविध भेदों-साधन, भाव व प्रेमा-भक्ति में मीराँ की भक्ति तीसरी कोटि के ही अधिक निकट थी । नाभादास के कथन से यह बात स्पष्ट होजाती है—

"मीराँ ने प्रेम भाव की भक्ति की थी; उनका प्रेम गोपियों का-सा था और प्रेम के आलम्बन रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण थे ।"[2]

नारदभक्तिसूत्र में प्रेमा-भक्ति की व्याख्या करने के पश्चात् यह कह दिया गया है–"यथा व्रजगोपिकानाम्"[3] । इससे यह स्पष्ट है कि भक्तिसूत्र में रचयिता के अनुसार प्रेमा-भक्ति का आदर्श गोपियाँ ही थीं । मीराँ की भक्ति प्रायः इसी कोटि की थी, जिसकी पुष्टि उसी युग के एक सन्त सम्प्रदाय के प्रचारक राघौदास की अग्रांकित पंक्तियों से होजाती है—[4]

1 कबीर-ग्रंथावली ।
2 श्री भक्तमाल, रूपकला, पृ. 713.
3 नारद भक्तिसूत्र, 21.
4 मूल छप्पय, पुरोहितजी के संग्रह की पोथी से ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गोपिन की-सी प्रीति-रीति कलिकाल दिखाई।
रसिक राई जस गाई, निडर रही सन्त सुभाई।
नौवत भक्ति घुराई कै पति सो गिरधर ही सने।।

इससे मीराँ के आराध्य के विषय में कोई भ्रान्ति नहीं रह जानी चाहिए। वस्तुतः मीराँ के एकमात्र आराध्य सगुण-साकार श्रीकृष्ण ही थे तथा उसकी भक्ति प्रेम-भाव की थी, जिसका मीराँ ने भी अपने पदों में स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है—

1. प्रेम भगति रो पैंडा म्हारो और न जाणो रीत।
2. अँसुवन-जल सींचि-सींचि प्रेम-बेल बोई।

अतः मीराँ के निर्गुणोपासिका होने अथवा उनका सम्बन्ध किसी निर्गुण-पन्थी सन्त-सम्प्रदाय से होने की बात निर्मूल है। हाँ, यह अवश्य है कि अपने युग में प्रचलित तत्कालीन नाथ व सन्त-शब्दावली के प्रभाव से वे निरपेक्ष नहीं रह सकी हैं, परन्तु इससे उनके काव्य की मूल चेतना में भी निर्गुणपन्थी प्रभाव देखना उस प्रेम-दीवानी भक्त-कवयित्री के प्रति अन्याय करना है। मीराँ वस्तुतः सब सन्त व भक्त-सम्प्रदायों से मुक्त केवलमात्र कृष्ण-प्रेम में तन्मय थीं।

मै तो गिरधर के घर जाऊँ। (टेक)
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।
रैण पड़ै तब ही उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ।
रैण-दिनां वाके सग खेलूँ, ज्यूँ-त्यूँ ताहि रिझाऊँ।
जो पहिरावै सोई पहरूँ, जो देवै सो खाऊँ।
मेरी उण की प्रीत पुराणो, उण विन पल न रहाऊँ।
जहाँ बैठावे तित ही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ।। 12।।

व्याख्या—मैं तो अपने गिरधरलाल के घर जाऊँगी। वे ही मेरे सच्चे प्रिमतम हैं, जिनके रूप को देख मैं लुभा जाती हूँ। उनसे अभिसार करने हेतु मैं नित्य रात पड़ते ही उनके पास चली जाऊँगी तथा सवेरा होते ही लौट आऊँगी। मैं रात-दिन उनके साथ क्रीड़ा करूँगी एवं हर सम्भव उपाय से उन्हें रिझाऊँगी। वे मुझे जैसे भी रखेंगे, रह लूँगी। जो पहनाएँगे, पहन लूँगी एवं जो खिलाएँगे, खा लूँगी। मेरा और उनका प्रेम जन्म-जन्मान्तरों का है। उनके बिना मैं एक पल भी नहीं जी सकती। वे मुझे जहाँ बैठाएँगे, वहीं बैठ जाऊँगी तथा मुझे यदि बेचेंगे तो बिक जाऊँगी। अर्थात् उनके लिए मैं कोई भी त्याग उठा नहीं रखूँगी। मीराँ कहती है कि मेरे आराध्य वे ही गिरधरलाल हैं, जिन पर मैं बारम्बार बलिहारी हूँ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दार्थ—रैण पढ़ै……आऊँ = इस पद में मीराँ ने अपने को निशाभिसारिका के रूप में प्रस्तुत किया है, जो अपने प्रियतम श्याम से मिलने हेतु नित्य उनके पास जाती है। स्पष्ट ही, यह अभिसार काल्पनिक है, जो विरहिणी मीराँ की अपने प्रिय से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा का ही परिचायक है। अभिसारिका का वर्णन अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने भी किया है। यथा—

1. "तू जिनि डरै रैनि अंधियारी मेरे पीछे आउ चलि।
तहाँ लै जाऊँ जहाँ मनमोहन, मैं देखी इक बंक गली।"[1]

नन्ददास की राधा भी दूती के संकेत पर कृष्ण से अभिसार करने चल देती है—

2. "रंग महल रंग राग–तहँ बैठे दूलह लाल,
तू चलि चतुर रंगीली राधे ।।"[2]

विशेष—मीराँ का यह पद अभिसारिका-वर्णन-परिपाटी की दृष्टि से परम्परागत होते हुए भी अपनी प्रेम-व्यंजना में सर्वथा अनूठा है। इसमें निहित आत्म-समर्पण का स्वर बड़ा मार्मिक है। यह आत्म-समर्पण ही प्रेम का सार है, जिसमें जीवन के समस्त उदात्ततम मूल्य अन्तर्भावित हो जाते हैं। प्रेम की इसी महत् वृत्ति से प्रेरित हुई मीराँ आज अपने प्रियतम की तुष्टि हेतु अपना सर्वस्व निछावर करने हेतु आकुल हो उठी है।

माई री ! मैं तो लियो गोविन्दो मोल। (टेक)
कोई कहै छानै, कोई कहै चौड़े, लियो री बजंतां ढोल।
कोई कहै मुंहघो, कोई कहै सुंहघो, लियो री तराजू तोल।
कोई कहै कारो, कोई कहै गोरो, लियो री अमोलिक मोल।
याही कूं सब लोग जाणत है, लियो री आँखी खोल।
मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीज्यो, पूरब जनम को कोल ।। 13 ।।

व्याख्या—हे सखी ! मैंने तो गोविन्द को ही मोल ले लिया है। अर्थात् अपनी जन्म-जन्मान्तरों की संचित प्रेम-सम्पदा से मैंने श्रीकृष्ण को सदा-सर्वदा के लिए अपना बना लिया है। कोई कहता है कि मैंने यह प्रणय-व्यापार छिपकर किया है; कोई कहता है चोड़े (प्रकट में) किया है परन्तु मैंने तो खुले आम डंके की चोट अपने प्रियतम श्याम का वरण किया है। कोई कहता है, यह सौदा मँहगा पड़ा है (सांसारिक भोगों व धन-वैभव के बदले में यह कृष्ण-प्रेम अधिक लाभकारी नहीं है), कोई कहता है सस्ता पड़ा है (अर्थात् मैंने जो दिया है, उससे कहीं अधिक मूल्यवान और दुर्लभ वस्तु मुझे मिल गई है) परन्तु मैंने तो तराजू से तोल कर (अर्थात् हानि-लाभ का पूरा विचार करके ही) श्याम-प्रेम का यह सौदा किया है।

1 परमानन्ददास-संग्रह (डॉ. दीनदयालु गुप्त के संग्रह से) पद 153.

2 नन्ददास–ग्रंथावली; ना० प्र० सभा, पद 103.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हे सखी ! कोई कहता है मेरा प्रियतम साँवला है, कोई उसे गोरा बताता है परन्तु जो भी हो, मैंने तो एक अनमोल निधि मोल ले ली है। इसे सब कोई जानते हैं तथा मैंने आँखें खोल कर (पूरी जाँच-परख कर) इसे खरीदा है। हे मीराँ के आराध्य स्वामिन् ! आप अपने पूर्व भव के वचन का स्मरण कर अपनी इस प्रेम-विह्वला मीराँ को दर्शन दीजिए। यह आपसे मिलने हेतु आकुल है।

शब्दार्थ—वजंतां ढोल = डंके की चोट; निश्शंक होकर। पूरब जनमक कोल = अन्य पदों की भाँति इस पद में भी मीराँ ने कृष्ण के प्रति अपने पूर्व जन्म की प्रीति का उल्लेख किया है। मान्यता है कि मीराँ पूर्व भव में 'ललिता' नामक गोपी थी तथा मीराँ ने यहाँ उसी ओर संकेत किया है। परन्तु यह मीराँ का किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध जोड़ने का ही एक प्रच्छन्न प्रयास है। वस्तुतः यह तो प्रेम-वर्णन की ही एक प्रचलित काव्य-रूढ़ि है। हमारे यहाँ आदर्श एवं प्रगाढ़ दाम्पत्य-प्रेम की अवधारणा एक अखण्ड, अटूट एवं जन्म-जन्मान्तर व्यापी सम्बन्ध के रूप में की गई है। मीराँ के उपर्युक्त कथन में इसी विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है।

मैं गिरधर रंग राती, सैयां मैं। (टेक)
पचरंग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट मां मिल्यो साँवरो, खोल मिली तन गाती।
जिनका पिया परदेस बसत है, लिख-लिख जेभे पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है, ना कहुँ आती जाती।
चंदा जायगा, सूरज जायगा, जायगी धरण अकासी।
पवन-पाणी दोनूँ ही जायेंगे, अटल रहै अविनासी।
सुरत-निरत का दिवला संजोले, मनसा की करले बाती।
प्रेम-हटी का तेल मँगाले, जगे रह्या दिन-राती।
सतगुरु मिलिया, सांसा भाग्या, सैन बताई साँची।
ना घर तेरा, ना घर मेरा, गावै मीराँ दासी ।।14।।

व्याख्या—हे सखी ! मैं तो गिरधर के प्रेम में रँग गई हूँ; उनसे अनुरक्त हो गई हूँ। मैं पंचरंगी चोला पहनकर झिरमिट खेलने जाती हूँ। उसी झिरमिट के खेल में मुझे मेरा प्रियतम साँवरा (श्यामसुन्दर, कृष्ण) मिल गया है, जिसे देखते ही मैं अपने तन का वस्त्रावेष्ठन खोलकर उससे आलिंगित होगई।

[आध्यात्मिक अर्थ में—जैसे नाना सुरंगे वस्त्र धारण कर झिरमिट का खेल खेला जाता है, वैसे ही मैं भी इस पंच भौतिक शरीर के रूप में पंचरंगी चोला (शरीरावरण) पहनकर जन्म-मरण रूपी झिरमिट का खेल खेल रही हूँ। भाव यह कि यह संसार क्रीड़ास्थली है। जीवात्मा खिलाड़ी है। पंच तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से निर्मित यह शरीर पंचरंगी चोला है, जिसे यह

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जीवात्मा धारण किए हुए है तथा जन्म-मरण के रूप में चलने वाली लीला ही झिरमिट का खेल है, जिसे यह जीव जन्म-जन्मान्तरों से खेल रहा है ।]

हे सखी ! जिनके पति परदेश में बसते हैं, वे उन्हें पत्र लिख-लिखकर भेजती हैं परन्तु मेरा प्रियतम तो मेरे हृदय में ही निवास करता है । अतः मैं न कहीं आती हूँ; न जाती हूँ । अपने हृदयस्थित प्रियतम के स्वरूप का ध्यान द्वारा, मैं जब चाहती हूँ, दर्शन कर लेती हूँ । यह संसार अनित्य है, नश्वर है । एक दिन चाँद-सूरज, धरती-आकाश और यह पवन-जल सभी नष्ट हो जाएँगे । केवल अविनाशी ईश्वर ही अमर रहेगा । अतः भगवत्स्मरण तथा ईश्वरीय ध्यान का दीपक जला ले; मन की बाती करले तथा प्रेम की हाट का तेल लेकर उसे दिन-रात प्रज्ज्वलित किए रह । भाव यह कि मन में निरन्तर भगवान् का स्मरण-ध्यान करते हुए प्रेम के तेल से भक्ति का दीप सतत जलाए रह ।

मीराँ कहती है कि मुझे सत्गुरु मिल गए हैं, जिनसे मेरे मन का सारा संशय (भ्रम-अज्ञान) दूर होगया है । उन्होंने मुझे सच्ची राह बता दी है । मैं यह जान गई हूँ कि यह संसार एक रैन-बसेरा है, जिसमें न कोई घर तेरा है, न मेरा है । सब कुछ क्षण-भंगुर है ।

शब्दार्थ—पंचरंग चोला = 1. पाँच रंगों का चोला । प्राचीन गुजराती व राजस्थानी में पंचरंगे वस्त्रों के पहनने का बहुशः उल्लेख मिलता है, जिसकी परम्परा को देखते हुए यह आवश्यक नहीं कि इस शब्द को केवल आध्यात्मिक अर्थ में ही घटित किया जाए । उदाहरणतः—

1. **पंचवर्ण पट्टकूल**, चन्द्रूयाँ शोभइं ।[1]
2. **पंचवर्ण पटुलां**, तेणे चंदरुए छाया ।[2]
3. ········**मुखमल**, कथीया, इलाइया, नारीकुञ्जर, प्रमुख **पंचरंगी वागा** पहिराया ।[3]
4. **पंचवर्णी अनेक** वस्त्र पहिराया छइ ।[4]

अतः उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर 'पंचरंगे' वस्त्रों की परम्परा को देखते हुए इसे अपने सामान्य अभिधार्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है ।

2. पंचभौतिक शरीर । झिरमिट = 1. **अभिधार्थ में**—एक खेल-विशेष । श्री सीतारामजी लालस से हुई मौखिक चर्चा के अनुसार, यह सम्भवतः एक दूसरे की अँगुलियाँ पकड़ कर वृत्ताकार रूप में चक्कर काटते हुए नृत्य करने का खेल है जिसे 'फूंदी का खेल' भी कहते हैं । परन्तु हमारे विचार से यह वस्त्रावरण में अपने

1 वर्णकसमुच्चय, भाग 1, पृ. 159; सं. डॉ. भो. सांडेसरा ।
2 वही; पृ. 199
3 भोजन-विच्छिति; हस्तप्रति; मुनिश्री पुण्यविजय के पास ।
4 सभा-शृंगार; पृ. 312; सं. श्री अगरचन्द नाहटा ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शरीर को ढककर एक दूसरे को पहचानने या आँख-मिचौनी जैसा कोई खेल है। यह राजस्थान में बड़ा लोकप्रिय रहा है। आज भी लोकगीतों में गाया जाता है—

'अै कुण खेले ए केसरिया बागां, झिरमिटयो ए लो।'[1] यही नहीं, 'झिरमिट' नामक स्वतन्त्र लोकगीत तक मिलते हैं। इससे पता चलता है कि गुजरात-राजस्थान में यह खेल कभी बड़ा लोकप्रिय रहा है तथा सम्भवतः वन-बागों या झुरमुटों में खेले जाने के कारण इसका यह नाम पड़ा हो। जो हो, इससे एक बात स्पष्ट है कि इस व 'पंचरंगी चोला' जैसे शब्दों को अपने सामान्य वाच्यार्थ में ग्रहण न करने का कोई कारण नहीं, जबकि राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन में इनकी परम्पराएँ बहुत पुरानी हैं।

2. आध्यात्मिक अर्थ में—विविध शरीरावरण धारण कर जीव का जन्म-मरण के रूप में खेले जाने वाला खेल।

सुरत-निरत = भगवत् स्मरण तथा ईश्वरीय ध्यान। यों कबीर आदि सन्तों ने 'सुरत' को शरीर व मन से संबद्ध ससीमता की स्थिति तथा 'निरति' को ईश्वरीय या असीमता की स्थिति के अर्थ में ग्रहण किया है तथा कहा है—'कबीर सूषिम सुरति का, जीव न जाणै जाल।'

परन्तु यहाँ 'सुरत' स्मरण या हरि-स्मरण के अर्थ में गृहीत हुआ है। **सांसा** = संशय। **सैन** = राह, शिक्षा।

विशेष—मीराँ के इस पद में प्रयुक्त कुछ शब्दों, जैसे 'पंचरंग चोला', 'झिरमिट' आदि के आधार पर कुछ विद्वान् मीराँ पर निर्गुण पन्थी प्रभाव देखते हैं। परन्तु, जैसा कि हम शब्दार्थों में निवेदन कर चुके हैं, इनको अपने सामान्य वाच्यार्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है, जिसकी पुष्टि ऊपर दिए गए उद्धरणों से होजाती है। वैसे मीराँ पर अपने समकालीन सन्त-मत की शब्दावली का प्रभाव भी यत्र-तत्र देखने में आता है, जिसकी समीक्षा हम आलोचना-खण्ड में कर चु हैं। वस्तुतः मीराँ के पदों में लक्षित यह प्रभाव सन्त-शब्दावली का ही है, मतगत नहीं। दूसरे शब्दों में यह प्रभाव अभिव्यक्तिगत है, सैद्धान्तिक नहीं; क्योंकि मीराँ कभी सन्त-मत की अनुयायिनी नहीं रही। सभी प्रकार के साधु-सन्तों के निरन्तर सम्पर्क व साहचर्य में आने के कारण मीराँ की पदावली में नाथ व सन्त-मत की प्रचलित शब्दावली का यत्र-तत्र प्रयोग हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दूसरे, इन पदों में प्रक्षिप्तांश की सम्भावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि कई पदों में मीराँ ने जहाँ अपने गिरधरलाल के विरह का वर्णन किया है, वहाँ 'राम' का भी उल्लेख हो गया है जिसकी कोई अर्थ-संगति नहीं। अतः हमें मीराँ की पदावली को समग्र रूप में दृष्टिगत रखकर ही अपना निष्कर्ष निकालना होगा, जिससे स्पष्ट व निर्विवाद रूप से उनका सगुणोपासिका होना ही सिद्ध होता है। अपने गिरधरलाल

1 श्रीमती सायरकुमारी (लेखक की पत्नी) के सौजन्य से।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

में अनन्य भाव से अनुरक्त यह सगुण-साधना का रूप ही उनका सच्चा व प्रकृत रूप है। अतः सन्त-शब्दावली के शैवाल में कहीं-कहीं ढकी हुई प्रेम की उस पावन मन्दाकिनी के विरहोच्छलित प्रवाह को हम देख कर भी अनदेखा नहीं कर सकते।

बड़े घर ताली लागी रे,
म्हारा मन री उणारथ भागी रे। (टेक)
छीलरियै म्हारो चित नहीं रे, डाबरिये कुण जाव?
गंग-जमना सूँ काम नहीं रे, मैं तो जाइ मिलूँ दरियाव।
हाल्याँ-मोल्याँ सूँ काम नहीं रे, सोख नहीं सिरदार।
कामदारां सूँ काम नहीं रे, मैं तो जाब करूँ दरबार।
काच-कथीर सूँ काम नहीं रे, लोहा चढै सिर भार।
सोना-रूपा सूँ काम नहीं रे, म्हांरै हीरां रो वौपार।
भाग हमारो जागियो रे, भयो समँद सूँ सीर।
इमरत प्याला छांडि कै, कुण पीवै कड़वो नीर।
पीपा कूँ परचो दीन्हो, दिया रे खजीना पूर।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, धणी मिल्या छै हजूर ।15।।

व्याख्या—हे सखी! अब तो मेरा बड़े घर (ईश्वर, प्रभु कृष्ण) से ध्यान लग गया है (सम्बन्ध होगया है), जिससे मेरे मन का अभाव दूर होगया है। अर्थात् मेरी मनोवाँछा पूरी होगई है। अब तुच्छ पोखरों (तलैयों) में मेरा चित्त नहीं लगता तथा क्षुद्र बरसाती गड्ढ़ों के पास भी कौन जाए? यहाँ तक कि अब गंगा-यमुना से भी मेरा कोई वास्ता नहीं है। अब तो मैं सब नदियों के आश्रय एवं जल के अनन्त भण्डार भगवान् श्रीकृष्ण रूपी महासमुद्र की ओर ही जाऊँगी। अर्थात कृष्ण-प्रेम के महासिन्धु में निमज्जित हो अब मुझे इन क्षुद्र सांसारिक एषणाओं के प्रतिरूप ताल-तलैयों या नदी-नालों के पास जाने की आवश्यकता नहीं रही। मुझे अब साधारण नौकर-चाकरों से मिलने की भी जरूरत नहीं। अब मुझे अपने राजा (ईश्वर) से मिलने के लिए सरदारों-सामन्तों की अनुमति की भी दरकार नहीं; क्योंकि उनके और मेरे बीच अब सीधा सम्वन्ध स्थापित होगया है। अतः अब तो मैं अपने दरबार से सीधे ही बातचीत करती हूँ। अब मुझे जस्तें और राँगे जैसी हल्की और निम्न कोटि की धातुओं से कोई प्रयोजन नहीं और न ही लोहे जैसी क्षुद्र धातु के भार को वहन करने की जरूरत है। मैं तो अब सोने-चाँदी से भी बढ़कर हीरों का व्यापार करने लगी हूँ। अर्थात् कृष्ण-प्रेम के रूप में सर्वाधिक मूल्यवान् रत्न की प्राप्ति ही अब मेरा काम्य है। हे सखी! आज निश्चय ही मेरा भाग्य जागा है, जो मुझे कृष्ण-प्रेम रूपी रत्नाकर का आश्रय मिला है। अर्थात् जैसे नदी की धारा महासमुद्र में अपना आश्रय पाती है; उसमें अपने अस्तित्व को विसर्जित कर धन्य होजाती है, वैसे ही मुझे भी कृष्ण-प्रेम के महासिन्धु में निमज्जित होने का सौभाग्य मिला है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो अमृत का प्याला छोड़कर कड़वा जल पिए ? कृष्ण-प्रेम वैसा ही अमृत है ! उसे छोड़ क्षुद्र भौतिक आसक्तियों के कड़वे जल का पान मैं नही करूँगी। हे प्रभु ! आपने प्रसिद्ध भक्त पीपा (गागरोन के खीची वंशीय राजा) को अपनी चामत्कारिक महिमा से अभिभूत कर उनके भण्डार को भर दिया था। मीराँ के आराध्य वही गिरधरनागर हैं, जिनके रूप में स्वयं भगवान् ही उसके प्रियतम हैं; स्वामी हैं।

शब्दार्थ—ताली लगना–ध्यान लगना; सम्बन्ध होना। उदाहरण—

1. जहवां जोगी जोग न पावै,

महादेव ना **ताली** लावै।[1]

2. मन मुछावै लावै **ताली**, गगन-सिखर में होइ उजाली।[2]

उणारथ—अभाव; कामना। उदाहरण—

'थाँरौ भरतार तौ कनै छै; बीजी थांनै किण बात री उणारत छै ?[3]

छीलर—छोटी तलैया, पोखर। **डाबर**=वे छोटे गढ्डे जिनमें वर्षा-ऋतु में पानी भर जाता है। राजस्थानी युवती के रसार्द्र लोचनों के ये प्रसिद्ध उपमान हैं—'डाबर नैणी'।

दरियाव = समुद्र। **हाल्याँ-मोल्याँ** = जमींदार के खेत पर कृषि-कर्म हेतु नियुक्त सेवक; हाली–मुहाली। **सीख** = अनुमति।

कामदार = जागीरी ठिकानों में रोकड़, हिसाब-किताब, प्रबंध-व्यवस्था व सलाह-मशविरे का काम करने वाले मुख्याधिकारी को 'कामदार' कहा जाता था, जो प्रायः जैन हुआ करते थे। ये सामन्त के विश्वस्त सलाहकार होते थे तथा वित्त-विभाग के सर्वेसर्वा होने के कारण सामन्ती व्यवस्था में इनकी पूरी दखल रहती थी। **काच-कथीर** = काच के समान कच्ची राँगे की धातु। उदाहरण—

कहाँ है कथीर, कहाँ कंचन की खान है।[4]

रूपा = चाँदी (सं. रूप्य)। उदाहरण—

कलधौतं हेम्नि रूप्ये क्लीवं त्रिपु कल ध्वनो।[5]

सीर = भाग, हिस्सा। भावार्थ में कृष्ण-प्रेम के महासिंधु में आश्रय होना। **परचौ-दीन्हो** = चमत्कार दिखाना।

खजीना = खजाना। **पूर** = भर दिया। **हजूर** = स्वयं भगवान्।

विशेष—तुलनीय—

हरि-सागर जनि बीसरे, छीलर देखि अनन्त।[1]

1 पलटू साहब की बानी; भाग 3; पृ. 44 वे. प्रि. प्रेस, इलाहाबाद।
2 वही, पृ. 173.
3 ढोला-मारु।
4 नलदवदंतीरास; पृ. 85: सं. डॉ. भोगीलाल सांडेसरा।
5 नानार्थरत्नमाला; पृ 117 इ. दंडाधिनाथ; सं. बे. रामचन्द्र शर्मा
6 कबीर-ग्रन्थावली।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ लागो रंग हरी, औरन रंग सब अटक परी ।। टेक ।।
चूड़ो म्हाँरे तिलक अरु माला, सील-वरत सिणगारो ।
और सिंगार म्हाँरे दाय न आवै, यो गुर ग्यान हमारो ।
कोई निन्दो, कोई बिन्दो, म्हें तो गुण गोविन्द का गास्याँ ।
जिण मारग म्हाँरा साध पधारै, उण मारग म्हे जास्याँ ।
चोरी न करस्याँ, जिव न सतास्याँ, कांई करसी म्हाँरो कोई ।
गज से उतर के खर नहिं चढ़स्याँ, ये तो बात न होई ।।16।।

व्याख्या—मीराँ को अब हरि (कृष्ण) का रंग लग गया है। अर्थात् वह श्याम के प्रेम-रंग में रँग गई है। अब अन्य रंगों के लिए बाधा होगई है। अर्थात् अब इस पर कोई अन्य रंग नहीं चढ़ सकता। (काले रंग पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता। श्याम रंग में श्लेष द्वारा इसका द्वयर्थक निर्वाह हुआ है—1. कृष्ण-प्रेम का रंग और 2. काला रंग)।

मीराँ कहती है कि मुझे चूड़े व शृंगार की आवश्यकता नहीं है। तद्विपरीत, तिलक और माला ही मेरा चूड़ा है तथा शील-व्रत का पालन ही मेरा शृंगार हैं। भाव यह है कि कृष्ण ही मेरे प्रियतम हैं, अतः उनके अर्चन का तिलक तथा उनके नाम की माला ही मेरा चूड़ा (सोभाग्य-चिह्न) है एवं सदाचरण ही मेरा शृंगार है। मुझे और कोई शृंगार नहीं भाता। मेरा तो यही ज्ञान-तत्त्व है। अर्थात् मेरे जीवन का यही मूल मन्त्र है। चाहे कोई मेरी निन्दा करे अथवा प्रशंसा, मैं तो सदा गोविन्द के ही गुण गाऊँगी। अर्थात् निन्दा-स्तुति से निरपेक्ष रह मैं सदा अपने आराध्य कृष्ण का ही गुण-गान करूँगी। जिस मार्ग से हमारे ज्ञानी सन्तजन जाएँगे, मैं भी उसी मार्ग पर चलूँगी। सन्तों द्वारा निर्देशित भगवद्भक्ति के मार्ग का अनुसरण कर अपना जीवत सफल करूँगी। मुझे इस मार्ग पर चलने का कोई डर नहीं है क्योंकि मैं न चोरी करूँगी, न किसी प्राणी को सताऊँगी। फिर भला मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है ? और जो भी हो, मैं अब हाथी से उतर कर गधे पर नहीं चढ़ूँगी। यह कदापि नहीं होगा। अर्थात् कृष्ण-प्रेम के दुर्लभ व सर्वोपरि आनन्द का अनुभव कर अब मैं सांसारिक विषयों अथवा क्षुद्र भौतिक प्रपंचों में लिप्त नहीं होऊँगी। यह सर्वथा असम्भव है।

शब्दार्थ—रंग रही = हरि का रंग; कृष्ण-प्रेम का रंग।

तुलनीय—

प्रेम दीवाने जो भए, प्रीतम के रंग माँहि।
सहजो सुधि बुधि सब गई, तन की सोधी नाहीं ।।[1]

2 सहजोबाई की बानी, पृष्ठ 36.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कबीर भी अपने लाल की 'लाली' देखने गए और स्वयं भी उसी के रँग में रंग गए—

लाली देखन मैं गई ,मैं भी ह्वै गई लाल ।[1]

औरन = अन्य (रंगों को) । अटक = बाधा । दूसरे रंग अब नहीं चढ़ सकते । मिलाइए—

'सूरदास यह काली कामरि, चढ़े न दूजो रंग ।'

सील बरत = शीलव्रत; सदाचरण । दाय = पसन्द । गुर ग्यान = मूल मंत्र । साध = साधु, महात्मा; 'महाजनः येन गतः स पन्था' । बिन्दो = वन्दन करो; प्रशंसा करो । गज चढ़स्याँ = प्रसिद्ध लोकोक्ति है ।

टिप्पणी—आभूषणों से अपनी इच्छित वस्तु या इष्ट व्यक्ति की उपमा देने की परम्परा हमारे लिखित व लोक-साहित्य दोनों में मिलती है । उदाहरणतः एक राजस्थानी लोकगीत की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

म्हारा जेठजी बाजूबंद बाँकड़ा
जेठाणी म्हारी बाजूबन्द री लूंब । सहैल्याँ····

म्हारो देवर चुड़लो दाँत रो
देराणी म्हारे चुड़ले री मजीठ ।। सहेल्याँ····[2]

आवो सहेल्याँ रली कराँ हे, पर घर गवण निवारि ।
झूँठी माणिक मोतिया री, झूँठी जगमग जोति ।
झूँठा सब आभूषणाँ रो, साँची पियाजी री प्रीति ।
झूँठा पाट पटंबरा रे, झूँठा दिखणी चीर ।
साँची पियाजी री गूदड़ी, जामे निरमल रहै सरीर ।
छप्पन भोग बुहाइ दे हे, इन भोगनि में दाग ।
लूँण अलूँणो ही भलो हे, अपणे पियाजी को साग ।
देखि विराणै निवाँण कूँ हे, क्यूँ उपजावै खीज ।
कालर अपणो ही भलो हे, जामें निपजै चीज ।
छैल विराणो लाख को हे, अपणे काज न होइ ।
ताके संग सिधारताँ हे, भला न कहसी कोइ ।
वर हीणो अपणों भलो हे, कोढ़ी कुष्टी होइ ।
जाके संग सिधारताँ हे, भला कहै सब कोइ ।
अविनासी सो बालमा हे, जिनसूँ साँची प्रीत ।
मीराँ कूँ पिरभू मिल्या हे, येही भगति की रीत ।।17।।

1 कबीर ग्रन्थावली
2 राजस्थानी लोकगीत, पृ० 60, स्व. डॉ सूर्यकरण पारीक ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—सखियो ! आओ, पर-घर-गमन (लौकिक प्रेमासक्ति या परिणय, जिसमें कन्या को अपना घर छोड़ पराए घर अर्थात् पतिगृह जाना पड़ता है) का निवारण कर हम प्रियतम (कृष्ण) में अनुरक्त हो क्रीड़ा-केलि करें, आनन्द मनाएँ। संसार में दिखाई देने वाला समस्त भौतिक ऐश्वर्य क्षणिक और निस्सार है। माणिक-मोतियों की कान्ति और रत्नों की जगमगाहट मिथ्या है। नाना अलंकार-आभूषण भी सब व्यर्थ हैं। एकमात्र प्रियतम कृष्ण की माला ही सत्य है; अर्थात् कृष्ण-प्रेम का कण्ठहार ही सार्थक है। इसी भाँति, रेशमी वस्त्रों और 'दक्षिणी चीर' की सब साज-सज्जा भी मिथ्या है, छलना है, क्योंकि उनसे सज्जित होकर भी व्यक्ति को शाश्वत सुख नहीं मिलता। वस्तुतः सच्ची तो प्रियतम की गूदड़ी है, जिसमें शरीर निर्मल रहता है। अर्थात् प्रियतम कृष्ण के प्रेम में लीन होने पर फटी-पुरानी गूदड़ी में भी तन-मन निर्मल रहता है। छप्पन भोगों (नाना स्वादिष्ट व्यंजनों) को पानी में बहा दो क्योंकि वे दूषित हैं। इनकी बजाय अपने प्रियतम (कृष्ण) से प्रसाद रूप में प्राप्त नमक-युक्त या बिना नमक का (नीरस या सुस्वादु) साग ही भला है। अर्थात् पाप या छल-छद्म से प्राप्त छप्पन भोगों की तुलना में अपने प्रियतम का अलोना-सलोना साग ही उत्तम है।

हे सखी ! पराई उपजाऊ भूमि को देख-देख कर मन ही मन क्यों खीभती हो ? उस पराई उर्वर भूमि से तो अपनी अनुर्वर क्षार-युक्त भूमि कहीं अच्छी है, जिसमें कोई चीज तो होती है। अर्थात् उसमें उत्पन्न उपज पर कम से कम हमारा अधिकार तो होता है। हे सखी ! लाख रुपये के (दुर्लभ, सुन्दर) पराये छैल (रसिक) से हमें क्या काम ? अर्थात् पर-पुरुष लुभावना और सुन्दर भी हो तो उससे हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उसके संग जाने से लोग हमें भला नहीं कहेंगे अर्थात् हम लोकापवाद के भागी होंगे। उसकी बजाय अपना ही वर (पति) श्रेष्ठ होता है, भले ही वह हीन (दरिद्र) और कोढ़ी-कुष्टी क्यों न हो। उसके संग जाने से लोग प्रशंसा करेंगे, पतिव्रता कह कर आदर करेंगे।

हे सखी ! जो अविनाशी (कृष्ण) हैं, वे ही मेरे प्रियतम हैं। उनसे ही मेरा सच्चा (प्रगाढ़) प्रेम है। मीराँ को वे ही प्रभु प्रियतम रूप में मिले हैं तथा उनसे अनन्य अनुरक्ति ही मेरी भक्ति की रीति है। अर्थात् मैंने प्रेमाभक्ति का (प्रियतम रूप में कृष्णाराधना का) अवलम्बन किया है।

शब्दार्थ—रली कराँ = क्रीड़ा करें; आनन्द मनाएँ। पर घर गवण = 1. लौकिक प्रीति, जिसके अनुसार कन्या अपना घर छोड़ कर पराए घर जाती है। अथवा 2. पर-पुरुषासक्ति; प्रथम अर्थ में यह लौकिक प्रेम के स्थान पर अलौकिक कृष्ण-प्रेम की ओर उन्मुख होने का वाचक है एवं द्वितीय अर्थ में पातिव्रत्य-धर्म-पालन का। यद्यपि पद में, संश्लिष्ट रूप में प्रायः दोनों ही भावों का द्व्यर्थक निर्वाह हुआ है तथापि पदगत समष्टिरूप मूल भाव को देखते हुए इसे प्रथम अर्थ में ही ग्रहण करना उपयुक्त होगा क्योंकि मीराँ इस पद में अविनाशी प्रियतम कृष्ण में

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

एकनिष्ठ अनुराग के महत्त्व का ही अनेक उदाहरणों द्वारा प्रतिपादन करती है। पोती = माला, चीढ़ों की कंठी।

उदाहरण—

1. पतिवरता मैली भली, गले काँच की पोत।[1]
सब सखियन में यों दिखै, ज्यों रवि ससि की जोत॥

2. कंठि पोत, कपोत, कि कहूँ नीलकँठ,
वड-गरि कालिंद्री वली।[2]

पटंबरा = पाटम्बर; रेशमी वस्त्र। दिखणी चीर = दक्षिण के किसी प्रदेश-विशेष (संभवतः विजयनगर) में बना एक बहुमूल्य वस्त्र, जिसकी मध्ययुग में बड़ी ख्याति थी, तथा जिसका मध्यकालीन गुजराती व राजस्थानी साहित्य व लोकगीतों में प्रचुर उल्लेख हुआ है। आधुनिक राजस्थानी कवि भी इसके आकर्षण से मुक्त नहीं हो सके हैं—

यथा—

पांणी ले पाछी वली,
संभै न दिखणी चीर।[3]

दाग = कलंक, दोष। लूण-अलूणो = अलोना-सलोना; विरस-सरस। साग = सब्जी। निवांण = ढलान की उपजाऊ भूमि। कालर—क्षारयुक्त या अनुर्वर भूमि।

उदाहरण—

कालर काभा कमल ज्यउं, ढलि ढलि ढेर थियाँह।[4]

छैल = रसिक या सुन्दर व्यक्ति (सं. छेक + इल्ल > प्रा. छेअ + इल्ल)

उदाहरण—

छानइ छंदइ छल करी, जे रमी गयु छइल्ल।[5]

विराणो = पराया। सीधारतां = जाते हुए। राजस्थान में किसी गमनोद्यत व्यक्ति को यह पूछना कि 'कहाँ जाते हो?' अशुभ शकुन समझा जाता है। इसके स्थान पर प्रायः यों पूछा जाता है 'सिध जाते हो?' अर्थात् सिद्धि = सफलता की बात पहले ही कहदी जाती है। 'सिधारतां' शब्द इसी 'सिद्ध + अर्थ' की सन्धि है, जो रूढ़ि में जाने का वाचक बन गया है तथा इसमें शुभ-कामना का भाव भी जुड़ गया है (अर्थात् 'आपका अर्थ सिद्ध हो') हीणो = हीन, दरिद्र या क्षताङ्ग। कहावत है—

'घर हीण दीज्ये पर वर हीण मत दीज्ये।'

लोइ = लोग। बालमा = (सं. वल्लभ); प्रियतम। अविनासी = श्रीकृष्ण।

1 सन्त-सुधासार, पृष्ठ 131
2 वेलि क्रिसन-रुकमणी री—राठौड़ पृथ्वीराज-रचित
3 ओलूं; रच० ix नारायणसिंह भाटी; पृष्ठ 28
4 ढोला-मारू-रा दूहा।
5 नलदवदंतीरास; पृ. 82; सं. डॉ. भोगीलाल सांडेसरा।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

बरजी मैं काहू की नाहिं रहूँ (टेक)
सुनो री सखी तुमसों या मन की, साँची बात कहूँ।
साधु संगति करि हरि सुख लेऊँ, जगतैं हौं दूरि रहूँ।
तन मन धन मेरो सब ही जावो, भल मेरो सीस लहूँ।
मन मेरो लागो सुमिरन सेती, सबका मैं बोल सहूँ।
मीराँ के प्रभु गिरिधरनागर, सतगुरु शरण गहूँ ।। 18।।

व्याख्या—मैं किसी के रोके न रुकूँगी। हे सखी! सुनो, मैं तुमसे अपने मन की सच्ची बात कहती हूँ। मैं साधु-सन्तों की संगति में ही कृष्ण-भक्ति का सुख लेती हूँ तथा सांसारिक प्रपंचों से दूर रहती हूँ। इसके लिए चाहे मेरा तन, मन, धन सब चला जाए, चाहे कोई मेरा मस्तक ही काट ले। परन्तु मैं इससे विमुख न होऊँगी। मेरा मन तो अब पूर्ण रूप से अपने आराध्य कृष्ण के स्मरण में लग गया है। इसके लिए मैं संसार भर के ताने और उपालंभ सह लूँगी। हे मीराँ के स्वामी गिरिधरनागर! मैंने तो सत्गुरु रूप में तुम्हारी ही शरण ली है।

शब्दार्थ—**बरजी** = रोकी हुई; रोकने पर भी। **बोल** = ताने, उपालंभ।

नहिं भावै थाँरो देसड़लो रंग-रूड़ो (टेक)
थाँरा देसां में राणा! साध नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो।
गहणा-गांठा हम सब त्याग्या, त्याग्यो कर रो चूड़ो।
काजल-टीकी हम सब त्याग्या, त्याग्यो बांधन जूड़ो।
मीराँ के प्रभु गिरिधरनागर, वर पायो छै पूरो ।।19।।

व्याख्या—हे राणाजी! आपका यह रंगीला सुन्दर देश (मेवाड़) मुझे तनिक नहीं सुहाता। कारण, आपके इस देश में साधु-जन नहीं बसते हैं। जो लोग बसते हैं, वे सब कुटिल, दुष्ट और दुर्जन हैं। हे राणाजी! मैंने अलंकार-आभूषण त्याग दिए हैं तथा हाथ का चूड़ा (सौभाग्य चिह्न) भी मैं त्याग चुकी हूँ। शृंगार-सज्जा के अन्य उपकरण—काजल, टीकी तथा वेणी-बन्धन आदि को भी मैं छोड़ चुकी हूँ। अर्थात् लौकिक सोभाग्य के सूचक सभी चिह्नों एवं शृंगार-प्रसाधनों का मैं परित्याग कर चुकी हूँ। मीराँ कहती है कि मेरे आराध्य तो गिरधरलाल हैं। मैंने उन्हीं पूर्ण-पुरुष (भगवान् श्रीकृष्ण) को अपने वर-रूप में प्राप्त किया है।

शब्दार्थ—भावै = अच्छा लगना। थाँरो = आपका (आदर सूचक)। देसड़लो = देश। रंगरूड़ो = रंगीला, सुन्दर। कूड़ो = झूठे, दुष्ट, दुर्जन। उदाहरण—

माया मिलै महोवती, कूड़े आखै बैन ।[1]

गहणा-गाँठा = आभूषणादि, राजस्थान में आभूषणों के लिए प्रायः बोलचाल

1 कबीर-ग्रन्थावली।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

में 'गहणो-गाँठी' शब्द का एक साथ प्रयोग होता है। गाँठी (सं० ग्रन्थि) 'गठरी' को कहते हैं। उदाहरण—

> ग्रहणा गाठा, पहिर नइ, वे थया भामर भोल।[1]

पूरो = पूर्ण पुरुष (श्रीकृष्ण)।

विशेष—इस पद से मीराँ के वैधव्य-काल के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। विधवावस्था में मीराँ को अपनी भक्ति-भावना के कारण राणाजी के मुँह लगे, दुष्ट दरबारियों के कुचक्रों और उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा होगा। मीराँ के प्रस्तुत पद में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया अत्यन्त सशक्त शब्दों में व्यक्त हुई है। तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था को देखते हुए इन अन्तर्साक्ष्यों को अविश्वसनीय मानने का कोई कारण नहीं।

> राणाजी ! थे क्याँनै राखो म्हाँसूं बैर (टेक)
> थे तो राणाजी म्हाँनै इसड़ा लागो, ज्यूँ बिरछन में कैर।
> महल-अटारी हम सब त्याग्या, त्याग्यो थाँरो सहर।
> काजल-टीको हम सब त्याग्या, भगवीं चादर पहर।
> थाँरे रूस्याँ राणा ! कुछ नहिं बिगड़ै, अब हरि कीन्ही महर।
> मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, इमरत कर दियो जहर ॥20॥

व्याख्या—हे राणाजी ! आप मुझसे व्यर्थ क्यों वैर-भाव रखते हो ? आपका मेरे प्रति यह अकारण विद्वेष उचित नहीं है। इसीलिए आप मुझे ऐसे लगते हो जैसे वृक्षों में कैर। अर्थात् जैसे कैर का कँटीला और पत्र-हीन झाड़ आँखों को बड़ा ही अरुचिकर लगता है, वैसे ही आप भी मुझे फूटी आँखों नहीं सुहाते। मैं तो अपने साँवरिया के प्रेम में लीन हूँ। उसके लिए मैंने महल-अटारी आदि सब कुछ त्याग दिया है। यहाँ तक कि आपके शहर में बसना भी छोड़ दिया है। मैंने तो आपसे पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। अपने वैधव्य के फलस्वरूप मैंने सब शृंगार-प्रसाधन व सौभाग्य-चिह्न त्याग दिए हैं तथा अपने अविनाशी प्रियतम कृष्ण के लिए भगवाँ वस्त्र पहन लिए हैं। अर्थात् मैं संसार से पूर्णतः विरक्त हो चुकी हूँ। हे राणा ! आपके रुष्ट होने से मेरा कुछ नहीं विगड़ने का, क्योंकि मुझ पर तो अब भगवान् की कृपा होगई है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधरलाल ! यह आपकी ही अनुकम्पा थी कि आपने मेरे प्राण-हरण हेतु भेजे गए विष को अमृत बना दिया ! आपकी इस अकथ्य कृपा का मैं किन शब्दों में वर्णन करूँ !

शब्दार्थ—थे = आप, राजस्थानी में आदर सूचक है। क्याँनै = क्यों कर (राजस्थानी का बोल-चाल का शब्द है)। इसड़ा = ऐसे। कैर = राजस्थान के मरु-भाग में बहुशः पाया जाने वाला एक कँटीला और पत्र-हीन झाड़। भगवीं = गेरुआ या काषाय वस्त्र, जो साधु-संन्यासी पहना करते हैं।

1 समयसुंदर-चौपई; पृ. 117 : सं. भँवरलाल नाहटा।

Devavani Parishad New Delhi

 CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पग घुँघरू बाँध मीराँ नाची रे (टेक)
मैं तो अपने नारायण की, आप ही होगई दासी रे।
विष का प्याला राणाजी ने भेज्या, पीवत मीराँ हाँसी रे।
लोक कहे मीराँ भई बावरी, बाप कहे कुल नासी रे।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, हरिचरणाँ की दासी रे ॥21॥

व्याख्या—श्याम के प्रेम में तन्मय मीराँ पैरों में घुँघरु बाँध कर नाची। मीराँ कहती है कि मैं तो अपने आराध्य की आप ही दासी होगई! अर्थात् उनके प्रेम के वशीभूत हो पूर्णतः उनके समर्पित होगई। राणा ने उसे मारने हेतु विष का प्याला भेजा, जिसे मीराँ हँसते-हँसते पी गई। लोक कहता है कि मीराँ बावली हो गई है (जो कुल और लोक-लज्जा छोड़ बैठी है); पिता कहते हैं कि यह कुल नाशिनी है। परन्तु मुझे इन सब अपवादों की चिन्ता नहीं। मीराँ के आराध्य तो गिरधरनागर हैं और वह हरिचरणों की दासी है।

राणाजी थे जहर दियो म्हे जाणी ॥टेक॥
जैसे कञ्चन दहत अगनि में, निकसत बाराबांणी।
लोकलाज कुल-काण जगत की, दइ बहाय जस पांणी।
अपणे घर का परदा करले, मैं अबला बौरांणी।
तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे, गरक गयो सनकांणी।
सब संतन पर तन मन वारों, चरण-कंवल लपटांणी।
मीराँ को प्रभु राखि लई है, दासी अपणी जाणी ॥22॥

व्याख्या—हे राणाजी! आपने मुझे मारने हेतु विष दिया था—यह बात मैंने जानली है। परन्तु इस अग्नि-परीक्षा से मेरे प्रेम की शुद्धता ही प्रमाणित हुई है। जैसे सोना आग में तप कर कुन्दन होजाता है तथा अपने विशुद्धतम रूप में दमकने लगता है, उसी प्रकार मेरी प्रेम-साधना भी परीक्षा की अग्नि-ज्वाला में जल कर और अधिक उज्जवल होगई। मैंने अपने कृष्ण-प्रेम के लिए लोक-लज्जा और कुल-मर्यादा को पानी की तरह बहा दिया। उसकी तनिक भी परवाह नहीं की। हे राणाजी! आप अपने घर की ही चिन्ता कीजिए। पर्दा करवाना है तो अपनी रानी से करवाइए। मुझ पर आपकी जोर-जबरदस्ती उचित नहीं है। मैं तो एक अबला हूँ और फिर कृष्ण-प्रेम में दीवानी हूँ। मेरे हृदय में कृष्णरूपी तरकस से छूटा हुआ प्रेम-बाण लग गया है तथा वह बहुत ही गहरा चला गया है। उसने मेरे मर्म को बेध दिया है और उससे घायल हो मैं पागल-सी होगई हूँ। मैंने अपना तन-मन सब कुछ सन्तों पर निछावर कर दिया है तथा एकमात्र अपने आराध्य श्रीकृष्ण के चरण-कमलों से लिपट गई हूँ। अर्थात् अपना सर्वस्व त्याग कर मैं उन्हीं की शरण में चली गई हूँ। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधरलाल! मुझे अपनी दासी समझ कर ही स्वीकार कर लीजिए; अपना लीजिए।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दार्थ—बाराँ वांणी = खरा सोना, कुन्दन। बोराँणी = पागल या दीवानी होगई हूँ। गरक गयो = गहरा घाव कर गया है। सनकांणी = पागल-सी होगई हूँ।

विशेष—

तुलनीय— जब हू मार्‌या खैंचि करि, तब मैं पाई जांणि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छाणि॥

विशेष—1. प्रेम की यह मस्ती कैसी होती है, इसका वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं—

हरि रस पीया जाँणिये, जे कबहु न जाइ खुमार।[1]
मतवाला दीदार का, माँगे मुक्ति बलाइ॥

2. सन्त दादू भी इश्क के प्याले की मस्ती का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जब लग सीस न सौंपियै, तब लग इसक न होइ।
आसिक मरणैं ना डरै, पिया पियाला सोइ॥

मीराँ मगन भई हरि के गुण गाय। (टेक)।
साँप पिटारा राणा भेज्या, मीराँ हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गइ पाय।
जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय।
न्हाय धोय जब पीवण लागी, हो अमर अँचाय।
सूल सेज राणा ने भेजी, दीज्यो मीराँ सुलाय।
साँझ भई मीराँ सोवण लागी, मानों फूल बिछाय।
मीराँ के प्रभु सदा सहाई, राखे बिघन हटाय।
भजन भाव में मस्त डोलती, गिरधर पै बलि जाय॥ 23॥

व्याख्या—मीराँ कृष्ण के गुणों का गायन कर आत्म-विभोर होगई। उनके ध्यान में तन्मय होगई। राणा ने साँप को पिटारी में बन्द करके भेजा और कहा कि इसे मीराँ के हाथ में दे देना। जब मैं नहा-धो कर उसे देखने लगी तो मैंने वहाँ साँप के स्थान पर शालिग्राम की मूर्ति पायी। राणा ने मेरे प्राण लेने हेतु विष का प्याला भेजा परन्तु प्रभु कृष्ण ने उसे अमृत बना दिया। जब मैंने स्नान-ध्यान कर उसे पिया तो पीकर अमर होगई। पश्चात् राणा ने काँटों की सेज बनवा कर भेजी और कहलाया कि इस पर मीराँ को सुला देना। सन्ध्या-समय जब मीराँ उस पर सोने लगी तो वह शूलों की सेज फूलों की सेज बन गई। अर्थात् वह फूल-सी कोमल होगई। मीराँ के प्रभु गिरधरलाल विघ्नों का निवारण कर सदा ही उसकी सहायता करते हैं। इसीलिए मैं भजन-भाव में मस्त हुई, निर्भय विचरण करती हूँ तथा अपने गिरधरलाल पर बारम्बार न्योछावर होती हूँ।

1 कबीर ग्रन्थावली।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दार्थ—मगन भई = तन्मय या आत्म-विभोर होगई। हो = होगई। अँचाय = पीकर (आचमन कर)।

हेली म्हाँसूं हरि बिन रह्यो न जाय ॥ टेक ॥
सास लड़ै मेरी ननद खिजावै, राणाँ रह्यो रिसाय।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठार्यो, ताला दियो जुड़ाय।
पूर्व जनम की प्रीत पुराणी, सो क्यूं छोड़ी जाय।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, और न आवे म्हारी दाय ॥ 25 ॥

व्याख्या—हे सखी ! मुझसे कृष्ण के बिना रहा नहीं जाता। मेरे इस कृष्ण-प्रेम के कारण सभी स्वजन मुझसे अप्रसन्न हैं। सास मुझसे लड़ती है, ननद क्षुब्ध रहती है तथा राणाजी मुझ पर क्रोध किए बैठे हैं। उन्होंने मुझ पर पहरा रखा तथा मेरी निगरानी के लिए चौकियाँ बिठाईं। यहाँ तक कि मुझे तालों में भी बन्द कर दिया। परन्तु हे सखी ! मेरी और श्याम की प्रीति तो जन्म-जन्मान्तरों की है। वह भला कैसे छोड़ी जा सकती है ? अर्थात् श्याम के साथ मेरी प्रीति कभी टूटने वाली नहीं है। मीराँ कहती है कि मेरे आराध्य तो एकमात्र गिरधरलाल हैं। उन्हें छोड़ और कोई भी मुझे रुचता नहीं। अर्थात् मैं तो अनन्य भाव से अपने आराध्य गिरधरलाल में ही अनुरक्त हूँ।

शब्दार्थ—हेली = सखी !। खिजावै = क्षुब्ध रहती है या करती है। रिसाय = कुपित। चौकी = नगर के चतुर्दिक रास्तों पर निगरानी के लिए नियुक्त सिपाहियों की टुकड़ी। और = दूसरा (सं० अपर); अन्य। दाय = पसन्द।

विशेष—इस पद में कई महत्त्वपूर्ण अन्तर्साक्ष्य हैं, जिन्हें अविश्वसनीय मानने का कोई कारण नहीं। एक तो यह कि मीराँ के सास व ननद थी तथा दोनों का व्यवहार मीराँ के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं था। दूसरे यह कि तत्कालीन राणा ने मीराँ को, लोक-लज्जा या लोकापवाद के कारण, साधु-संगति या सत्संग से रोकने हेतु उसे कठोर नियन्त्रण में रखा था, जो उसे तालों तक में बन्द करने की सीमा तक जा पहुँचा था। मीराँ के पदों में स्वजनों द्वारा किए गए इन असह्य अत्याचारों की बड़ी ही तीव्र प्रतिक्रिया हुई है। परन्तु मध्ययुग की कड़ी सामन्ती व्यवस्था व रूढ़ियों के परिप्रेक्ष्य में एक राजकुल की वधू के इस मुक्त आचरण के कारण राणा व राजपरिवार के अन्य सदस्यों के क्षुब्ध होने का कारण हम समझ सकते हैं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जोगिया जी ! निसदिन जोऊँ बाट । (टेक)
पाँव न चालै, पंथ दुहेलो, आडा औघट घाट ।
नगर आइ जोगी रम गया रे, मो मन प्रीत न पाइ ।
मैं भोली भोलापन कीन्हों, राख्यौ नहिं बिलमाइ ।
जोगिया कूँ जोवत बोहो दिन बीत्या, अजहूँ आयो नाहिं ।
विरह बुझावण अन्तरि आवो, तपन लगी तन माँहि ।
कै तो जोगी जग में नाहीं, कैर बिसारी मोइ ।
काँइ करूँ कित जाऊँरी सजनी, नैण गुमाया रोइ ।
आरति तेरी अन्तरि मेरे, आओ अपनी जाण ।
मीराँ व्याकुल बिरहिणी रे, तुम बिनि तलफत प्राण ॥ 25 ॥

व्याख्या—हे जोगिया जी ! (प्रियतम कृष्ण) मैं रात-दिन आपकी राह देखती हूँ, आने की प्रतीक्षा करती हूँ । परन्तु आप आते नहीं और न मैं ही आपके पास आ पाती हूँ क्योंकि मेरे विरह से शिथिल और थकित चरण एक पद भी आगे नहीं बढ़ रहे हैं । उधर मार्ग बड़ा ही कठिन और कष्टकर है तथा बीच में विकट और दुर्गम पर्वतीय पथ हैं । मैं आऊँ भी तो कैसे ? हाय ! मैं ही अपने प्रियतम से विछोह का कारण हूँ । वह योगी इस नगर में आकर फिर अन्यत्र कहीं चल दिया । कारण, उसने मेरे मन में अपने प्रति कोई प्रीति नहीं देखी, जिससे आहत हो वह नगर छोड़ कर अन्यत्र रम गया । प्रीति-रीति से अपरिचित, मैं भोली-भाली कैसी नादानी (मूर्खता) कर बैठी कि अपने घर आए प्रियतम को रिझाकर रोक न सकी । उन्हें अपने प्रणय-पाश में बाँध न पायी और अब तो उस जोगिया की प्रतीक्षा करते-करते बहुत दिन बीत गए हैं परन्तु वह अभी तक नहीं आया । उसके बिना मेरा सर्वाङ्ग विरहाग्नि से जला जा रहा है । हे योगी ! मेरे अन्तस में धधकती इस विरह-ज्वाला को बुझाने के लिए अब तो आ जाओ । इस असह्य विरहोत्ताप से मेरा शरीर जला जारहा है । वह योगी जो अब तक नहीं आया, इसके दो ही कारण हैं । या तो वह योगी इस संसार में नहीं है, या फिर वह मुझे बिलकुल भूल गया है । हे सखी ! अब मैं क्या करूँ ! कहाँ जाऊँ ! केवल रोना ही मेरे हाथ है, सो रो-री कर मैंने अपनी आँखें भी खो दी हैं । हे योगी ! तुमसे मिलने की उत्कट लालसा मेरे प्राणों में निरन्तर दहक रही है । अतः मुझे अपनी समझ कर ही तुम आजाओ । यह विरहिणी मीराँ तुमसे मिलने को आकुल है । तुम्हारे बिना इसके प्राण तड़प रहे हैं ।

शब्दार्थ—जोगिया जी = योगी जी; प्रियतम कृष्ण से अभिप्राय है, जिन्हें मीराँ जोगी के रूप में देखती हुई मिलन-हेतु उनका आह्वान कर रही हैं । समीक्षा खण्ड में इन शब्द प्रयोगों का विशद विवेचन देखिए । दुहेलो = कठिन, कष्टकर । आडा = बीच में; अवरोध रूप । औघट घाट = विकट और दुर्गम पर्वतीय पथ । यह शब्द

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जूनी गुजराती या प्राचीन राजस्थानी में बहुशः प्रयुक्त हुआ है। डॉ० भोगीलाल साँडेसरा 'घाट' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"घाट = पहाड़ी मार्ग', जैन संस्कृत मां 'घट्ट' प्रयोग मले छे (जेम के 'गाडरा घट्ट' = एक विषम पहाड़ी मार्ग)।"[1]

अभीष्ट सिद्धि के मार्ग में विकट विघ्न-बाधाओं के द्योतनार्थ इसका प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—

1. ओघट घाट अताल़ निराताल़ न्हाषै निडर।[2]
2. वट वाटे घाट औघटे रण, वन, जल़, थल़ महियल़, अजर जरे।
   चेलक चाड आप रायां रण, करणी सदा सहाय करे॥[3]
3. औघट घाट, पवन बहु वजै, तामें ज्यांन वचाय ले।[4]
4. उलट घट गिरवार औघट, सहल भूप सिकार।[5]

शब्दार्थ—विलमाई = लुभाकर या अपने में अनुरक्त कर। विरह बुझावण = विरहाग्नि को बुझाने हेतु। अन्तर = हृदय में। आरति = उत्कट लालसा; तीव्र मिलनोत्कंठा।

विशेष—मीराँ के प्रस्तुत तथा अन्य कुछ पदों में प्रयुक्त 'जोगिया', 'जोगी' आदि सम्बोधनों के आधार पर कुछ विद्वानों ने मीराँ को नाथ-सम्प्रदाय या सन्त-मत की अनुयायिनी सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु, जैसा कि हम समीक्षा-खण्ड में निवेदन कर आए हैं, मीराँ के काव्य को समग्र रूप से देख कर ही हमें उसके इष्ट के स्वरूप तथा उसकी उपासना-पद्धति के विषय में अपनी धारणा बनानी चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर 'जोगिया' शब्द व्यापक सन्दर्भ में मीराँ के प्रियतम कृष्ण का ही वाचक है, जिन्हें मीराँ अनन्य प्रीति वश इन नामों से पुकारती है।

जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाँइ परूँ मैं तेरी चेरी हो। (टेक)
प्रेम-भगति को पैंडो ही न्यारो, हमको गैल बता जा।
अगर-चँदण की चिता बणाऊँ, अपणे हाथ जला जा।
जल-बल भई भस्म की ढेरी, अपणे अंग लगा जा।
मीराँ कहै प्रभु गिरधरनागर, जोत में जोत मिला जा॥26।

1 देखिये 'महीराज' कृत 'नलदवदंतीरास' के अन्त में दिए गए शब्दकोश में डॉ० भोगीलाल साँडेसरा की टिप्पणी, पृष्ठ 140.

2 प्रतापसिंह-म्होकमसिंघ री वात; रा. सा. सं., भाग 2, पृ. 19.

3 चांनण खिड़ियौ।

4 रसीलै राज रा गीत, पृ. 55; परम्परा।

5 कविकुलबोध; उदयराम बारहठ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—हे योगी ! तू मुझे छोड़ कर मत जा । मैं तेरी दासी तेरे पैरों पड़ विनती करती हूँ । यह प्रेम-भक्ति का मार्ग बड़ा ही निराला है । इसमें अपने प्रियतम को पाने हेतु न जाने कितने दुःख देखने होते हैं; न जाने कितनी ठोकरें खानी पड़ती हैं । प्यारे योगी ! (कृष्ण !) अपनी इस प्रेम-योगिनी को आकर तुम वह मार्ग बता जाओ, जिस पर चल कर यह तुम्हारे पास आ जाए । तुम्हारे बिना अब मैं एक क्षण भी जीना नहीं चाहती । अतः मैं अगरु और चन्दन की चिता बनाऊँगी, जिसे तुम स्वयं अपने हाथों से आकर जला जाओ, ताकि इस विरहिणी को, जो तुम्हारे विरह की निर्धूम ज्वाला में जल रही है, तुम्हारे ही हाथों से प्रज्ज्वलित चिता में जलने का गौरव मिल जाए ! और जब मैं चिता में जल कर भस्म हो जाऊँ, राख की ढेरी बन जाऊँ, तो तुम मेरी उस राख को अपने अंगों पर लगा लेना ताकि मरणोत्तर मेरी राख तो तुमसे मिल ले । अर्थात् जीवन में इस देह से जो मेरी मिलन-कामना पूरी नहीं हुई, वह मरणोपरान्त भस्म-रूप में ही तुमसे मिल कर पूरी हो जाए ! तुम्हारा अंगराग बन कर मेरी युग-युग की प्रेम-साध पूरी हो जाएगी; मेरी भस्मी धन्य हो जाएगी; मेरा मरण सार्थक हो जाएगा !

मीराँ कहती है कि हे मेरे आराध्य गिरधरलाल ! तुम अपनी ज्योति में मेरी ज्योति मिला लो । अर्थात् मैं (जीव-रूप में ज्वलित प्रीति की ज्योति-शिखा) तुम्हारा ही अंश हूँ । हे प्रेम के ज्योति-पुञ्ज ! जन्म-जन्मान्तरों से बिछुड़ी इस आत्म-ज्योति को अपने में लय कर लो ! युग-युगान्तरों से तुम्हारे विरह में जलती इस प्रणय की दीपशिखा को अपने में अन्तर्लीन करलो । तुम्हारा वियोग अब सहा नहीं जाता है प्रियतम !

शब्दार्थ—चेरी = दासी (भावार्थ में पत्नी, राजस्थान में स्त्री अपने पति के प्रति असीम आदर-भाव प्रकट करने हेतु अपने प्रति इस शब्द का प्रयोग करती है, जो उसकी हीनता का नहीं अपितु उसकी विनम्रता का ही द्योतक है) । पैंडो = रीति । गैल = मार्ग । जोत = ज्योति (चिदात्मा, जो ईश्वर का अंश है) ।

विशेष—मीराँ का यह पद अत्यन्त भावपूर्ण एवं करुणा-भरा है । इसमें निहित दर्द का स्वर बड़ा ही गहरा है, जो मीराँ की अन्तरात्मा का स्वर है; प्रियतम से मिलने को आकुल युग-युग की विरहिणी नारी का स्वर है । करुणा-विह्वल रागिनी में निबद्ध मीराँ के इस पद में उसके न जाने कितने-जन्मान्तरों की विरह-पीड़ा जाग उठी है; आँसुओं में डूबी स्वर-लहरी में न जाने किस अतीत की वियोग-स्मृति सिसक उठी है !

मीराँ का यह पद कबीर और जायसी की इन पंक्तियों से तुलनीय है—

1. यह तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धुँवा जाइ सरग्गि ।
   मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ।।[1]

1 कबीर ग्रन्थावली ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

2. यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौ, कंत धरै जहं पाउ ॥[1]

छोड़ मत जाज्योजी महाराज। (टेक)
मैं अबला बल नाँय गुसाँई, तुम मेरे सिरताज।
मैं गुणहीन गुण नाँय गुसाँई, तुम समरथ महाराज।
थाँरी होय के किणरे जाऊँ, तुम हिवड़ा रो साज।
मीराँ के प्रभु और न कोई, राखो अबके लाज ॥27॥

व्याख्या—हे महाराज ! (द्वारकाधीश कृष्ण !) आप मुझे छोड़कर मत चले जाना। अर्थात मुझे अपने कृपापूर्ण आश्रय से वंचित न कर देना। मैं एक अवश अबला हूँ, मुझमें कोई बल नहीं है। मेरे बल तो आप ही हैं। आप ही मेरे सिरताज हैं। हे स्वामिन् ! मैं निपट गुणहीन हूँ और हे महाराज ! आप समर्थ हैं। आपकी होकर मैं और किसके पास जाऊँ ? किससे शरण की याचना करूँ ? मेरे हृदय की शोभा तो आप ही हैं। हे मीराँ के आराध्य ! मेरे तो आपके सिवा और कोई अवलम्ब नहीं है। अतः अबकी बार तो आप ही मेरी लाज रख लीजिये। शरण में आई मुझ अबला का उद्धार कर दीजिए।

ऐसी लगन लगाइ कहाँ तू जासी। (टेक)
तुम देख्यां बिन कलि न परति है, तलफ तलफ जिय जासी।
तेरे खातर जोगण हूँगी, करवत लूँगी कासी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवल की दासी ॥28॥

व्याख्या—हे प्रियतम ! प्रेम की ऐसी लौ लगा कर अब तुम कहाँ जाओगे ! अर्थात् मेरे हृदय में अपने प्रति प्रीति जगा कर अब तुम मुझे छोड़ कर कहाँ जा रहे हो ? तुझे देखे बिना मुझे एक पल भी चैन नहीं पड़ता, जिससे तेरे वियोग में मैं यों ही तड़प-तड़प कर अपने प्राण दे दूँगी। तेरे लिए मैं संसार के सब मोह-पाश और सुख-वैभवादि का त्याग कर जोगिन तक बन जाऊँगी तथा 'कासी करवत' ले आरे से कट मरूँगी। मीराँ कहती है कि हे मेरे आराध्य गिरधरलाल ! मैं तो आपके ही चरण कमलों की दासी हूँ। अतः अपनी इस सेविका को शरण में लेकर कृतार्थ कीजिए।

शब्दार्थ—लगन = प्रेम, प्रीति। जासी = जाएगा। कलि = चैन। खातर = लिए, वास्ते। करवत कासी – काशी जाकर मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा से आरे से कट मरना। प्राचीन-काल में सद्गति की आशा से लोग आरे के नीचे अपना गला कटवा कर मर जाते थे। इसी को 'काशी करवत लेना' कहते थे। हिन्दुओं के धार्मिक अन्धविश्वास का यह क्रूरतम उदाहरण है, जिसकी नृशंस बलिवेदी पर न जाने

1 पद्मावत।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कितने निरीह जन भेंट चढ़ गए होंगे। 'कासी करवत लेना' एक काव्य-रूढ़ि हो गई प्रतीत होती है।

विशेष—अपने प्रेमी को पाने के लिए जोगिन बन जाने के उल्लेख से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि मीराँ की योग-मार्ग में आस्था या अभिरुचि थी; अथवा मीराँ का नाथ-मत से कोई सम्बन्ध था। वस्तुतः यह तो विरह-वर्णन की एक सामान्य रूढ़ि (Motif) रही है, जिसका उल्लेख विरह-वर्णन के प्रसंग में कई कवियों ने किया है। उदाहरणतः बीसलदेवरासो में रानी राजमती पति-वियोग से व्यथित हो कहती है—

मैं धणी ! थारी मेल्ही आस।[1]
जोगणी होइ सेवुं बनवास ॥

इसी भाँति चन्द्रसखी भी कहती है—

साँवरे की खातिर जोगन हूँगी, घर-घर दूँगी फेरी।[2]

पियाजी ! म्हारे नैणां आगे रहज्यो जी। (टेक)
नैणां आगे रहज्यो जी, म्हाँने भूल मत जाज्यो जी।
भौ-सागर में बही जात हूँ, बेग म्हारी सुध लीज्यो जी।
राणोजी भेज्या विष का प्याला, सो इमरित वर दीज्यो जी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, मिल बिछुड़न मत कीज्यो जी ॥29॥

व्याख्या—हे प्रियतम ! आप सदा मेरी आँखों के आगे ही रहना। मुझसे पल भर के लिए भी दूर न होना। आप निरन्तर मुझे अपने दर्शन का सुख देते रहना तथा हमें भूल कर कभी चले न जाना (अथवा हमें भूल न जाना, विस्मृत न कर देना)। हे श्याम ! मैं इस भवसागर में बही जा रही हूँ। अतः तत्काल मेरी सुधि ले मेरा उद्धार कीजिए। अर्थात् विविध सांसारिक प्रपंचों एवं नाना कष्ट-आपदाओं के अकूल सिन्धु में प्रताड़ित मुझ दीना, दुखिया और निराश्रिता को अपनी कृपा का करवलम्ब दे उबार लीजिए। राणा ने मेरे प्राण-हरण हेतु विष का प्याला भेजा है; आप इसे अमृत बना दो। (हमारे विचार से इस पंक्ति का अर्थ भूतकाल में गठित कर यों करना अधिक संगत होगा—'हे भगवन् आपने पहले भी अनेक बार मेरी रक्षा की है। राणा ने जब मेरे प्राण लेने हेतु विष का प्याला भेजा था, तब आपने ही उसे अमृत बना दिया था।' यद्यपि 'दीज्यो' क्रिया भविष्यकालिक है, तथापि यह कदाचित् तुक-निर्वाह के लिए भी प्रयुक्त हो सकती है क्योंकि मीराँ ने विष-पान के अवसर पर या उससे पूर्व यह प्रार्थना की हो, ऐसा शक्य नहीं लगता।) मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधरलाल ! आप मिलकर बिछुड़ मत जाना।

1 बीसलदेवरासो; पृष्ठ 43 : सं० सत्यजीवन वर्मा।
2 चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत, पृष्ठ 45.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दार्थ—म्हाँने भूल····जाज्योजी = 1. मुझे भूलकर चले न जाना। । 2. मुझे भूल न जाना । बेग = शीघ्र । वर = 'कर' पाठ होना चाहिए ।

जोगिया से प्रीत कियाँ दुख होइ । (टेक)
प्रीत कियाँ सुख ना मोरी सजनी ! जोगी मित न कोइ ।
रात-दिवस कल नाहिं परत है, तुम मिलियाँ बिन मोइ ।
ऐसी सूरत या जग माँही फेरि न देखी सोइ ।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, मिलियाँ आँणँद होइ ॥30॥

व्याख्या—हे सखी ! जोगिया (निर्मोही प्रियतम) से प्रीति करने पर दुःख ही होता है । उससे नेह जोड़ने पर सुख नहीं मिलता क्योंकि जोगी किसी का मीत (प्रेमी) नहीं होता । निर्मोही प्रियतम से भला प्रीति-निर्वाह की क्या आशा की जाए? हे जोगी ! तुमसे मिले बिना मुझे रात-दिन, एक पल भी चैन नहीं पड़ रहा है । मन तुम्हारी उस रूप-माधुरी के ऐसा वशंवद हो गया है कि उस सूरत को देख लेने के बाद और कोई सूरत आँखों को जँचती ही नहीं । तुम्हारे जैसी सुन्दर-सलोनी सूरत फिर इस संसार में कभी नहीं देखी । मीराँ कहती हैं कि हे स्वामिन् ! अब तुम कब मिलोगे ? तुम्हारे मिलने पर ही मैं आनन्दित होऊँगी ।

शब्दार्थ—जोगिया = योगी; (प्यार से 'जोगिया') [कृष्ण] प्रियतम । मित = मीत; प्रेमी (सं. मित्र) ।

विशेष—तुलनीय—

परदेशी स्युं प्रीतडी हईडा मंडइ काय ।
वईरडओ वेध पुंणीनइ वेध विलाइ जाइ ॥[1]

जोगियारी प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल । (टेक)
हिल मिल बात बणावत मीठी, पीछै जावत भूल ।
तोड़त जेज करत नहिं सजनी, जैसे चमेली के फूल ।
मीराँ कहे प्रभु तुम्हरे दरस बिन, लगत हिवड़ा में सूल ॥31॥

व्याख्या—हे सखी ! उस जोगिया से हुई प्रीति ही सारे दुःखों का मूल है। उस निर्मोही से नेह नहीं जुड़ता तो इतना दुःख क्यों देखना पड़ता ! वह छली, पहले तो घुल-घुल कर मीठी बातें बनाता है और फिर उन्हें भूल जाता है । वह निष्ठुर नेह तोड़ते हुए देर नहीं लगाता, मानों चमेली का फूल ही तोड़ा हो । अर्थात् जैसे चमेली के फूल को सहज ही चट से तोड़ लिया जाता है, वैसे ही उस निर्मोही ने मेरी प्रीत के कोमल कुसुम को तोड़ डाला । मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! तुम्हारे

1 जयवन्तसूरि-कृत स्थूलिभद्र:कोशा, प्रेमविलासफाग ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

दर्शन बिना मेरे हृदय में शूल से चुभते हैं। अर्थात् तुम्हारे विरह की व्यथा से मन कराह-सा उठता है।

शब्दार्थ—जोगिया री = जोगिया की [निर्मोही प्रियतम कृष्ण की]। प्रीतड़ी = प्रेम; 'प्रीतड़ी' शब्द में गहन आत्मीयता का स्वर है। जेज = देर; विलंब। 'जेज' राजस्थानी शब्द है।

कोई दिन याद करोगे, रमता राम अतीत। (टेक)
आसण माँड अडिग होय बैठा, याही भजन की रीत।
मैं तो जाँणू संग चलेगा, छाँडि गयो अधबीच।
आत न दीसे, जात न दीसे, जोगी किसका मीत।
मीराँ कहै प्रभु गिरधरनागर, चरणन लागो चीत ॥32॥

व्याख्या—हे रमते राम जोगी! किसी न किसी दिन तो तुम मुझे याद करोगे ही। अर्थात् किसी न किसी दिन तो तुम्हें हमारी सुधि आएगी ही। अभी तो तुम योगासन मारकर ध्यान की मुद्रा में अचल और निस्पन्द बैठे हो। मेरी ओर से तुम पूर्णतः विरक्त और निरपेक्ष होगए हो। भला क्या यही भजन (प्रेम) की रीति है? मैं तो सोचती थी कि तुम प्रीति के इस मार्ग पर सदा मेरे साथ चलोगे; अर्थात् अन्त तक प्रेम का निर्वाह करोगे, परन्तु तुम तो मुझे बीच मार्ग में ही छोड़कर चल दिये। वस्तुतः यह उचित ही है, क्योंकि रमते-राम जोगी से प्रीति निभ ही कितने दिन सकती है? अर्थात् जो जोगी, कब आता है—कब जाता है—कुछ पता नहीं चलता—वह भला अन्त तक किसका साथ देगा? जिसके न आने-जाने का पता है, न रहने का ठौर-ठिकाना है, ऐसा जोगी भला किसका मीत (प्रेमी) होगा? ऐसे प्रियतम से प्रीति-निर्वाह की अपेक्षा करना एक दुराशा मात्र है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधरलाल! मेरे मन में तो आपके चरणों का ही ध्यान लगा रहता है। अर्थात् मन से मैं सदा उन्हीं का ध्यान करती रहती हूँ।

शब्दार्थ—रमते राम = घूमते-फिरते; साधुओं को विचरणशीलता के लिए प्रायः रूढ़ होगया है। अतीत = साधु; संन्यासी; जोगी [भावार्थ में प्रियतम कृष्ण, जिनके निष्ठुर प्रेमी रूप को मीराँ एक विरक्त और निरपेक्ष जोगी के रूप में प्रस्तुत करती है]। 'अतीत' राजस्थानी में साधु, संन्यासी का वाचक है, जिसे सं. 'अतिथि' से व्युत्पन्न माना जा सकता है। यह गोसाइयों के एक वर्ग-विशेष का भी बोध करता है। राजस्थानी में इसका एक रूप-भेद 'अतीथ' भी मिलता है। यहाँ यह 'योगी' (भावार्थ में कृष्ण) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि पद की चतुर्थ पंक्ति में आए 'जोगी किसका मीत' सम्बोधन से स्पष्ट है। अतः इ इसी अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। राजस्थानी में 'अतीत' शब्द के संन्यासी या विरक्त साधु के अर्थ में प्रयोग के कुछ उदाहरण देखिये—

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

1. गूदड़ी में अतीत का बासा ।
   भरणत गोरखनाथ माछिन्द्र का दासा ।।[1]
2. इतरै देवीदास बोलियौ—अतीतां क्यों खड़ा छौ ?
   कासूं देखां भीखी नै मारग लागौ ।।[2]
3. किसो अतीत विरण चोरो । (चेरो ?)
   किसो गर्त विरण पोहरो ।।[3]

मांड = मारकर; लगाकर । आ तन········दीसै = न आता दिखाई देता है, न जाता । अर्थात् जो सदा रमता या विचरण करता रहता है ।

मीत = प्रेमी । 'मीत' शब्द यद्यपि सं. 'मित्र' से व्युत्पन्न है, तथापि अपने इस तद्भव रूप में वह प्रेमी के अर्थ में ही रूढ़ होगया है । 'ढोला-मारू रा दूहा' में मारवणी अपने प्रियतम ढोला को सम्बोधन कर कहती है—

तूं ही सज्जरण, मित्त तूं, प्रीतम तूं परिवांरण ।

चीत = मन ।

जावा दे जावा दे, जोगी किसका मीत ? । (टेक)
सदा उदासी रहे मोरी सजनी ! निपट अटपटी रीत ।
बोलत वचन मधुर से मानूं, जोरत नाहीं प्रीत ।
मैं जाणूं या पार निभैगी, छाँडि चले अधबीच ।
मीराँ के प्रभु स्याम मनोहर, प्रेम पियारा मीत ।।33।।

व्याख्या—हे सखी ! जाने दे, जोगी भला किसी का मीत हुआ है ? अर्थात् जोगी किसी का मीत नहीं होता । उससे प्रीति-निर्वाह की कोई आशा नहीं करनी चाहिए । अतः इसे रोकना व्यर्थ है । हे सखी ! मैं जोगिया में अनुरक्त हूँ, परन्तु यह मुझसे सदा उदासीन (निरपेक्ष, विरक्त) रहता है । वस्तुतः इसकी रीति निपट अटपटी है, निरी उल्टी है क्योंकि जो इससे प्रेम करता है, उसी से यह विमुख है । यह मुझसे बातें तो बड़ी मीठी करता है परन्तु प्रीति नहीं जोड़ता । नेह नहीं निभाता। मैं तो सोचती थी कि इस जोगी से मेरी प्रीति निभ जाएगी परन्तु यह तो मुझे बीच में ही छोड़कर चल दिया । मीराँ कहती है कि हे श्यामसुन्दर ! तुम्हीं मेरे आराध्य और प्राणप्यारे प्रियतम हो ।

शब्दार्थ—जावा दे = जाने दे । उदासी = उदासीन, विरक्त । अटपटी = विचित्र, विपरीत । मानूं = मुझसे (मोनूं : म्हांनू आदि का रूपभेद) । श्याम मनोहर = श्यामसुन्दर (कृष्ण) ।

1 गोरखबानी, पृष्ठ 66.
2 पलक दरियाव री वात ।
3 सभा-शृंगार; सं. अगरचन्द नाहटा, पृष्ठ 272.
4 ढोल-मारू रा दूहा ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तुलनीय—

जावाद्यो नखराली नार, जावाद्यो ना ये,
जावाद्यो बाई की भाभी, जावाद्यो ना ये।[1]

धूतारा जोगी एकरसूँ हँसि बोल। (टेक)
जगत बदीत करी मनमोहन, कहा बजावत ढोल।
अंग भभूति गले मृगछाला, तू जन गुंढ़िया खोल।
सदन सरोज बदन की सोभा, ऊभी जोऊँ कपोल।
सेली नाद बभूत न बटवो, अजूँ मुनी मुख खोल।
चढ़ती बैस, नैण अणियाले, तू घरि-घरि मत डोल।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, चेरी भई बिन मोल ॥34॥

व्याख्या—हे धूर्त योगी ! (छली प्रियतम !) एक बार तो मुझसे हँसकर बोल ले। प्रीति-संभाषण करले। हे मनमोहन ! तुम्हीं ने तो मुझे (या मेरी प्रीति को) जगत् प्रसिद्ध कर दिया है। अर्थात् तुम्हारे प्रति मेरी प्रीति की बात लोक में विख्यात होगई है और मैंने भी इसे डंके की चोट कहा है, स्वीकार किया है। अर्थात् निश्शंक होकर मैंने तुम्हारे प्रति ढोल बजा-बजा कर अपने अनुराग की घोषणा की है। इसे कहने में मैं लोकलाज या अन्य किसी भी कारण से डरी नहीं हूँ। हे जोगी ! तू अपने अंगों पर भस्म लगाए है तथा तेरे गले में मृगछाला शोभित है। यह योगी वेश धारण कर (योगी होकर) तू इस जन की (मेरी) घुण्डियाँ तो खोल ! अर्थात् इसके वियोग-जन्य संशय-नैराश्य का तो निवारण कर। इस पर अपने निगूढ़ प्रेम का रहस्य तो प्रकट कर। हे जोगी ! मैं तो तेरी अनन्य रूप-माधुरी पर मुग्ध हूँ। इसीलिए शोभा के सदन तेरे मुख-कमल व कपोलों के सौंदर्य को खड़ी-खड़ी एकटक निहारा करती हूँ। तेरे मुख व कपोलों की अपूर्व सुषमा को मुग्ध हुई देखा करती हूँ। परन्तु हे जोगी ! तू ऐसा निष्ठुर है कि मेरी प्रीति से निरपेक्ष हुआ योगी का वेश धारण कर मौन बैठा हुआ है। तू गले में सेली (योगियों की कंठी या माला), हाथ में सींगी का बाजा, अंगों पर भस्म एवं कन्धे पर झोला धारण किए मौन बैठा है। हे योगी ! अब भी अपना कुछ तो मुँह खोल। अर्थात् इतना अनुनय करने पर तो कुछ प्रीति-वचन बोल कर मुझे कृतार्थ कर। हे तरुण तपस्वी ! इस चढ़ते यौवन की उम्र में और ऐसे मादक-तीक्ष्ण नयनों की निधि पाकर (इतने रूपवान होकर) तापस वेश में मुझे यों घर-घर घूमते देख, मन को एक ठेस-सी पहुँचती है। रूप और यौवन की ऐसी अतुल सम्पदा पाकर असमय में यह कैसा वैराग्य ? कौन कुलाङ्गना ऐसी होगी, जो इस अतुल रूप-राशि पर रीझ कर अपना सर्वस्व वार नहीं देगी ? मीराँ कहती है कि हे मेरे प्रभु, अविनाशी कृष्ण ! मैं तो आपकी इस अनुपम रूप-माधुरी

1 गणगौर का एक गीत : राजस्थान का वासन्तिक पर्व गणगौर, पृष्ठ 14.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पर रीझ कर आपकी बिना मोल की दासी होगई हूँ। अर्थात आपके पूर्णतः समर्पित होगई हूँ।

शब्दार्थ—धूतारा = धूर्त, छली। यह नाथ-सम्प्रदाय का एक प्रचलित शब्द है, जो साभिप्राय एवं विशिष्ट भाव-गर्भित है। इसकी व्याख्या करते हुए गोरखनाथ कहते हैं—

धूतारा ते, जे धूतै आप।[1]
भिष्या भोजन, नहीं संताप॥

अर्थात् "योगी धूर्त नहीं होता। अगर वह धूर्त है तो ऐसा धूर्त कि आपा (अहंकार) को ठग लेता है।"[2] मीराँ भी अपने छली प्रियतम को 'धूतारा' कहने में आनन्दानुभव करती है।

एकरसूँ = एक बार तो। उदाहरण—

घंट न वाजै देहराँ, संक न माने साह।
हेकरसाँ! फिर आवज्यो, माहूरा जयसाह॥

वदीत = विदित, विख्यात। भभूत = भस्म (सं. विभूति)। जन = इस जन की, (अपने प्रति)। गुंढिया खोल = ग्रन्थि खोल या रहस्य प्रकट कर। 'घुण्डी' या 'घुंढी' राजस्थानी में कपड़े के सिले हुए, मटर की आकृति के गोल बटन को कहते हैं। 'घुण्डी खोलना' एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है रहस्य खोलना या मर्म की बात प्रकट करना। सदन = घर, शोभा का विशेष्य। सरोज-बदन = मुख-कमल। ऊभी = खड़ी हुई। जोऊँ = देखती हूँ। सेली = साधुओं के गले में पहनने की माला या कंठी। नाद = सींगी, हरिण के सींग का बना हुआ बाजा, जिसे साधु लोग रखा करते हैं। न = और, तथा। प्राचीन राजस्थानी व जूनी गुजराती में 'न' इस अर्थ का बोध भी करता है। एक टीकाकार ने इसे यहाँ निषेधात्मक (नहीं) मानकर भूल की है। अनई, नई आदि इसके अन्य रूप-भेद हैं। उदाहरण—

1. बालक वृद्ध नइ रोगियउ। साध बाँभण नइ गाइ।[3]
2. वानर नइ वीछी खाधउ।[4]

बटवो = झोला। अजूँ = अब भी। बैस = वयस, उम्र। अणियाले = तीक्ष्ण, आयत।

1 गोरखबानी, पृष्ठ 16.
2 गोरखबानी, डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की टिप्पणी।
3 सीताराम चौपई (समयसुन्दर), पृष्ठ 62,
4 सभाशृंगार, पृष्ठ 270.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रमैया मेरे तोही सू लागी नेह ।
लगी प्रीत जिन तोड़ै रे बाला, अधिकौ कीजै नेह । (टेक)
जौ हूँ ऐसी जानती रे बाला, प्रीत कियाँ दुख होय ।
नगर ढँढोरो फेरती रे, प्रीत करो मत कोय ।
षीर न षाजे ग्रारी रे, मूरष न कीजे मित ।
षिण ताता। षिण सीतला रे, षिण बैरी, षिण मित ।।
प्रीत करैं ते वावरा रे, करि तोडै ते कूर ।
प्रीत निभावण, दलके षंभण, ते कोई बिरला सूर ।।
तुम गजगीरी कौ चूँतरो रे, हम वालू की भीत ।
ग्रब तो-म्याँ कैसे बणै रे, पूरब जनम की प्रीत ।।
एकै थाणे रोपिया रे, इक ग्राँबो, इक बूल ।
वाकौ रस नीकौ लगैरे, वाकी लागै सूल ।।
ज्यूँ डूँगर का वाहला रे, यूँ ग्रोछा तणा सनेह ।
बहता बहैजी उतावला रे, वे तो लटक बतावे छेह ।।
आयो साँवण भादवा रे, बोलण लागा मोर ।
मीराँ कूँ हरिजन मिल्या रे, ले गया पवन झकोर ।।35।।

व्याख्या—हे रमैया ! (कृष्ण) मेरा तो तुम्हीं से नेह लग गया है, प्रेम हो गया है । हे प्रियतम ! इस लगी हुई प्रीति को तोड़ो नहीं, बल्कि इसे ग्रधिकाधिक प्रगाढ़ करो । हे वल्लभ ! यदि मैं ऐसा जानती कि प्रेम करने से दुःख होता है तो मैं नगर में डोंडी पीट-पीट कर यह घोषणा करती कि संसार में कोई किसी से प्रेम न करे । प्रीति के बन्धन में न फँसे । वस्तुतः किसी ने ठीक ही कहा है कि फीकी (?) खीर नहीं खानी चाहिए एवं मूर्ख को मित्र नहीं बनाना चाहिए । ग्रथात् मूर्ख से प्रीति नहीं जोड़नी चाहिए क्योंकि उसका फल ग्रन्त में दुखद ही होता है । 'क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाः' के ग्रनुसार वह क्षण में रुष्ट व क्षण में तुष्ट तथा क्षण में मित्र व क्षण में शत्रु का-सा ग्राचरण करता है । जो प्रेम करता है, वह पागल (नासमझ, नादान) है, एवं जो प्रेम करके तोड़ता है वह निर्दय, क्रूर किंवा दुष्ट है । वस्तुतः इस संसार में प्रीति को निभाने वाला महान् योद्धा ग्रौर शूरवीर कोई विरला ही होता है । ग्रर्थात् प्रेम-मार्ग में ग्राने वाली बाधाग्रों व ग्रपवादों का सामना करते हुए प्रीति को निभाने वाला व्यक्ति निश्चय ही शूरवीर व योद्धा कहा जाना चाहिए । ऐसा व्यक्ति संसार में विरला ही होता है । हे प्रियतम ! ग्राप सबल व समर्थ हो तथा मैं ग्रवश व ग्रसहाय हूँ । ग्राप यदि पक्के चूने के बने चबूतरे के समान सुदृढ़ हो तो मैं बालू की भीत के समान दुर्बल । फिर भला ग्रापके ग्रौर मेरे कैसे निभ सकती है, क्योंकि मैं तो सर्वथा ग्रापके ग्रयोग्य हूँ । परन्तु हे प्रियतम ! पूर्व जन्म की ग्रपनी प्रीति का

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

स्मरण करके ही इसे निभाइए। अर्थात् मेरा-आपका सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरों का है, यह विचार करके ही, मेरे पातृत्व पर ध्यान न दे, आप मेरे प्रति अपनी प्रीति का निर्वाह कीजिए। एक ही स्थान पर रहने पर भी गुणावगुणों से व्यक्ति प्रिय या अप्रिय हो जाता है। जैसे एक ही थाले या आलबाल में लगाए गए आम और बबूल के वृक्ष में एक (आम) का रस मधुर लगता है, जबकि दूसरे (बबूल) के शूल चुभते हैं। इसी भाँति, मेरे मन को, जो आपके प्रेम-रस का आस्वादन कर चुका है अब संसार की अन्य वस्तुएँ कंटक-तुल्य प्रतीत होती हैं। हे प्रियतम! तुच्छ व्यक्तियों का स्नेह पर्वत पर के बरसाती नालों की भाँति अल्पकालिक होता है, जो तनिक सी वृष्टि होने पर वेग से बहने लगते हैं परन्तु शीघ्र ही उनका अन्त आ जाता है। दुर्जनों की प्रीति भी ऐसी ही क्षण-स्थायी होती है। हे प्रियतम! तुम उन तुच्छ जनों की प्रीति-रीति का अनुसरण न करो। अब सावन-भादो के महीने आ गए हैं। मोर बोलने लगे हैं। इस पावसागम के फलस्वरूप मयूरों की उल्लसित कंठ-ध्वनि को सुनकर मेरी विरह-व्यथा और भी उद्दीप्त हो उठी है। मेरे लिए एक-एक क्षण असह्य हो रहा है। प्रतिपल तुम्हारी स्मृति सता रही है। मीराँ कहती है कि ऐसे ही विरह-दशा में मुझे भगवद्भक्त मिल गए, जिससे मैं हरि-भक्ति के प्रवाह में वैसे ही बह गई जैसे (कोई तृण) पवन के प्रवाह में बह जाता है।

शब्दार्थ—रमैया = राम से बना शब्द, जो निर्गुण संत-कवियों द्वारा बहुशः प्रयुक्त हुआ है। यहाँ यह कृष्णवाची है। बाला = प्रियतम। सं. वल्लभ; राज० बालंभ, बाल्हा आदि। आरी = अर्थ अस्पष्ट। कदाचित् पाठ सदोष हो। हमारा अनुमान है कि 'आरी' शब्द कदाचित् फीकी या शर्कराहीन खीर (या दूध) का वाचक हो, क्योंकि मध्यकालीन गुजराती व राजस्थानी काव्य-ग्रंथों में खीर के साथ शर्करा के संयोग को उसके वैशिष्ट्य-वर्द्धन का एक अनिवार्य उपकरण माना गया है। उदाहरणतः—

1. सुगुण क्षीरि अनइ प्रधान खाँड मूंकी तीरि।[1]
2. एक सोनूँ अनैं सुगंध, एक गुण अनैं गोविंद।
एक खीर अनैं साकर कपूर, एक घेवर अनैं प्रीस्या भरपूर॥[2]

तथा—

3. एक क्षीरान्नु, अनइ सर्करा सम्पर्क।[3]

अतः बहुत सम्भव है यहाँ 'आरी' शब्द फीकी खीर या शर्कराहीन क्षीर का वाचक हो। जो हो, अर्थ अस्पष्ट है।

1 वर्णक समुच्चय, सं० डॉ. भोगीलाल साँडेसरा, पृष्ठ 75.
2 सभा-शृंगार, सं० अगरचन्द नाहटा, पृष्ठ 267.
3 वही, पृष्ठ 268.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

क्रूर = निर्दय, क्रूर, दुष्ट। दल के खंभण = दल-थंभण, महान् वीर या योद्धा। उदाहरण—

घोड़ा हींस न भल्लिया पिय नींदड़ी निवारि।[1]
वैरी आया पाँवणा, दलथम्भ तूझ दुवारि॥

गजगीरी को चूँतरों = चूने का बना पक्का व सुदृढ़ चबूतरा। राजस्थानी सबद कोस में गजगीरी का अर्थ 'बढ़िया लौह' दिया गया है[2] तथा उसके उदाहरण स्वरूप मीराँ के पद की इसी पंक्ति को उद्धृत किया गया है। स्पष्ट ही, यहाँ विद्वान् कोशकार से स्खलन होगया है। वस्तुतः 'गजगीरी' शब्द यहाँ 'गचगीरी' का ही रूप-भेद है। इसी का एक अन्य रूप-भेद 'गछगरी' भी है, जिसका 'चौबीलो' में प्रयोग हुआ है। उदाहरणतः—

'गछगरी रौ आँगणौ थौ, तितरै एक कीड़ी चावल ले हाली हुती, तितरै बीजी अ ई खोसण नुं झूंबी।[3]

तो–म्याँ = तेरे-मेरे। थाणँ = थाले या आलवाल में। रोपिया = लगाए। बूल = बबूल। राजस्थानी में बबूल को बूँल या बँवल्यो भी कहते है। डूँगर = पर्वत। वाहला = वरसाती नाले। तुलनीय।

डूँगर केरा वाहला ओछाँ केरा नेह।[4]
वहता वहइ उतामला, लटक दिखावई छेह॥

उतावला = वेग से। लटक = अशुद्ध पाठ है। यहाँ 'छिटक' या 'छटक' होना चाहिए। अर्थ है–शीघ्र ही। छेह = अन्त।

विशेष—हमारे काव्यों में नीति या ज्ञान के सुभाषितों के एक ग्रन्थ से दूसरे में आदान-प्रदान की परम्परा रही है। यही कारण है कि मध्यकालीन प्रेमाख्यानक काव्यों में एक ही 'गाहा' (गाथा) थोड़े बहुत रूपान्तर के साथ दशाधिक ग्रन्थों में मिलती है। 'डूँगर केरा वाहला' की सूक्ति भी कई काव्य-ग्रन्थों में आई है। इसी भाँति, मूर्ख को मित्र न बनाने की बात भी कई कवियों ने कही है। उदाहरण—

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराई।[5]

1 हाला-झाला रा कुण्डलिया–ईसरदास।
2 देखिए राजस्थानी सबद कोस, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 668, सं० सीताराम लालस।
3 चौबोली, पृष्ठ 2, सं० डॉ. कन्हैयालाल सहल व प्रो. पतराम गौड़।
4 ढोला-मारू रा दूहा 338.
5 कबीर–ग्रन्थावली।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गिरधर रूसणूँ जी कोंण गुन्हाँ ? ।।टेक।।
कछु इक ओगुण काढो म्हांमैं, म्हे भी कानां सुणाँ ।
मैं तो दासी थारी जनम-जनम की, थे साहिब सुगणाँ ।।
काँई बातसूँ करयौ रूसणूँ, क्यों दुख पावो छो मनाँ ।
किरपा करि मोहि दरसण दीज्यो, बीते दिवस घणाँ ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, थारो ही नाँव भणाँ ।। 36 ।।

व्याख्या—हे गिरधर ! आप किस गुनाह पर हमसे रूठ गए ? कुछ तो हमें अपना दोष बताइए ताकि हम भी कानों सुनें। हमें अपने अवगुणों का पता तो चले! मैं तो आपकी जन्म-जन्मान्तरों की दासी हूँ और आप मेरे गुणी स्वामी है; प्रियतम हैं। फिर भला यह कैसी नाराजगी ? आप तनिक यह तो बताएँ कि हमसे यह रूठना किस कारण से ठान रखा है ? व्यर्थ ही आप भी अपने मन में क्यों दुःख पाते हैं ? हमसे मिले बिना आप भी दुःखी तो रहते ही होंगे ? अब यह कोप छोड़ कृपा कर हमें दर्शन दीजिए। आपको आए बहुत दिन बीत गए हैं। हे मीराँ के अविनाशी प्रभु ! मैं तो नित्य आपका ही नाम जपा करती हूँ। अतः मुझे अपने प्रीति-प्रसाद से कृतार्थ कीजिए।

शब्दार्थ—रूसणूँ = रूठना; प्रणय-मान। गुन्हाँ = गुनाह के कारण। इस शब्द का पाठान्तर 'गुणाँ' भी मिलता है, जिसका अर्थ भी वही है। राजस्थानी में 'गुण', 'गुणां' आदि 'गुनाह' के ही रूपभेद हैं। यथा—

आज तोने गुण माफ किया ।[1]

काढ़ो = निकालो, बताओ। साहब = प्रियतम। इस शब्द पर अकेले सन्त-सम्प्रदाय का ही ठेका नहीं है। राजस्थानी लोक-साहित्य में यह एकान्ततः प्रियतम के अर्थ में ही रूढ़ होगया है एवं इसी अर्थ में बहुशः प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण—

1. गोरी म्हारी ए हरियालो बूटी जे क्यूं ?[2]
यूँ म्हारा सायब यूँ जी यूँ।
2. रावटी पुराणी भंवर जी होगई जी,
हाँ जी, टपकण लाग्या जूण ।
इब घर आवो गोरी का सायबा जी ।[3]

यहाँ भी यह शब्द इसी प्रियतमवाची अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

सुगणाँ = सद्गुणी, गुणवान। भणाँ = जपती हूँ।

विशेष—'दासी थारी जनम-जनम' वाली पंक्ति में जिस जन्म-जन्मान्तरों के प्रीति-सम्बन्ध की व्यंजना हुई है, उसके बीज वस्तुतः हमारे भारतीय चिन्तन एवं हमारी आध्यात्मवादी संस्कृति में निहित हैं, जिसके अनुसार विवाह दो देहों का

1 बात रीसालू री।
2 राजस्थानी–लोकगीत; पृ 106; सूर्यकरण पारीक।
3 वही; पृ 60.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

संयोग मात्र न होकर दो आत्माओं का ही अखण्ड और अविच्छेद्य मिलन है। हिन्दी ने अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्पराएँ संस्कृत से ली हैं। भवान्तर में अटूट विश्वास और आस्था की यह परम्परा भी हमें अपने महान् संस्कृत-साहित्य से ही मिली है, जिसे मैं मानवीय प्रेम की महत्तम परिकल्पना एवं विश्वास की सर्वोपरि सम्पदा समझता हूँ। हमारा सांस्कृतिक जीवन-चक्र इसी विश्वास की धुरी पर घूमता रहा है, जिससे प्रेरित हो न जाने कितने वीरों ने युद्ध-भूमि में मृत्यु का आलिंगन किया है, न जाने कितनी सतियों ने जौहर जगाए हैं और न जाने कितनी मीराँओं ने हँसते-हँसते विष-पान किया है! भारतीय चिन्तना में निबद्ध इस विश्वास के अमृत को पीकर ही तो हम मृत्युञ्जय हुए हैं। हमारा अशेष संस्कृत-साहित्य इसी अटूट विश्वास का अमृत-कुण्ड है, जिसकी एक-एक बूँद में शत-शत अमरत्व विलसते हैं। एक उदाहरण—

सतीव योषिष्प्रकृतिः सुनिश्चचला,
पुमांरूमभ्येति भवान्तरेष्वपि ।[1] (महाकवि माघ)

जन्म-जन्मान्तरों का यह अटूट स्नेह ही मीराँ की प्रेम-वर्तिका को सतत प्रज्ज्वलित किए है!

हरि! तुम हरो जन की भीर।
द्रोपदी की लाज राखी, तुम बढायो चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि, धर्यो आप सरीर।
हिरनकश्यप मार लीनो, धर्यो नाहिन धीर।
बूडते गज ग्राह मार्यो, कियो बाहर नीर।
दासी मीराँ लाल गिरधर, दुख जहाँ तहाँ पीर॥ 37॥

व्याख्या—हे कृष्ण! आप भक्तों का संकट दूर कीजिए। आपने सदा ही उनका कष्ट-मोचन किया है। उदाहरणार्थ जब दुष्ट दुःशासन ने भरी सभा में पाण्डव कुल-वधू द्रौपदी को विवस्त्र करना चाहा तो आपने ही उसका चीर बढ़ाकर उसकी लाज बचाई। भक्त प्रह्लाद के लिए आपने ही नृसिंह रूप धारण कर दुष्ट हिरण्यकशिपु से उसकी रक्षा की। इसी भाँति, आपने ग्राह को मार कर उसके द्वारा ग्रस्त गजेन्द्र को, जो डूबने ही वाला था, पानी से बाहर निकाल लिया। ऐसे न जाने कितने अगणित भक्तों को आपने संकट से मुक्त किया है। हे गिरधरलाल! यह मीराँ भी आप ही की दासी है। आप जानते ही हैं कि जहाँ चोट लगती है, वहाँ दर्द भी होता है। मैं भी एक ऐसी ही प्रेमाहता हूँ। अतः मेरी भी सुधि ले मुझे इस विरह-संताप से मुक्त कीजिए।

शब्दार्थ—भीर = संकट। रूप नरहरि = नृसिंहावतार।

1 शिशुपालवध 1, 63.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विशेष—दु:शासन द्वारा द्रौपदी के चीर-हरण की कथा लोक-विश्रुत है। धृतराष्ट्र द्वारा पाण्डवों को हस्तिनापुर का राज्य दे दिए जाने पर पाण्डवों ने वहाँ एक भव्य प्रासाद बनवाया, जिसकी विशेषता यह थी कि उसमें जल के स्थान पर स्थल और स्थल के, स्थान पर जल का भ्रम होता था। एक बार दुर्योधन उस प्रासाद को देखने आया और इसी भ्रान्तिवश पानी के हौज में गिर पड़ा। गवाक्ष में बैठी हुई द्रौपदी ने हँसते हुए ताना मार दिया—अन्धों के अन्धे ही पुत्र होते हैं। बात चुभ गई। नारी के अपमान से आहत दुर्योधन प्रतिशोध की ज्वाला से दग्ध हो अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। उसने कूटनीति से द्यूत-क्रीड़ा में पाण्डवों से सब कुछ जीत कर द्रौपदी को भी जीत लिया। द्रौपदी भरी सभा में लाई गई एवं वहीं उस अपमान का बदला चुकाने के लिए जब दु:शासन ने उसे निर्वसन करना चाहा तो आर्त द्रौपदी की पुकार पर कृष्ण ने उसे चीर-दान दे उसकी लाज रख ली। द्रौपदी ने इन करुणा-भरे शब्दों में पुकार की थी—

हे नाथ ! हे रमानाथ ! व्रजनाथार्तिनाशन ।
कौरवार्णवामग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥
कृष्ण ! कृष्ण ! महायोगिन ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन् !
प्रपन्नां पाहि गोविन्द ! कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥[1]

हरि बिन कूंण गती मेरी ? (टेक)
तुम मेरे प्रतिपाल कहिये, मैं रावरी चेरी।
आदि अंत निज नाँव तेरो, हिया में फेरी।
बेरि-बेरि पुकारि कहूँ, प्रभु आरति है तेरी।
यौ संसार विकार सागर, बीच में घेरी।
नाव फाटी प्रभु पाल बाँधो, बूड़त है बेरी।
बिरहणि पिव की बाट जोवै, राखिल्यौ नेरी।
दासी मीराँ लालगिरधर, सरणि हूँ तेरी ॥ 38 ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आपके बिना मेरी कौन गति है ? अर्थात् आपके सिवा मेरे और कोई ठिकाना नहीं है, कोई अवलम्ब नहीं है। आप ही मेरे प्रतिपालक हैं एवं मैं आपकी दासी हूँ। मैं अहर्निश अपने हृदय में आपके ही नाम का आद्योपान्त स्मरण-चिन्तन करती हूँ। आपको बारम्बार पुकारती हूँ, क्योंकि हे प्रभु ! मुझे आपके दर्शनों की प्रबल लालसा लगी हुई है, जिसके लिए मैं अतिशय विकल रहती हूँ। यह संसार नाना विकारों (दोषों, कलि-मलों) का अथाह समुद्र है, जिसके बीच मैं घिर गई हूँ। मेरी नाव टूट गई है, जिससे अब बेड़ा डूबने ही वाला है। हे प्रभु ! आप अविलम्ब इसकी पाल बाँधिए अन्यथा यह जीवन-नौका

1 महाभारत; सभापर्व; 67.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इस संसार-सागर में निरवलम्ब डूब जाएगी। हे प्रियतम! आपकी यह विरहिणी प्रिया निरन्तर आपकी बाट जोहा करती है। आपके आगमन की प्रतीक्षा में सतत पलकें बिछाये रहती है। अतः इसे अपने पास ही रखिए। सतत अपने सामीप्य का सुख दीजिए। आपकी यह दासी मीराँ अविरत राम का ही (आपका ही) नाम रटती रहती है तथा अनन्य भाव से आपकी शरण आई है। इसे शरण-सौख्य प्रदान कीजिए।

शब्दार्थ—कूंण = कौन, कहाँ। गति = ठिकाना, आश्रय। प्रतिपाल = पालन करने वाले। चेरी = दासी। आरति = प्रबल लालसा, तीव्र आकांक्षा या उत्कण्ठा। उदाहरण—

ढोलइ मनि आरति हुवइ, सांभलि ए विरतंति।[1]

विकार-सागर = काम-क्रोधादि नाना दोषों का समुद्र। बेरी = बेड़ा, नौका। नेरी = पास (सं० निकट)।

प्रभु जी ! थे कहाँ गया नेहड़ो लगाय ? (टेक)
छोड़ गया विश्वास संगाती, प्रेम की बाती बराय।
विरह-समंद में छोड़ गया छो, नेह की नाव चलाय।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, तुम बिन रहा न जाय ॥ 39 ॥

व्याख्या—हे प्रियतम ! हे प्राणेश्वर ! तुम मुझसे नेह लगा कर कहाँ चले गए ? हे मेरे विश्वासों के साथी ! तुमने मेरे विश्वासों को ही तोड़ दिया। मेरी आशाओं को चूर-चूर कर दिया। मेरे हृदय में प्रेम की लौ लगाकर मुझे छोड़ दिया। मेरे प्राणों में प्रेम की वर्तिका जला कर अब तुम मुझसे विमुख होगए ! हे निष्ठुर ! क्या प्रेम की यही रीति है ? नेह की यही नीति है ? प्रीति की नाव चला कर तुमने मुझे विरह-सिन्धु में निराधार छोड़ दिया। अर्थात् मुझसे प्रेम कर विरह का दारुण दुःख दे दिया। मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! तुम कब मिलोगे ? तुम्हारे बिना रहा नहीं जाता।

शब्दार्थ—नेहड़ा = स्नेह, प्रेम। म्हाँ = मुझे। सुविश्वास संगाती = विश्वासों के साथी। 'संघात' या 'संघताई' के 'साथ' के अर्थ में प्रयोग का निम्न उदाहरण देखिए

1. सुभट सुग्रीव कहइं देव सुणो वीनती,
   जुद्ध रावण **संघताइं** म मंडउ ॥[2]

2. आतम हूसी एकलो, छूटत तन **संघाथ**।[3]

1 ढोला-मारू-रा दोहा।
2 सीताराम चौपाई, पृष्ठ 124, सं० अगरचन्द, भंवरलाल नाहटा।
3 हरिरस ; ईसरदास रचित (345), पृष्ठ 141.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

'संघात' (साथ) देने वाला ही 'संगाती' या 'संघाती'। उदाहरण—
वैंणा रा रसीला रैंणा रा सवादी।
रसराज **सैंणा री संगाती** प्रांण सूँ प्यारा म्हाँरा।[1]
वाती = बत्ती; वर्तिका (प्रेम की लौ)।

डारि गयो मनमोहन पासी। (टेक)
ग्राँवा की डालि कोइल इक बोलै, मेरो मरण ग्ररु जग केरी हाँसी।
बिरह की मारी मैं बन-बन डोलूँ प्राण तजूँ, करवत ल्यूँ कासी।
मीराँ के प्रभु हरि ग्रबिनासी, तुम मेरे ठाकुर, मैं तेरी दासी॥ 40॥

व्याख्या—मनमोहन (कृष्ण) मेरे गले में प्रेम का फन्दा डाल गया है। ग्रर्थात् मुझे ग्रपने प्रीति-बन्धन में बाँध गया है, फलतः मैं उसके विरह में व्यथित हो रही हूँ। इसीलिए जब ग्राम की डाल पर कोयल बोलती है तो मेरा तो मरण हो जाता है ग्रोर जगत् की हँसी होजाती है। ग्रर्थात् कोयल की बोली सुन मेरी विरह-व्यथा उद्दीप्त हो उठती है, जिससे मैं मरणान्तक पीड़ा का ग्रनुभव करती हूँ परन्तु संसार है, जो मेरी प्रेम-वेदना को न समझ उस पर हँसता है। उसका उपहास करता है। कैसी निर्मम विडम्बना है यह! ग्रब तो मेरी विरह-वेदना ऐसी ग्रसह्य हो चली है कि मैं इससे उद्भ्रान्त हुई ग्रपने प्रियतम की खोज में वन-वन में घूमती फिर रही हूँ। जी चाहता है कि काशी करवत ले ग्रपने प्राण त्याग दूँ; मर जाऊँ ग्रौर इस प्रकार इस दुसह्य विरह-वेदना से मुक्ति पालूँ! ग्राप ही मेरे स्वामी हैं ग्रौर मैं ग्रापकी दासी हूँ। ग्रतः ग्रपनी इस चरण-सेविका को ग्रब शीघ्र दर्शन दे कृतार्थ कीजिए।

शब्दार्थ—पासी = फाँसी (सं. पाश) तुलनीय—

प्रीतम पासी प्रेमरी, पड़ी गले में ग्राय।[2]
काढी बाढी ना खुलै, ग्राँट गाँठ ग्रड़ जाय॥

केरी = की। ठाकुर – स्वामी, ग्राराध्य।

विशेष—पद की ग्रन्तिम पंक्ति में माधुर्य-भावना के साथ दास्य-भावना का सुन्दर सामञ्जस्य हुग्रा है। यह राजस्थान की सांस्कृतिक परम्पराग्रों के सर्वथा ग्रनुरूप है, जहाँ पत्नी ग्रपने पति को, ग्रादर-मिश्रित प्रेम के कारण, ग्रपना स्वामी भी समझती है—हृदय का स्वामी; मन ग्रौर प्राणों का स्वामी। यह नारी की हीनता का नहीं, उसके महत् शील ग्रौर वैनत्य का द्योतक है, जिसके बल पर ही वह ग्रपने प्रियतम की हृदय-स्वामिनी बन सकी है।

1 महाराजा मानसिंहजी जोधपुर-रचित गीत (रसीलै राज रा गीत) पृष्ठ 61, 'परम्परा'।
2 रसराज, 'परम्परा' अंक, सं० डॉ. नारायणसिंह भाटी, पृष्ठ 92.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

माई ! मेरी हरि न बूझी बात ।
या पिंड माँही प्राण पापी, निकसि क्यों नहि जात ।
मुख न बोले, पट न खोले, साँझ तैं परभात ।
अबोलणा जुग बीतन लागौ, काहे की कुसलात ।
सावन आवन कह गये हरि, आवन हीं की बात ।
रैनि अँधेरी बीज चमकै, तारा गिनत विहात ।
कै कटारी कंठ सारूँ, कै मरूँ विष खात ।
दासि मीराँ लालगिरधर, मन लालची ललचात ।। 41 ।।

व्याख्या—हे सखी ! कृष्ण ने मुझसे बात तक नहीं पूछी । अर्थात् प्रीति-वार्ता तो दूर, साधारण कुशल-क्षेम भी नहीं पूछा । उनकी इस निपट निष्ठुरता और उदासीनता से मेरा तो हृदय ही टूक-टूक होगया । जी चाहता है कि इस दारुण व्यथा को झेलने की बजाय तो मैं मर जाऊँ । हाय ! ये पापी प्राण इस शरीर में से निकल क्यों नहीं जाते ? अरी, प्रियतम की उस निष्ठुरता का मैं क्या बखान करूँ । उन्होंने न तो मेरा घूँघट ही हटाया और न मुँह से कुछ बात ही की । मैं सारी रात प्रतीक्षा ही करती रही और उसी में पल-पल करते रात बीत गई व प्रभात होगया । अनबोले (मूक) प्रियतम के सान्निध्य में वह एक रात क्या बीती, मानो युग बीता हो । [अथवा प्रियतम का वह न बोलना मानो एक युग के समान दीर्घ और दूर्वह जान पड़ा] उस निर्मोही का वह मौन मेरे लिए किस मर्मान्तक पीड़ा से कम था ! हे सखी ! अब हमारी क्या कुशल पूछती हो ? इस अकथ्य वेदना के होते अब हमारी क्या कुशल होगी ? हे सखी ! कृष्ण सावन में आने को कह गए थे परन्तु हमने तो केवल आने की बात ही सुनी; वे आए नहीं । इधर घोर अँधेरी रात में रह-रह कर बिजलियाँ चमक रही हैं, जिनसे मुझे उनकी याद सताने लगी है एवं रात तारे गिनते ही कटती है । इस असह्य विरह-संताप के कारण मेरी इच्छा होती है कि या तो अपने कंठों पर कटारी चला लूँ या विष खाकर मर जाऊँ । परन्तु हे मीराँ के गिरधरलाल ! मेरा यह लालची मन आपके दर्शन हेतु लालायित है । इसीलिए रुकी हुई हूँ ।

शब्दार्थ—माई = हे सखी ! पिंड = शरीर; (सं. पिण्ड) । पट = घूँघट या अवगुण्ठन । उदाहरण—

1. घूंघट के पट खोल रे, तोहे पिया मिलेंगे ।[1]
2. भँवर पटा मैं नथ झलकै, हो चंगी नथ झलकै जी ।[2]

अबोलणा = 1. न बोलने वाला (मूक); इस अर्थ में प्रियतम का विशेषण । 2. न बोलना (मौन); इस अर्थ में भाववाचक संज्ञा । राजस्थानी में

1 कबीर-ग्रंथावली ।
2 रसीले राज रा गीत (महाराजा मानसिंहजी, जोधपुर), पृष्ठ 38 'परम्परा' ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

किन्हीं दो में परस्पर वार्तालाप-व्यवहार तक न होने पर प्रायः कहा जाता है—'अबोलणा कर मेल्या छै।'

परम सनेही राम की नित ओलूं री आवै। (टेक)
राम हमारे, हम हैं राम के, हरि बिन कछू न सुहावै।
आवण कह गये, अजहूँ न आये, जिवड़ो अति उकलावै।
तुम दरसण की आस रमैया, कब हरि दरस दिलावै।
चरण-कँवल की लगनि लगी नित, बिन दरसण दुख पावै।
मीराँ कूं प्रभु दरसण दीज्यौ, आँणद बरण्यूँ न जावै॥ 42॥

व्याख्या—प्राण-प्यारे प्रियतम राम (कृष्ण) की याद नित्य सताती रहती है। राम मेरे हैं और मैं अपने राम की हूँ—दोनों एकरूप हैं, अनन्य हैं। हरि के बिना मुझे कुछ नहीं सुहाता। मेरा मन केवल उन्हीं में अनुरक्त है। वे आने की कह गए थे, परन्तु अभी तक तक नहीं आए। हे रमैया! मैं तुम्हारे दर्शन की आशा लगाए बैठी हूँ। हे हरि! कब दर्शन दोगे? मेरे मन में नित्य आपके चरण-कमलों के दर्शन की ही लगन लगी रहती है। आपके दर्शन बिना यह दुःखी रहता है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु! अब शीघ्र दर्शन दो। आपके दर्शन से जो आनन्द मुझे मिलता है, वह सर्वथा अनिवर्चनीय है। मैं उसका वर्णन नहीं कर सकती।

शब्दार्थ—परम सनेही = अनन्य प्रियतम। नीति = नित्य। एक टीकाकार ने इसकाअर्थ 'व्यवहार' कर डाला है, जो भ्रान्त है। शुद्ध पाठ 'नित' है। ओलूं = याद; प्रिय-स्मृति। यह राजस्थानी का एक विशिष्ट भाव-गर्भित शब्द है। श्री नारायणसिंह भाटी ने 'ओलूं' नामक एक अतीव भावपूर्ण विरह-काव्य की रचना की है।

विशेष—मीराँ के लिए 'राम', 'रमैया' व 'हरि' सब प्रियतम कृष्ण के ही वाचक हैं—यह इस पद में प्रयुक्त तीनों सम्बोधनों से स्पष्ट होजाता है। उसके सगुण स्वरूप की व्यंजना 'चरण-कँवल' जैसे शब्दों से होजाती है।

हे री मैं तो दरद-दिवानी मेरा दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस बिध सोना होय।
गगन-मण्डल पै सेज पिया की, किस बिध मिलना होय।
घायल की गति घायल जानै, की जिन लाई होय।
जौहर की गति जौहर जानै, कि जिन जौहर होय।
दरद की मारी वन-वन डोलूँ, बैद मिला नहि कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटैगी, जद बैद साँवलिया होय॥ 43॥

व्याख्या—हे सखी! मैं तो प्रेम-पीड़ा से पागल हूँ; मेरा दर्द कोई नहीं जानता। हे सखी! प्रेम करना तो सूली की सेज पर सोना है, जहाँ नींद कहाँ? अर्थात् प्रेम-वियोगिनी को अहर्निश विरह का जो दारुण संताप सताता है, उसके

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कारण उसे चैन कहाँ ? प्रियतम की सेज भी सुदूर गगन-मंडल पर (आध्यात्मिक साधना के संदर्भ में शून्य स्थित सहस्रार-चक्र में) है ! वहाँ भला कैसे मिलना हो सकता है ? अर्थात् प्रेम का पंथ निपट कष्ट-भरा है। मीराँ कहती है कि घायल का दर्द घायल ही जानता है, या वह जिसने घाव किया हो, प्रेम की पीड़ा दी हो। दूसरा इस दर्द को क्या समझे ? रत्न का मूल्य जौहरी ही जानता है या वह जिसके पास जवाहर होता है। इसी भाँति, अपने मन का दर्द भी बस मैं ही जानती हूँ। हे सखी ! इस प्रेम-पीड़ा से व्यथित हुई मैं वन-वन में डोलती फिर रही हूँ परन्तु इसका उपचार करने वाला वैद्य मुझे कोई नहीं मिला। अर्थात् किसी भी प्रकार मेरे विरह की यह दारुण व्यथा मिटी नहीं। हे प्रभु ! मीराँ की यह विरह-पीर तो तभी मिटेगी, जब स्वयं साँवरिया ही वैद्य बन कर आएँगे। अर्थात् प्रियतम श्यामसुन्दर के आने पर ही मुझे इस विरह-पीड़ा से निस्तार मिलेगा। उसके बिना यह पीर मिटने की नहीं।

नातो नाम को रे मोसूं, तनक न तोड़्यो जाय।
पानां ज्यूं पीली पड़ी रे, लोग कहै पिंड रोग।
छांने लांघण मैं किया रे, राम मिलण कै जोग।
बावल वैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरखि बैद मरम नहिं जाणै, करक कलेजा माँहि।
जा वैदा ! घरि आपणै रे, मेरा नांव न लेइ।
मैं तो दाधी-विरह की रे, तू काहे को दारू देइ।
माँस गले-गल-छीजिया रे, करक रह्या गल आहि।
आँगलियाँ रो मूंदड़ो रे, म्हारे आवण लाग्यो बाँहि।
रहु-रहु पापी पपीहरा रे, पिव को नाम न लेइ।
जे कोई विरहिणि सांभलै, पिव कारण जिव देइ।
खिण मंदिर, खिण आँगणै रे, खिण खिण ठाढी होइ।
घायल ज्यूं घूमूं सदा री, म्हारी विथा न बूझै कोइ।
काढ़ि कलेजो मैं धरूं रे, कौवा ! तूं ले जाइ।
ज्यां देसाँ म्हारे पिव बसै, वाँ देखत तू खाइ।
म्हारो नातो नांव को रे, और न नातो कोइ।
मीराँ व्याकुल विरहिणी रे ! दरसण दीजो मोइ ॥ 44 ॥

शब्दार्थ—लाई = लगाई। जौहर = जवाहर, रत्न।

व्याख्या—हे सखी ! मैं तो कृष्ण-नाम से ही अनुरक्त होगई हूँ। उनके नाम का यह नाता अब मुझसे तनिक भी तोड़ा नहीं जाता। अर्थात् श्याम के साथ जो मेरा अनन्य प्रीति-सम्बन्ध होगया है, वह अब किसी भी प्रकार टूट नहीं सकती।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

श्याम के वियोग में मैं तरु-पत्र की भाँति पीली पड़ गई हूँ, किन्तु मेरी विरह-व्यथा से अपरिचित संसार समझता है कि मेरे पाण्डु-रोग (पीलिया) होगया है। यह कैसी विडम्बना है! मेरे मन की पीड़ा को कोई समझता ही नहीं। मैंने अपने आराध्य राम (कृष्ण) से मिलने हेतु छिपकर न जाने कितने ही लंघन (व्रत, उपवास) किए। पिता ने समझा कि मैं रोग-वश दुर्बल होगई हूँ। अतः उन्होंने वैद्य बुलवाया तथा मेरा हाथ दिखलाया। परन्तु मूर्ख वैद्य मेरी मर्म-व्यथा को नहीं समझता। यह विरह की कसक तो मेरे कलेजे में है। मेरा हाथ देखकर इस मर्म व्यथा को वह कैसे समझेगा? अरे वैद्य! तुम घर जाओ; मुझे देखना तो दूर, मेरा नाम भी न लो। मैं तो विरह से दग्ध हूँ। तुम मुझे क्यों दवा देते हो? विरह-व्यथा के कारण मेरे तन का माँस गल-गल कर क्षीण होगया है तथा यह शरीर गल कर अस्थि-पंजर मात्र रह गया है। मैं इतनी दुर्बल होगई हूँ कि मेरे अंगुलियों की अँगूठी बाँहों में आने लगी है।

अरे पापी पपीहे! तुम चुप रहो। 'पी-पी' की टेर न लगाओ। मेरे प्रिय का नाम न लो। यदि कोई विरहिणी सुन लेगी तो प्रिय का स्मरण हो आने से अपने प्राण दे देगी। हे सखी! मुझ विरह-विह्वला को एक पल के लिए भी चैन नहीं पड़ता। मैं एक क्षण अपने भवन में जाती हूँ तो दूसरे क्षण आँगन में। यों क्षण-क्षण इधर से उधर प्रियतम की प्रतीक्षा में खड़ी-खड़ी बाट जोहती रहती हूँ। मैं घायल की तरह घूमती रहती हूँ परन्तु मेरी व्यथा कोई नहीं पूछता। हे कौवे! मैं अपना कलेजा निकाल कर रख देती हूँ, जिसे तू वहाँ ले जा, जहाँ मेरे प्रियतम बसते हैं तथा उनके देखते हुए तू खा। मेरा तो बस एक कृष्ण नाम से ही नाता है; अन्य किसी से मेरा कोई नाता नहीं है। हे प्रभु! मीराँ आपके विरह में व्याकुल है। शीघ्र आकर इसे दर्शन दें।

शब्दार्थ—करक = पीड़ा,कसक। दारू = दवा, औषधि। करक = अस्थि-पंजर। मंदिर = भवन।

को बिरहणि को दुख जाणै हो? (टेक)
जा घट बिरहा सोई लखिहै, कै कोई हरिजन मानै हो।
रोगी अंतर बैद बसत है, बैद ही ओखद जाणै हो।
बिरह-करद उरि अंतरि माँही, हरि विणि सब सुख कानै हो।
दुगधा आरण फिरै दुखारी, सुरत बसी सुत माँ नै हो।
चात्रग स्वाति बूँद मन माँही, पीव पीव उकलाणै हो।
सब जग कूड़ो, कंटक दुनिया, दरद न कोई पिछाणै हो।
मीराँ के पति आप रमैया, दूजो नहिं कोइ छानै हो॥ 45॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—हे सखी ! विरहिणी के मन का दुःख कौन जानता है ? अर्थात् प्रिय-वियोग से होने वाली व्यथा को कोई नहीं जानता। इसे तो वही जानता है जिसके हृदय में कभी विरह की पीड़ा हुई हो अथवा वह भगवद्भक्त जो अपने आराध्य के दर्शन बिना व्याकुल रहता है। जैसे रोगी के मन में सदा अपने प्राण-दाता वैद्य का ही ध्यान रहता है एवं वह वैद्य ही उस रोगी के उपचार की औषधि जानता है, उसी प्रकार मेरा वैद्य (साँवरिया) भी मेरे अन्तर्मन में बसा हुआ है। वही मेरा प्राणधार है एवं मेरे रोग (विरह-व्यथा) की औषधि भी उसी के पास है। मेरे अन्ततम को विरह की कटारी काट रही है। फिर भला कृष्ण के बिना मुझे सब सुख क्योंकर मिल सकते हैं ? अर्थात् मैं कैसे सुखी हो सकती हूँ ? [अथवा (श्याम के बिना) मेरे लिए सब सुख दूर होगये हैं]। जैसे जंगल में चरने हेतु छोड़ी गई हाल ही की ब्याई दुधारू गाय दिन भर व्याकुल-सी घूमती-फिरती है क्योंकि उसके मन में प्रति-क्षण अपने प्यारे बछड़े की स्मृति बसी रहती है। हर पल उसी का ध्यान उसे विकल किए रहता है, वैसे ही मेरे मन में प्रियतम बसे हुए हैं जिन्हें मैं एक क्षण भी भूल नहीं पाती। अथवा, जैसे चातक का ध्यान स्वाति नक्षत्र की बूँद में बसा रहता है, जिसके लिए व्याकुल हुआ वह अहर्निश 'पिउ-पिउ' की टेर लगाए रहता है, वैसे ही मैं भी प्रिय-दर्शन के लिए लालायित हूँ, उत्कण्ठित हूँ। यह संसार बड़ा ही छल-कपट-पूर्ण एवं कुटिल है। मेरा दर्द कोई नहीं समझता !

हे रमैया ! मीराँ के तो आप ही पति हैं। आपको छोड़कर मेरा कोई अन्य प्रिय नहीं है। अर्थात् मैंने तो डंके की चोट केवल आपको ही अपने पति रूप में स्वीकार किया है।

शब्दार्थ—घट = हृदय में। हरिजन = भगवद्भक्त। ओपद = औषधि। विरह करद = विरह की कटारी; खंजर। अर्थात् 'विरह का खंजर भीतर ही भीतर हृदय को काट रहा है।' दुगधा = दुग्धा, हाल की ब्याई दुधारू गाय, जो अपने बछड़े के लिए व्याकुल रहती है। आरण = जंगल; सं. अरण्य। सुरत = स्मृति, याद (या सूरत)। सुत = बेटे यानी बछड़े में। माँ ने = माँ (गाय) को। चात्रग = चातक, पपीहा, जिसके लिए प्रसिद्ध है कि वह स्वाति नक्षत्र में गिरने वाली मेघ-बिंदु का ही पान करता है अथवा तृषित रहता है। इसीलिए चातक और स्वातिमेघ का प्रेम आदर्श माना जाता है, जिस पर रीझकर महाकवि तुलसी ने अपने राम-प्रेम की उपमा उसी से दी है। उकलाणै = अकुलाता या व्याकुल रहता है। कूड़ौ-कंटक = छल कपटपूर्ण एवं कुटिल या दुष्ट। 'कूड़ौ' राजस्थानी में झूठे या छल-कपटपूर्ण व्यवहार को कहते हैं एवं 'कंटक' दुष्ट या कुटिल को। उदाहरणार्थ विविध विलोमार्थकशब्दों का अन्तर बताने के प्रसंग में 'सभा-शृंगार' में उल्लेख आता है—

1. साचउ नइं कूड़उ, समुद्र नइ कूत्रउ।[1]
2. साचि नइ कूड, तेजन तुरी न मूड।[2]

1–2 देखिये 'सभा-शृंगार', पृ० 245 व 247.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

3. दूषण द्यइ अवरां सिरइं, कूड-कपट नो ए ठाम ।[1]

4. कूडा कांबड कूटिजै, औपा करिओ नियारि ।[2]

इसी प्रकार 'कंटक' शब्द भावार्थ में दुष्ट या कुटिल का वाचक है। उदाहरणतः—

1. विहद हंदी रस्म, देख जमदूत दहलै,
कंटक काल न कापही सांई सांभहलै ।[3]

2. तेथि परचंड राजा दसानन अछइ,
तेह त्रैलोक्य कंटक कहावइ ।[4]

3. कंटक मारण कारणै, वीठल कियो विचार ।[5]

साथ ही 'गोरखबानी' में उद्धृत 'गोरख-दत्त-गुष्टि' का यह संवाद भी ध्यातव्य है—

गोरख—'स्वामी कंटक, कोण उचाट'
दत्त—'अवधू कंटक सोई, जाहि अतिवंत क्रोध,
उचाट सोई, आत्मा विरोध ।[6]

यहाँ मीराँ संसार के लोगों के मिथ्या छल-कपट भरे एवं कुटिलतापूर्ण व्यवहार से क्षुब्ध होकर उनके लिए इन शब्दों का प्रयोग कर रही है, जो उसकी विरह-व्यथा को न समझ, उसका उपहास करते हैं, क्योंकि इसके आगे की ही पंक्ति में आता है—'दरद न कोई पिछाणै हो' ।

पिछाणै = पहचानता, समझता । छाणे = छिपा हुआ, गुप्त (प्रच्छन्न) ।

विशेष—

तुलनीय—दुगधा आरण·······मानै हो—

जहाँ जहाँ बच्छा फिरे, तहाँ तहाँ फिरे गाय ।
कहे मलूक जहाँ संतजन, तहाँ रमैया जाय ।।[7]

1 सीताराम चौपाई, पृ० 197 (समयसुन्दर-रचित) ।
2 पीरदान लालस-ग्रन्थावली, पृ० 16.
3 केसोदास गाडण ।
4 सीताराम चौपाई; पृ० 122.
5 पीरदान लालस-ग्रन्थावली; पृ० 56.
6 गोरखबानी, गोरख-दत्त-गुष्टि, पृ० 229.
7 मलूकदासजी की बानी, पृ० 33.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रमैया बिन नींद न आवै ।
नींद न आवे, बिरह सतावे, प्रेम की आँच डुलावै । (टेक)
बिन पिया-जोत मँदिर अँधिमारो, दीपक दाय न आवै ।
पिया बिन मेरी सेज अलूणी, जागत रैण विहावै ।
पिया कब रे घर आवै ।
दादुर मोर पपीहा बोलै, कोयल सबद सुणावै ।
घुमट घटा ऊलर होइ आई, दामिन दमक डरावै ।
नैन झर लावै ।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी ! वेदन कूँण बुतावै ।
बिरह-नागण मोरी काया डसी है, लहर-लहर जिव जावै ।
जड़ी घस लावै ।
को है सखी सहेली सजनी, पिया कूँ आन मिलावै ।
मीराँ कूं प्रभु कबरे मिलोगे, मनमोहन मोहि भावै ।
कबै हँस कर बतलावै ॥ 46 ॥

व्याख्या—रमैया (कृष्ण) के बिना मुझे नींद नहीं आती । नींद नहीं आती और उधर उसका विरह सताता है । प्रेम की ज्वाला मुझे इधर से उधर डुलाती रहती है, विकल किए रहती है । प्रियतम की ज्योति के बिना मेरे भवन में अँधेरा छाया रहता है और दीपक का प्रकाश मुझे रुचता नहीं । अर्थात् प्रियतम से ही मेरा अँधेरा भवन आनन्द की ज्योति से उद्भासित रहता है । [इस पंक्ति का एक अन्यार्थ भी किया जा सकता है । भगवान के मन्दिर में पूजा के समय अग्नि में धूप-घृत आदि डालने पर जो पूजाग्नि से सहसा लौ प्रज्ज्वलित हो उठती है, उसे राजस्थानी में 'जोत' (सं. ज्योति) कहते हैं । 'जोत आना' भगवदनुग्रह का द्योतक माना जाता हैं, जिसके आगे दीपकादि की ज्योति मन्द पड़ जाती है । अतः पूजा के उपर्युक्त सन्दर्भ में इस पंक्ति का अर्थ यों होगा—'बिना प्रियतम (कृष्ण) की कृपा-ज्योति के मन्दिर में अँधियारा ही रहता है एवं जोत न आने पर दीपक का प्रकाश तनिक भी नहीं सुहाता' । हमारे विचार से इस अन्यार्थ की अपेक्षा प्रथम अर्थ अधिक संगत लगता है क्योंकि मीराँ यहाँ प्रियतम के लिए अपने भवन या शयन-कक्ष में छाये रहने वाले अँधेरे का ही वर्णन कर रही है, जैसा कि अगली पंक्ति से स्पष्ट है ।]

प्रियतम के बिना मेरी शैय्या सूनी है तथा मेरी सारी रात जागते ही बीतती है । अर्थात् प्रियतम से विहीन सूनी सेज पर मैं उनकी याद में डूबी हुई सारी रात जागते हुए ही काटती हूँ ।

हाय ! प्रियतम न जाने कब घर आएँगे ? इधर पावस की उद्दीपक ऋतु आ गई है । दादुर और मोर बोलने लगे हैं । कोयल अपनी मीठी तान सुनाने लगी है ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

आकाश में सावन की घटाएँ उमड़-घुमड़ कर झुक आई हैं तथा उनमें चमकती बिजलियाँ अपनी चपल कौंध से डरा-डरा देती हैं। ऐसे में प्रियतम की याद कर आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। मेरी प्यारी सखी! अब तू ही बता मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? यह विरह की अग्नि मैं कैसे बुझाऊँ? यह प्रेम की वेदना मैं कैसे शान्त करूँ, जो मेरे अंग-अंग को जला रही है। हाय! किसी भी तरह तो यह आग बुझती नहीं।

इस विरह की नागिन ने मेरी काया को डस लिया है, जिससे इसका तीव्र विष लहरा-लहरा कर मेरे सर्वाङ्ग में छाता हुआ मेरे प्राण ले रहा है। अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ते विरह-विष के प्रभाव से मैं मूर्च्छित किंवा निष्प्राण होती जा रही हूँ। इस विरह-विष के शमन हेतु मेरे लिए कौन जड़ी घिस कर लगाएगा? अर्थात् कौन है, जो मुझे प्रिय-दर्शन रूपी संजीवनी बूटी द्वारा इस विरह-विष से प्राणदान देगा? मेरी ऐसी कौनसी प्यारी सखी, सहेली या सजनी है, जो मेरे प्रियतम को लाकर मुझसे मिलादे? अर्थात् वही मेरी प्राणाधिक प्यारी सखी और सहेली होगी, जो मुझे अपने प्राणप्यारे प्रियतम से मिला देगी।

मीराँ कहती है कि मेरे आराध्य प्रियतम! तुम मुझसे कब मिलोगे? मनमोहन! मैं तुम पर मोहित होगई हूँ। तुम मुझसे कब प्रीतिपूर्वक हँस-हँस कर बातें करोगे? मैं उस मिलन-पर्व के लिए प्रतिपल आकुल हो रही हूँ!

शब्दार्थ—डुलावै = डुलाती या विकल करती है। जोत 1. ज्योति, प्रकाश 2. पूजा के समय धूप–घृतादि से प्रज्ज्वलित होने वाली ज्योति–विशेष। मन्दिर = 1. भवन, कक्ष 2. देव-मन्दिर, पूजागृह। अंलूणी = फीकी, नीरस, सूनी। बिहावै = बीतती है। घुँमट = घुमड़ कर। ऊलर होइ आई = झुक आई; ऊलल्ना राजस्थानी में भार से झुक आने को कहते हैं। यहाँ पर उन्नमित घटाओं के लिए यह सर्वथा सार्थक शब्द है। वेदन = वेदना, पीड़ा (विरह की)। बुतावै = बुझाए, शान्त करे।

उदाहरण—

धरा को प्रमान यही तुलसी
जो फरा सो झरा, जो जरा सो **बुताना**

लहर-लहर = लहरा-लहरा कर (विष के बढ़ते हुए प्रभाव का द्योतक शब्द)। जड़ी = औषधि। धस लावे = घिस लाए। बतलावे = बात चीत करे।

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ, लिख्यो री न जाय। (टेक)
कलम धरत मेरो कर कंपत है, नैन रहै झड़ लाय।
बात कहूँ तो कहत न आवै, जीव रह्यौ डरराय।
बिपत हमारी देख तुम चाले, कहियो हरिजी सूं जाय।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण ही कँवल रखाय॥ 47॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—हे सखी ! प्रियतम श्याम को मैं पत्र कैसे लिखूँ ? मुझसे लिखा नहीं जाता। अपने असह्य विरहावेग के कारण मैं पत्र भी नहीं लिख पाती। उन्हें पत्र लिखने हेतु ज्योंही मैं कलम हाथ में लेती हूँ कि हाथ काँपने लगता है और आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। पत्र लिखने के साथ-साथ ही प्राणप्यारे प्रियतम की अनेक स्मृतियाँ मन में उमड़ पड़ती हैं, जिससे नयनों से अविरल अश्रु-धारा बह उठती है। और, जो मैं अपना मौखिक सन्देश भेजती हूँ, तो प्रियतम की सुधि हो आने के कारण मेरे गलदश्रु कण्ठों से बात ही नहीं निकलती। फिर भला सन्देश कैसे कहूँ ? मन की बात न लिखते बनती है, न कहते ही। इसीलिए अपनी इस अकथ्य व्यथा को मैं अपने प्राणों में ही सँजोए रहती हूँ, जो इस दारुण विरह-सन्ताप से सदा सन्तप्त रहते हैं, त्रस्त रहते हैं। हे पथिक ! मेरी इस विरह-दशा को तुमने स्वयं अपनी आँखों से देख ही लिया है। अतः मैं इसके लिए क्या कहूँ ? जैसा तुम देख रहे हो, वैसा ही निवेदन कर देना। हे प्रभु गिरधर लाल ! मीराँ की तो केवल इतनी ही विनती है कि इसे आप अपने चरण-कमलों में रखे रहना। अर्थात् इसे कभी अपने चरणाम्बुजों के आश्रय से वंचित न करना।

शब्दार्थ—पतियाँ = पत्र। धरत = पकड़ते या ग्रहण करते ही। डरराय = विरह से त्रस्त, सन्तप्त।

विशेष—सन्देश-प्रेषण की परम्परागत शैली में लिखे इस पद को हम या तो उद्धव-प्रति अथवा किसी पथिक-विशेष के प्रति सम्बोधन मान सकते हैं। पथिक द्वारा सन्देश-प्रेषण की परम्परा हमारे भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीन है। मीराँ ने अपनी विरह-व्यंजना के लिए उसी का अनुसरण किया है। पथिक काल्पनिक है, परन्तु उसके माध्यम से प्रेषित सन्देश सत्य है। इस पद के भाव की मेघदूत की निम्न पंक्तियों से तुलना कीजिए—

त्वमालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं या व दिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥[1]

1 मेघदूत ॥ 42 ॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

होली पिया बिन मोंहि लागै खारी, सुनो री सखी, मोरी प्यारी।
सूनो गाँव, देस सब सूनो, सूनी सेज, अटारी।
सूनी बिरहन बन-बन डौलै, तज दई पीव पियारी।
भई हूँ या दुख कारी ॥

देस-बिदेस सँदेस न पहुँचै, होय अँदेसा भारी।
गिणताँ-गिणताँ घस गई रेखा, आँगलियाँ की सारी।
अजहूँ नहिं आये मुरारी ॥

बाजत झाँझ मृदंग मुरलिया, बाज रही इकतारी।
आई बसंत कंत घर नाहीं, तन-मन जर भई छारी।
स्याम मन कहा ये विचारी ॥

अब तो म्हैर करो मुझ ऊपर, चित्त दे सुणो हमारी।
मीराँ के प्रभु मिलज्यो माधो! जनम जनम की मैं थारी।
लगी दरसण की तारी ॥ 48 ॥

व्याख्या—हे सखी! मुझे पिया के बिना यह होली बहुत ही बुरी (कटु अप्रिय) लगती है। हे मेरी प्यारी सखी! सुन, पिया के बिना यह देश और गाँव सब सूना है। मेरी सेज और अटारी भी सूनी है। पिया ने अपनी इस प्यारी को छोड़ दिया है; जिससे यह शून्य-मनस्का विरहिणी वन-वन में डोलती फिर रही है तथा इस विरह-व्यथा से काली पड़ गई है। पिया को मैंने न जाने कितने सन्देश भेज दिए पर उस देश-विदेश में कोई सन्देश उन तक नहीं पहुँचता। इससे मुझे भारी अंदेशा है। इधर उनकी प्रतीक्षा में दिन गिनते-गिनते मेरी अंगुलियों की सारी रेखाएँ भी घिस गई हैं परन्तु कृष्ण अभी तक नहीं आए। वसन्तागम पर घर-घर में झाँझ, मृदंग, मुरली और इकतारे बज रहे हैं। सब ओर मधु-ऋतु की गहमागहमी छाई हुई है। ऐसे में कंत घर पर नहीं है, इस दुःख से मेरा तन-मन जल कर राख होगया है। हाय! श्याम ने मन में यह क्या विचारा है? हे प्रियतम! अब तो मुझ दुःखिनी पर कृपा करो तथा चित्त देकर मेरी विनती सुनो। हे मीराँ के आराध्य माधव! अब आप शीघ्र मिलो। मैं तो आपकी जन्म-जन्मान्तरों की दासी हूँ। मुझे तो एकमात्र आपके दर्शनों की ही लौ लगी है; केवल उसी का ध्यान करती हूँ।

शब्दार्थ—खारी = बुरी, कटु। छारी = क्षार, राख। म्हैर = मेहर; कृपा। तारी = ध्यान, लौ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

होली पिया बिन मोंहि न भावै, घर-आंगण न सुहावै।
दीपक जोय कहा करूँ सजनी ! पिय परदेस रहावै।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागै, सुसक-सुसक जिय जावै।
नींद नहीं आवै ॥
कब की ठाडी मैं मग जोऊँ, निसदिन विरह सतावै।
कहा कहूँ कुछ कहत न आवै, हिवड़ौ अति अकुलावै।
पिया कब दरस दिखावै ॥
ऐसा है कोई परम सनेही, तुरत सनेसा लावै।
वा विरियाँ कद होसी मोकूँ, हँस करि निकट बुलावै।
मीराँ मिल होली गावै ॥ 49 ॥

व्याख्या—हे सखी ! मुझे पिया के बिना यह होली अच्छी नहीं लगती और न घर आँगन ही सुहाता है। हे सखी ! मैं अपने भवन में दीपक जला कर क्या करूँ क्योंकि मेरे पिया तो परदेश में हैं। पिया के बिना यह सूनी सेज मुझे जहर के समान लगती है तथा सारी रात सिसक-सिसक कर मेरे प्राण झूरते रहते हैं। मुझे नींद नहीं आती। प्रियतम की प्रतीक्षा में मैं कबसे खड़ी मार्ग देख रही हूँ ! अहर्निश मुझे विरह सताता है। मैं अपनी यह दारुण व्यथा कैसे कहूँ ? कुछ कहते नहीं बनता। यह विरह-संताप अकथ्य है, जिसके कारण मेरा हृदय अत्यन्त व्याकुल रहता है। न जाने प्रियतम कब दर्शन देंगे ? क्या कोई ऐसा परम हितैषी है, जो पिया का सन्देश तुरन्त ले आए ? वह शुभ घड़ी कब होगी, जब प्रियतम हँस कर मुझे अपने पास बुलाएँगे और अपनी इस प्रेमानुरक्ता मीराँ के साथ हर्ष-विभोर हो होली के गीत गायेंगे ?

शब्दार्थ—जोय = जला कर। सनेही = सुहृदय, हितैषी।

किण सँग खेलूँ होली, पिया तज गये हैं अकेली। (टेक)
माणिक मोती सब हम छोड़े, गल में पहनी सेली।
भोजन भवन भलो नहिं लागै, पिया कारण भई गेली।
मोहे दूरी क्यूँ म्हेली।
अब तुम प्रीत अवरु सूँ जोड़ी, हमसे करी क्यूँ पहेली।
वहु दिन बीते अजहुँ न आये, लग रही तालावेली।
किण विलमाये हेली।
स्याम बिना जियड़ो मुरझावे, जैसे जल बिन बेली।
मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीज्यो, जनम जनम की चेली।
दरस बिन खरी दुहेली ॥ 50 ॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—हे सखी ! मैं किसके साथ होली खेलूँ ? मेरे प्रियतम मुझे अकेली जो छोड़ गए हैं । उनके बिना कैसी होली ? मैंने उनके वियोग में माणक-मोती सब छोड़ दिए हैं तथा गले में सेली (माला) पहनली है । अर्थात् मैं प्रियतम के लिए जोगन बन गई हूँ । मुझे उनके बिना न भोजन अच्छा लगता है, न भवन ही । अर्थात् प्रियतम के विरह में खान-पान और महलों का सुख सब छोड़ दिया है तथा अपने प्रियतम के पीछे मैं पागल होगई हूँ । उन्होंने मुझे इतनी दूर क्यों डाल दिया ? हे श्याम ! जान पड़ता है, अब तुमने किसी अन्य (प्रेमिका) से अपनी प्रीति जोड़ ली है । यदि ऐसा ही करना था तो तुमने पहले हमसे प्रेम क्यों किया ? पहले मुझसे नेह जोड़कर अब तुम्हारा किसी अन्य में अनुरक्त होना उचित नहीं । हे प्रियतम ! तुम्हें गए बहुत दिन होगए, परन्तु अभी तक तुम लौटे नहीं । इससे मुझे बड़ी बेचैनी हो रही है । मैं अत्यन्त व्याकुल होरही हूँ । हे सखी ! न जाने किसने मेरे भोले प्रियतम को लुभा लिया है, जिससे वे आ नहीं पा रहे हैं ।

श्याम के बिना मेरा मन मुरझा गया है, वैसे ही जैसे जल के बिना लता। हे प्रभु ! मीराँ को शीघ्र दर्शन देना । यह तो आपकी जन्म-जन्मान्तरों की दासी है । आपके दर्शन बिना यह अत्यन्त दुखी है । व्यथित है ।

शब्दार्थ—सेली = माला; जिसे योगी, संन्यासी आदि पहनते हैं। गेली = पगली । म्हेली = डाल दिया है, रख छोड़ा है ! (राजस्थानी क्रियापद है)। पहेली = पहले, शुरू में । तालावेली = बेचैनी, वेकली, व्याकुलता । तालावेलो (सं० तलोपरि) वहुत पुराना शब्द है । अपभ्रंश के कवि सोमप्रभसूरि-रचित 'कुमारपाल-प्रतिबोध' में इसका प्रयोग हुआ है—

थोडइ जल जिम मच्छलिय, **तल्लोविल्लि** करंत ।[1]

कवीर ने भी इसका प्रयोग किया है—

त्यूं तुम कारनि केसवा, जन **तालावेली** कबीर ।[2]

तथा—ओसीसुं अति दुख धरइ, तालावीलि थाय ।[3]

हेली = सखी । वेली = वेल, लता । चेली = दासी । खरी = अत्यन्त, अत्यधिक (सं० प्रखर) । दुहेली = दुखी, व्यथित । उदाहरण—

1, दादू प्रेम सनेह बिन, खरी **दुहेली** देह ।[4]

2. बिनु जल कमल सूख जनु वेली ।
पदमावति निज कंत **दुहेली** ।[5]

1 कुमारपाल-प्रतिबोध; सोमप्रभसूरी ।
2 कवीर ग्रन्थावली ।
3 स्थूलिभद्र-कोशा-प्रेमविलास-फाग; जयवंत सूरि-रचित ।
4 दादू ।
5 जायसी ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विशेष—विरही कबीरदास भी फागुन में अपने पिया को पुकार उठते हैं—

रितु फागुन की नियरानी, कोई पियासे मिलावे ।[1]

मतवारो बादर आयो रे हरि को सनेसो नहिं लायो रे । (टेक)
दादुर मोर पपइया बोलै, कोयल सबद सुणायो रे ।
कारी अँधियारी बिजरी चमकै, बिरहिणी अति डरपायो रे ।
गाजै बाजै पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लायो रे ।
कारी नाग बिरह अति जारी, मीराँ मन हरि भायो रे ॥51॥

व्याख्या—पावस-ऋतु के मतवाले बादल उमड़-घुमड़ कर आगए हैं, परन्तु प्रियतम श्याम के आने का कोई सन्देश नहीं लाए । दादुर, मोर और पपीहा बोलने लगे हैं तथा कोयल अपनी सुरीली तान छेड़ रही है । काली अँधेरी रात में बिजलियाँ रह-रहकर चमक रही हैं, जो मुझ विरहिणी को बहुत डरा रही हैं । अर्थात् पावस-ऋतु के ये सब उपकरण मेरी विरह-व्यथा को अतिशय उद्दीप्त कर रहे हैं, एवं इन बिजलियों की चकाचौंध से तो मारे डर के मेरे प्राण ही निकले जाते हैं । घन-गर्जन के साथ मधुर-मधुर पवन भी मर्मरध्वनि करता बह रहा है एवं बादलों ने वर्षा की झड़ी लगा रखी है । इधर विरहोत्ताप से मेरा सर्वाङ्ग दग्ध होरहा है मानो विरह की काली नागिन मुझे अपने विष की ज्वाला से जलाए जारही है । मीराँ का मन तो अपने प्रियतम श्याम में अनुरक्त होगया है । इसीलिए वह उनके विरह की ज्वाला में जली जा रही है ।

शब्दार्थ—मतवारो = मस्ती में उमड़ते-घुमड़ते । कारी····अँधियारी = 'रात' के विशेषण हैं, जो यहाँ लुप्त है ।

विशेष—प्रकृति का उद्दीपन-रूप में वर्णन है, जो परम्परागत है ।

बादल देख डरी, हो स्याम ! मैं बादल देख डरी ।
काली-पीली घटा ऊमटी, बरस्यो एक घरी ।
जित जाऊँ तित पानि ही पानी, हुई सब भोम हरी ।
जाका पिव परदेस वसत है, भीजै बार खरी ।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर ! कीज्यो प्रीत खरी ॥52॥

व्याख्या—हे श्याम ! आकाश में उमड़ते-घुमड़ते बादलों को देखकर मैं डर गई । सघन काली-पीली घटा उमड़ आई और घड़ी भर तक लगातार धारासार वृष्टि होती रही । जिधर जाती हूँ, वहीं पानी ही पानी दिखाई देता है । जिनके प्रियतम परदेश में बसते हैं, वे वियोगिनियाँ प्रतीक्षा में बाहर भीग रही हैं । मीराँ कहती है कि हे मेरे आराध्य गिरधरलाल ! आप मेरे प्रति अपनी प्रीति को खरी सिद्ध करना । अर्थात् इस पावस-ऋतु में घर आकर मेरे प्रति अपने प्रेम को सच्चा

1 कबीर—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सिद्ध करना। आप बरसते मेंह में आएँगे, तभी मैं समझूँगी कि मेरे प्रति आपकी प्रीति सच्ची है।

शब्दार्थ—बार = बाहर या द्वार पर।

विशेष—तुलसी के राम भी सीता के विरह में व्यथित हो कहते हैं—

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥

यह परम्परागत विरह-वर्णन का पद है। वर्षा की झड़ी में भीगते-भीगते प्रियतम का आना मध्ययुगीन नायिका की दृष्टि में सच्चे प्रेम का परिचायक था। इसीलिए राजस्थान की एक प्रोषितपतिका अपने पति को सम्बोधन कर कहती है—

आज धराउ धूँधला, मोटी छाँटां मेंह।
भीजी पाग पधारस्यो, जद जाँणूँली नेह॥

यह सच्ची प्रीति की एक कसौटी थी, जिस पर हर राजस्थानी नायिका अपने प्रियतम को खरा सिद्ध हुआ देखना चाहती थी।

पपइया रे! पिव की वाणि न बोल। (टेक)
सुणि पावेली बिरहणी रे, थारो रालैलो पाँख मरोड़।
चाँच कटाऊँ पपइया रे, ऊपरि कालर लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे, तू पिव कहैसू कूण।
थारा सबद सुहावणा रे, जो पिव-मेला आज।
चाँच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे, तू मेरे सिरताज।
प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ, कउवा तू ले जाइ।
जाइ प्रीतम जी सूं यूँ कहै रे, थाँरी बिरहणि धान न खाइ।
मीराँ दासी व्याकुली रे, पिव-पिव करत बिहाइ।
बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी! तुम बिनि रह्यो ही न जाइ॥53॥

व्याख्या—हे पपीहे! तू 'पिउ-पिउ' की बोली न बोल, क्योंकि तेरे 'पिउ-पिउ' कहने से मुझे अपने प्रिय का स्मरण हो आता है और मेरी विरह-व्यथा भड़क उठती है। यदि किसी विरहिणी ने तेरी बोली सुनली तो वह क्रुद्ध हो तेरे पंख मरोड़ डालेगी; परन्तु तू तो बोलता ही चला जा रहा है। ए दुष्ट पपीहे! अबके जो तू बोला तो मैं तेरी चोंच कटवा दूँगी और ऊपर से कालर (क्षारयुक्त) जमीन का नमक छिड़काऊँगी ताकि तुझे भी जलन फूटने का पता चल जाए। तू बारम्बार 'पिउ-पिउ' की पुकार क्यों लगा रहा है? तू जानता नहीं प्रियतम मेरे हैं और मैं अपने प्रियतम की हूँ—फिर भला तू 'पिउ-पिउ' कहने वाला कौन है? अर्थात् मेरे प्रियतम को 'पिउ' कह कर पुकारने वाला तू कौन होता है? हे पपीहे! यदि आज

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मेरा अपने प्रियतम से मिलन हो जाए तो तेरी यह 'पिउ' की बोली मुझे बहुत प्यारी लगेगी। मैं इस पर रीझ जाऊँगी तथा तेरी चोंच सोने से मँढवा दूँगी एवं तुझे अपना सिरताज करके मानूँगी।

हे काग! मैं प्रियतम को पत्र लिखूँगी, अपना सन्देश भेजूँगी। तू इसे प्रियतम के पास पहुँचा देना। उनसे कहना कि तुम्हारी विरहिणी प्रिया ने तुम्हारे वियोग में अन्न खाना भी छोड़ दिया है। दासी मीराँ तुम्हारे वियोग में अत्यन्त व्याकुल है एवं रात-दिन उसे प्रियतम का नाम लेते हीं बीतते हैं। हे अन्तर्यामी प्रभु! तुम शीघ्र आकर मिलो। तुम्हारे बिना अब इससे रहा नहीं जाता। अर्थात् तुम्हारे वियोग की व्यथा अब इसके लिए असह्य हो चली है।

शब्दार्थ—पिव की वाणी = 'पिउ-पिउ' की बोली। राल्ँली = डालेगी, ठेठ राजस्थानी क्रिया है। कालर = क्षर-युक्त या अनुर्वर जमीन। उदाहरण—

कालर खेत कसूत हल, घरक ल़खारी नार।
मैला जिणरा कापड़ा, नरक निसाणी च्यार ॥[1]

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसका अर्थ 'काला' किया है, जो भ्रांत है।

मेल़ा = मिलन, 'मेल़ा' पाठ शुद्ध है। उदाहरण—

रजनी का मेल़ा किया, वेह का अच्छर मेट।[2]

'निजरां मेल़ा' शब्द 'दृष्टि-मिलन' के अर्थ में बोलचाल में बहुशः प्रयुक्त होता है।

सोवनी = सोने की (सं० स्वर्णिम)। सिरताज = आदरणीय, सर्वोपरि सम्मान्य। धान = अनाज। (सं० धान्य)। बिहाई = बीतती है, व्यतीत होती है।

विशेष—तुलनीय

1. बाबहिया निलपंखिया, बाढ़त दइ दइ लूण।
   पिउ मेरा मइं प्रीउ की, तू प्रिउ कहइ स कूण ॥[3]
2. पिय सों कहेउ संदेसड़ा, हे भंवरा, हे काग।[4]

हे मेरो मन मोहना।
आयो नहीं सखीरी, हे मेरो० (टेक)
कै कहुँ काज किया संतन का, कैं कहुँ गैल भुलावना।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, लाग्यो है विरह सतावना।
मीराँ दासी दरसण प्यासो, हरि चरणाँ चित लावणा ॥54॥

1 राजस्थान रा दूहा, सं० नरोत्तमदास स्वामी, पृ. 49.
2 प्रकीर्णक; राठौड़, पृथ्वीराज।
3 ढोला-मारू रा दूहा; सं० डॉ. शंभुसिंह मनोहर।
4 जायसी।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सिद्ध करना। आप बरसते मेह में आएँगे, तभी मैं समझूँगी कि मेरे प्रति आपकी प्रीति सच्ची है।

शब्दार्थ—बार = बाहर या द्वार पर।

विशेष—तुलसी के राम भी सीता के विरह में व्यथित हो कहते हैं—

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥

यह परम्परागत विरह-वर्णन का पद है। वर्षा की झड़ी में भीगते-भीगते प्रियतम का आना मध्ययुगीन नायिका की दृष्टि में सच्चे प्रेम का परिचायक था। इसीलिए राजस्थान की एक प्रोषितपतिका अपने पति को सम्बोधन कर कहती हैं—

आज धराउ धूँधलो, मोटी छाँटां मेह।
भीजी पाग पधारस्यो, जद जाँणूँली नेह॥

यह सच्ची प्रीति की एक कसौटी थी, जिस पर हर राजस्थानी नायिका अपने प्रियतम को खरा सिद्ध हुआ देखना चाहती थी।

पपइया रे! पिव की वाणि न बोल। (टेक)
सुणि पावेली बिरहणी रे, थारो रालैलो पाँख मरोड़।
चाँच कटाऊँ पपइया रे, ऊपरि कालर लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे, तू पिव कहैसू कूण।
थारा सबद सुहावणा रे, जो पिव-मेला आज।
चाँच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे, तू मेरे सिरताज।
प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ, कउवा तू ले जाइ।
जाइ प्रीतम जी सूं यूँ कहै रे, थाँरी बिरहणि धान न खाइ।
मीराँ दासी व्याकुली रे, पिव-पिव करत बिहाइ।
बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी! तुम बिनि रह्यो ही न जाइ॥53॥

व्याख्या—हे पपीहे! तू 'पिउ-पिउ' की बोली न बोल, क्योंकि तेरे 'पिउ-पिउ' कहने से मुझे अपने प्रिय का स्मरण हो आता है और मेरी विरह-व्यथा भड़क उठती है। यदि किसी विरहिणी ने तेरी बोली सुनली तो वह क्रुद्ध हो तेरे पंख मरोड़ डालेगी; परन्तु तू तो बोलता ही चला जा रहा है। ए दुष्ट पपीहे! अबके जो तू बोला तो मैं तेरी चोंच कटवा दूँगी और ऊपर से कालर (क्षारयुक्त) जमीन का नमक छिड़काऊँगी ताकि तुझे भी जलन फूटने का पता चल जाए। तू बारम्बार 'पिउ-पिउ' की पुकार क्यों लगा रहा है? तू जानता नहीं प्रियतम मेरे हैं और मैं अपने प्रियतम की हूँ—फिर भला तू 'पिउ-पिउ' कहने वाला कौन है? अर्थात् मेरे प्रियतम को 'पिउ' कह कर पुकारने वाला तू कौन होता है? हे पपीहे! यदि आज

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मेरा अपने प्रियतम से मिलन हो जाए तो तेरी यह 'पिउ' की बोली मुझे बहुत प्यारी लगेगी। मैं इस पर रीझ जाऊँगी तथा तेरी चोंच सोने से मँढवा दूँगी एवं तुझे अपना सिरताज करके मानूँगी।

हे काग! मैं प्रियतम को पत्र लिखूँगी, अपना सन्देश भेजूँगी। तू इसे प्रियतम के पास पहुँचा देना। उनसे कहना कि तुम्हारी विरहिणी प्रिया ने तुम्हारे वियोग में अन्न खाना भी छोड़ दिया है। दासी मीराँ तुम्हारे वियोग में अत्यन्त व्याकुल है एवं रात-दिन उसे प्रियतम का नाम लेते हीं बीतते हैं। हे अन्तर्यामी प्रभु! तुम शीघ्र आकर मिलो। तुम्हारे बिना अब इससे रहा नहीं जाता। अर्थात् तुम्हारे वियोग की व्यथा अब इसके लिए असह्य हो चली है।

शब्दार्थ—पिव की वाणी = 'पिउ-पिउ' की बोली। रालँली = डालेगी, ठेठ राजस्थानी क्रिया है। कालर = क्षर-युक्त या अनुर्वर जमीन। उदाहरण—

कालर खेत कसूत हल, घरक लखारी नार।
मैला जिणरा कापड़ा, नरक निसाणी च्यार ।।[1]

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसका अर्थ 'काला' किया है, जो भ्रांत है।

मेळा = मिलन, 'मेळा' पाठ शुद्ध है। उदाहरण—

रजनी का मेळा किया, बेह का अच्छर मेट।[2]

'निजरां मेळा' शब्द 'दृष्टि-मिलन' के अर्थ में बोलचाल में बहुशः प्रयुक्त होता है।

सोवनी = सोने की (सं० स्वर्णिम)। सिरताज = आदरणीय, सर्वोपरि सम्मान्य। धान = अनाज। (सं० धान्य)। बिहाई = बीतती है, व्यतीत होती है।

विशेष—तुलनीय

1. बाबहिया निलपंखिया, बाढ़त दइ दइ लूण।
पिउ मेरा मइं प्रीउ की, तू प्रिउ कहइ स कूण ।।[3]

2. पिय सों कहेउ संदेसड़ा, हे भंवरा, हे काग।[4]

हे मेरो मन मोहना।
आयो नहीं सखीरी, हे मेरो० (टेक)
कै कहुँ काज किया संतन का, कैं कहुँ गैल भुलावना।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, लाग्यो है बिरह सतावना।
मीराँ दासी दरसण प्यासो, हरि चरणाँ चित लावणा ।।54।।

1 राजस्थान रा दूहा, सं० नरोत्तमदास स्वामी, पृ. 49.
2 प्रकीर्णक; राठौड़, पृथ्वीराज।
3 ढोला-मारू रा दूहा; सं० डॉ. शंभुसिंह मनोहर।
4 जायसी।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—हे सखी ! मेरा मनमोहन तो अभी तक आया नहीं। जान पड़ता है या तो वह सन्तों का कोई कार्य सिद्ध करने हेतु कहीं अटक गया है अथवा घर का रास्ता भूलकर कहीं भटक गया है। हे सखी ! मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? मुझे तो श्याम का विरह सताने लगा हैं। अर्थात् श्याम क वियोग में मुझे कहीं भी चैन नहीं मिल रहा एवं प्रबल विरहोत्ताप से मैं सन्तप्त होरही हूँ। दासी मीराँ तो श्याम के दर्शन की प्यासी है एवं अब भगवान् के चरणों में ही उसे अपना चित लगाना है। अर्थात् भगवान् के चरणों को छोड़ अब उसका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

शब्दार्थ—मनमोहना = कृष्ण। काज किया = कार्य सिद्ध किया या मनोरथ पूर्ण किया। एक टीकाकार द्वारा किया गया अर्थ 'साधुओं के आचरण में लग गया है' निरर्थक है। गैल = रास्ता, मार्ग। सतावना = सताने। लावणा = लाना है।

- मैं बिरहिन बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली।
बिरहिन बैठी रंगमहल में, मोतियन की लड़ पोवै।
इक विरहिणि हम ऐसी देखी, अँसुवन की माला पोवै।
तारा गिन-गिन रैन विहानीं, सुख की घड़ी कब आवै।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, मिल के विछुड़ न जावै ॥55॥

व्याख्या—हे सखी ! मैं ही एक अभागनी विरहिणी प्रियतम की याद में डूबी सारी रात जागती हूँ, जबकि सारा संसार सुख की नींद सोता है। संसार नींद में सोया हुआ अपनी आँखों में सुख के सपने सँजोता है, जबकि विरहिणी अपने रंगमहल में बैठी हुई मोतियों की लड़ पिरोती है। परन्तु एक विरहिणी हमने ऐसी भी देखी है, जो रो-रो कर आँसुओं की माला पिरोती है; प्रियतम के विरह में झरते नयनों के मुक्ताहार गूँथती है। सुख की घड़ी की प्रतीक्षा में तारे गिनते-गिनते ही उसकी रात बीत गई। अर्थात् प्रिय-मिलन की आशा में उसने जागते-जागते ही सारी रात बितादी। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधरलाल ! संसार में कभी कोई मिल कर न बिछुड़े। अर्थात् मिलन के पश्चात् कभी किसी को वियोग का दुःख न हो।

शब्दार्थ—**बिहानी** = बीत गई।

विशेष—तुलनीय—

1. चेला सब सूता, नाथ सतगुरु जागै।[1]
दसवें द्वारि अवधू, मधुकरी मांगै !
2. सुखिया सब संसार है; खावै अरु सोवै।[2]
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥

1 गोरखबानी, पृष्ठ 149.
2 कबीर ग्रन्थावली।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सखी री ! मेरी नींद नसानी हो। (टेक)
पिया को पथ निहारत, सब रैन बिहानी हो।
सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखै कल ना पड़ै, मन रोसणा ठानी हो।
अंग क्षीण व्याकुल भई, मुख पिय-पिय बानी हो।
अंतर वेद विरह की, म्हारी पीड़ न जानी हो।
ज्यों चातक घन को रटै, मछरी जिम पानी हो।
मीराँ व्याकुल विरहिनी, सुध-बुध बिसरानी हो ॥56॥

व्याख्या—हे सखी ! श्याम के विरह में मेरी तो नींद ही नष्ट होगई। सारी रात प्रियतम के आने की राह देखते-देखते ही बीत गई। सभी सखियों ने मुझे नाना प्रकार से समझाया, सान्त्वना दी, परन्तु मन ने एक न मानी। करूँ क्या ? श्याम को देखे बिना मुझे एक पल भी चैन नहीं पड़ता। अहर्निश उनके वियोग का सन्ताप सताता रहता है और अब तो मैंने मन ही मन उनसे रूठने (प्रणय-मान) का निश्चय कर लिया है ! आखिर, इस दारुण विरह-व्यथा को मैं कब तक सहती जाऊँ ? सखी ! तुम देखती नहीं, विरह के कारण मैं कितनी कृशकाय होगई हूँ। मुँह से बस एक 'प्रियतम' का ही नाम निरन्तर निकलता रहता है। हाय ! मेरे विरह की इस दारुण अन्तर्व्यथा को, मेरे प्राणों की इस मर्मान्तिक पीड़ा को, किसी ने नहीं जाना ! तृषित चातक जैसे स्वाति-घन के लिए और जल-वियुक्ता मछली जैसे अपने जीवन-मूल जल के लिए कातर हो विलखती है, वैसे ही मैं भी अपने प्राणाधार प्रियतम श्याम के लिए विलख रही हूँ; उनके नाम की रट लगाए हूँ। मीराँ अपने उन्हीं प्रियतम श्याम के विरह में व्याकुल है तथा उनके विरह की असह्य वेदना के कारण यह अपनी सारी सुध-बुध खो बैठी है। इसकी आत्म-चेतना जाती रही है।

शब्दार्थ—नसानी = नष्ट होगई। बिहानी = बीत गई। सीख दई = शिक्षा दी, समझाया। कल = चैन। रोसणा ठानी = नायिका का प्रणय-मान करना या रूठना। 'रूसणो मांडणो' एक मुहावरा है, जो इसी अर्थ का वाचक है। उदाहरणतः—

1. रसीला राज थांरी खातर थाँसूं ।[1]
रूसणो कियो छै केती बेर री ॥
2. किवारइं रूसणो मांडिनइ रोवइं ।[2]

प्रभु बिन ना सरै माई।
मेरा प्राण निकस्या जात, हरी बिन ना सरै माई। (टेक)
कमठ दादुर बसत जल में, जल से उपजाई।
मीन जल से बाहर कीना, तुरत मर जाई।

1 महाराजा मानसिंह जोधपुर-रचित गीत (रसीलै राज रा गीत, पृष्ठ 104) 'परम्परा।'
2 सभाश्रृंगार, पृष्ठ 283.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

काठ लकरी बन परी, काठ घुन खाई ।
ले अगन प्रभु डार आये, भसम हो जाई ।
बन बन ढूँढता मैं फिरी, आली सुधि नहीं पाई ।
एक बेर दरसण दीजै, सब कसर मिटि जाई ।
पात ज्यूँ पीरी परी, अरु बिपत तन छाई ।
दास मीराँ लाल गिरधर, मिल्याँ सुख छाई ॥57॥

व्याख्या—हे सखी ! प्रभु कृष्ण के बिना मेरा काम नहीं चल सकता। अर्थात् उनके बिना मैं जी नहीं सकती। वे मेरे जीवनाधार हैं। उनके बिना मेरे प्राण निकले जारहे हैं। जैसे कछुआ, मेंढक व मछली आदि जल-जन्तु जल से उत्पन्न होते और जल में ही रहते हैं। जल ही उनका जीवनाधार है, जिससे वियुक्त होते ही वे अपने प्राण त्याग देते हैं। इसी भाँति, मैं भी अपने जीवन-मूल प्राणाधार कृष्ण के बिना जी नहीं सकती। हे सखी ! चेतन (मछली आदि जल-जन्तुओं की तो बात ही क्या, अचेतन काष्ठ तक अपने जीवन-मूल वृक्ष से विच्छिन्न होने पर सूख जाता है। वन में पड़ी उस सूखी लकड़ी में घुन लग जाता है एवं वह सर्वथा जीर्ण और जर्जर होजाती है। हे प्रभु ! उस पर तनिक अग्नि डाल दीजिए और वह क्षणांतर में भस्म हो जाएगी। जब अपने जीवन-मूल वृक्ष से विच्छिन्न होने पर जड़ काष्ठ की यह दशा होती है तो फिर मेरी क्या होगी, जो आपसे वियुक्त होकर क्षीणकाय विरह की निर्धूम ज्वाला में जल रही हूँ। [अथवा, इन पंक्तियों का एक अन्यार्थ भी किया जा सकता है—जैसे वन में पड़ी सूखी और घुन से जर्जर लकड़ी आग लगते ही तत्काल भस्म होजाती है, वैसे ही मैं भी विरह-घुन से जर्जर होगई हूँ। अतः हे श्याम ! आप आकर इसमें अपने हाथों से आग लगा जाएँ ताकि मैं भस्म होकर इस विरह-घुन से जर्जर दशा से मुक्ति पा लूँ तथा मुझे अपने प्रियतम के हाथों से जलने का सौभाग्य मिल जाए]

हे सखी ! श्याम की खोज में मैं वन-वन ढूँढती फिरी हूँ परन्तु उनकी कोई खबर नहीं मिली, कहीं पता न चला। हे प्रियतम ! आप एक बार तो अवश्य आकर मुझे दर्शन दे दीजिए ताकि मैं अपनी चिर संचित मिलनाकांक्षा की तृप्ति कर पिछली सारी कमी पूरी कर लूँ। अर्थात् आपके वियोग में मैंने जो इतने दिन विरह का दारुण दुःख झेला है, उस सबको अब मिलन-जन्य आनन्द द्वारा भुला कर मैं कृतकृत्य होजाऊँ।

हे प्रियतम ! आपके विरह में मैं पत्ते की तरह पीली पड़ गई हूँ तथा इतनी कृशकाय होगई हूँ कि मेरी देह संकट में पड़ गई है। मीराँ निवेदन करती है कि हे गिरधरलाल ! इस दासी को तो आपके मिलन पर ही सुख होगा।

शब्दार्थ—सरै = काम चले, 'नहीं सरबौ' एक राज० मुहावरा है। कमठ = कछुआ। उपजाई = उत्पन्न होते हैं ! कसर = कमी । 1. छाई = छागई है, आ पड़ी है। 2. छाई होगी।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विशेष—इस पद की कुछ पंक्तियों में निम्न पाठान्तर द्रष्टव्य है—

मीन दादुर बसन्त जल से उपजाई।
तनक जल से बाहर कीना तुरत (ही) मर जाई ॥

'काठ लकरी'..........घुन खाई। इस पंक्ति की तुलना कीजिए—

ज्यों घुन लागै काठ कौ, लोहे लागै काट।
काम किया घट जाजरा, दाइ बारह बाट ॥[1]

राम मिलण के काज सखी ! मेरे आरति उर में जागी री। (टेक)
तलफत-तलफत कल न परत है, विरह-बाण उर लागी री।
निस-दिन पंथ निहारूँ पीव को, पलक न पल भर लागी री।
पीव-पीव मैं रटूँ रात दिन, दूजी सुध-बुध भागी री।
विरह-भवंग मेरो डस्यो है कलेजो, लहरि हलाहल जागी री।
मेरी आरति मेटि गुसाँई, आइ मिलौ मोहि सागी री।
मीराँ व्याकुल अति-अकुलाणी, पिया की उमंग अति लागी री ॥58॥

व्याख्या—हे सखी ! आज मेरे मन में राम (श्याम) से मिलने की तीव्र उत्कंठा जाग उठी है, जिसके फलस्वरूप मेरा मन विकल और व्यथित होरहा है। प्रिय-वियोग में तड़पते-तड़पते मुझे पल भर भी चैन नहीं मिल रहा है। विरह का बाण मेरे हृदय में आ लगा है; मर्म को बेध गया है। मैं रात-दिन प्रियतम के आने का मार्ग देखती रहती हूँ तथा पल भर भी मेरी आँख नहीं लगी है। मैं अहर्निश प्रियतम की रट लगाए रहती हूँ; और सब सुध-बुध खो बैठी हूँ। श्याम के विरह-भुजंग ने मुझे कलेजे में डस लिया है, जिसके फलस्वरूप मेरे सारे शरीर में विष की लहरें दौड़ रही हैं। अर्थात् विरह-विष मेरे सर्वाङ्ग में व्याप्त हो गया है। हे स्वामिन् ! स्वयं ही दर्शन दे मेरी इस दारुण विरह-व्यथा को मिटा दो। मीराँ तुम्हारे विरह में अत्यन्त व्याकुल होरही है एवं प्रिय-मिलन की उमंग में भरी है। अर्थात् विरह-विह्वला मीराँ तुमसे मिलने को उल्लसित होरही है।

शब्दार्थ—**आरति** = तीव्रोत्कंठा; लालसा। उदाहरण—

ढोलइ मनि आरति हुई, साँभलि ए विरतन्ति।[2]

भवंग = सर्प (सं. भुजंग)।

सइयाँ, तुम विणि नींद न आवै हो।
पलक-पलक मोहि जुगसे बीतैं, छिनि-छिनि विरह जरावै हो।
प्रीतम विणि तिमि जाइ न सजणी, दीपक भवन न भावै हो।
फूलन सेज सूल होइ लागी, जागत रैणि बिहावै हो।
कासूँ कहूँ कुण मानैं मेरी, कह्याँ न को पतियावै हो।

1 दादू, भा० 1, पृष्ठ 121.
2 ढोला-मारू रा दूहा।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रीतम-पनंग डस्यो कर मेरो, लहरि-लहरि जिव जावै हो।
दादर मोर पपइया बोलै, कोइल सवद सुणावै हो।
उमगि घटा घन ऊलरि आई, बीजू चमक डरावै हो।
है कोइ जग में राम सनेही, ऐ उरि साल मिटावै हो।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, नैणाँ देख्याँ भावै हो ॥59॥

व्याख्या—हे स्वामिन् ! मुझे तुम्हारे बिना नींद नहीं आती है । तुम्हारे वियोग का एक-एक पल मेरे लिए एक-एक युग के समान बीतता है तथा प्रतिक्षण मुझे विरह की ज्वाला सताती है । हे सखी ! प्रियतम के बिना मेरे भवन का अन्धकार दूर नहीं होता एवं मुझे भवन में दीपक का जलना भी अच्छा नहीं लगता । अर्थात् प्रियतम ही मेरे अँधेरे घर के उजाले हैं । उनसे ही मेरा भवन आलोकित रहता है । उनके बिना दीपक का यों जलते हुए मेरे भवनान्धकार को दूर करने का दुस्साहस मुझे बुरा ही लगता है । हे सखी ! श्याम के विरह में मुझे फूलों की सेज शूलों-सी दुखदाई लगती है तथा सारी रात जागते-जागते ही बीतती है । हे सखी ! अपने इस दुःख को मैं किससे कहूँ ? मेरी कौन मानेगा ? कहने से कोई विश्वास भी तो नहीं करेगा । प्रियतम रूपी साँप ने मेरे हाथ को काट लिया है, जिससे विष लहरा-लहरा कर मेरे सारे शरीर में छा गया है एवं अब मेरे प्राण जाने ही वाले हैं । अर्थात् मैं प्रियतम के प्रेम-दंश से घायल हो तज्जन्य विरह-विष के प्रभाव से व्यथित होरही हूँ । इधर पावस की उद्दीपक ऋतु आगई है । दादुर, मोर और पपीहा बोलने लगे हैं तथा कोयल अपना मधुर शब्द सुना रही है । आकाश में बादलों की घटाएँ उमड़-घुमड़ कर झुक आई हैं तथा उनमें चमकती बिजलियाँ अपनी चकाचौंध से डरा रही हैं । क्या संसार में कोई ऐसा भगवद्भक्त है, जो मेरे मन के इस दुःख को दूर करे ? मेरी हृदयस्थ पीड़ा का निवारण करे ? मीराँ कहती है कि हे मेरे अविनाशी प्रभु ! मेरी आँखों को आपको निरन्तर देखते रहना बहुत ही भाता है । आपकी अनन्य रूप-माधुरी का अवलोकन करने की इच्छा इन्हें सदा बनी ही रहती है ।

शब्दार्थ—सइयाँ = स्वामी । विणि = बिना । तिमि = अन्धकार (तम)। बिहावै = बीतती है । पतियावै = विश्वास करे, प्रतीति करे । उदाहरण—

'ते सापुरसनइं इहां तेडियइ; तेहनी बात सहुको **पतीजइ** ।'[1]

प्रीतम-पनंग = प्रियतम (कृष्ण) रूपी सर्प, (सं० पन्नग) । राम सनेही = भगवद्भक्त; बोलचाल में 'राम का प्यारा' । साल = दुःख, व्यथा ।

1 सीताराम चौपई (समयसुन्दर), पृष्ठ 125.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विशेष—

तुलनीय

छाए परदेस जान प्यारे संग लै सँदेस,[1]
मो मन अँदेस आली साँसनि रुँधै गरै।
मोरनि की कूँक सुनि उठति हिवै में हूँक,
चूँक नहीं चातकि करेजो काढ़िवे अरै।
दामिनी की कौंध लखि चौंधनि भरत चाव,
अंग अंग सीरियो समीर परसैं जरै।
घेरि घूँटि मारे चहूँवा तो आनन्दघन यौं।
वादर अडंवरानि डाँवाडोल ज्यों करै ॥

करणाँ सुणि स्याम मेरी।
मैं तो होइ रही चेरी तेर (टेक)
दरसण कारण भई बावरी, बिरह बिथा तन घेरी।
तेरे कारण जोगण हूँगी, दूँगी नग्र बिच फेरी।
कुंज सब हेरी हेरी।
अंग भभूत गले म्रिघछाला, यों तन भसम करूँरी।
अजहूँ न मिल्या राम अविनाशी, बन बन बिच फिरूँरी।
रोऊँ नित टेरी टेरी।
जन मीराँ कूँ गिरधर मिलिया, दुख मेटण सुख दे री।
रूम-रूम साता भइ उर में, मिटि गई फेरा फेरी।
रहूँ चरणनि तरि चेरी ॥60॥

व्याख्या—हे श्याम ! मेरी इस करुण-वियोग व्यथा को सुनो। मैं तो अनन्य भाव से तुम्हारी ही चेरी (दासी) होगई हूँ। मैं तुम्हारे दर्शन बिना बावली हो गई हूँ तथा विरह-वेदना ने मेरे शरीर को चारों ओर से घेर लिया है। अर्थात् मेरे सर्वाङ्ग में तुम्हारी विरह-व्यथा व्याप गई है। हे श्याम ! मैं तुम्हारे लिए जोगन बन जाऊँगी (वैराग्य ले लूँगी) तथा तुम्हारी खोज में नगर भर में फेरी दूँगी (चक्कर लगाऊँगी); कुंज-कुंज को छान डालूँगी। संन्यासिनी के समान मैं अपने अङ्गों में भस्म लगाकर गले में मृगचर्म पहन लूँगी। इस प्रकार तुम्हारी निर्धूम विरहाग्नि में जल कर मैं अपने तन को भस्म कर दूँगी। तुम्हारी प्रेम-साधना में अपनी काया को निश्शेष कर दूँगी। हाय ! मुझे अपने अविनाशी राम अभी तक नहीं मिले ! उनकी खोज में मैं वन-वन में भटक रही हूँ तथा नित्य उनके नाम की टेर लगा-लगा कर रो रही हूँ। पर यह लो, प्रियतम आगए ! दासी मीराँ को

1 घनानन्द।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गिरधरलाल के दर्शन होगए, जो उसके सारे दुखों को मिटाने वाले तथा सुख प्रदान करने वाले हैं। प्रियतम के मिलन से मेरे हृदय और रोम-रोम में शान्ति हो गई है तथा मन के सारे संशय और उद्वेग नष्ट होगए हैं [अथवा, पारमार्थिक अर्थ में आवागमन का चक्र मिट गया है]। अब मैं दासी अपने प्रियतम के चरणों तले रहूँगी। अर्थात् प्रिय-चरणों की सेवा करती हुई इनके आश्रय-सौख्य से कभी वंचित न होऊँगी।

शब्दार्थ—करणाँ = वियोग-व्यथा। (देखिए राजस्थानी सबद कोस, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 431)। कारण = लिए, दर्शनाभाव के कारण। नग्र = नगर। प्राचीन राजस्थानी में शब्द के अलग-अलग वर्णों को इस प्रकार परस्पर संयुक्त कर देने की प्रवृत्ति प्रायः देखी जाती है। उदाहरण—

1. प्रेत क्रतूत करो तुम्हे रे, राम कहइ सुविचार।[1]
2. थरहर लागी कांपिवा रे, आभ्रण दूरि उतारि।[2]

फेरी=चक्कर, विशेषतः साधु-संन्यासियों द्वारा नगर में भिक्षार्थ घूमने जाने को 'फेरी देना' कहते हैं। हेरी-हेरी = देखती हुई। जन = दासी (अपने प्रति)। सुख दे री = सुख दायक। साता = शान्ति। फेरा फरी = 1 मन का संशय या विरहोद्वेग। 2 आवागमन।

विशेष—प्रस्तुत पद में विरह-वर्णन के अन्तर्गत मिलन का उल्लेख वस्तुतः विरहिणी के अन्तस्थ भावोद्वेग एवं उसकी उत्कट मिलनाकांक्षा का ही परिचायक है। अतः इसे मात्र परम्परा-निर्वाह नहीं समझना चाहिए। यह मिलन यद्यपि काल्पनिक है तथापि स्वप्न-मिलन के समान इसके वर्णन से विरहिणी को एक प्रकार का मनस्तोष मिलता है। शैली-भेद से यह भी एक प्रकार का विरह-वर्णन ही है, जिसमें विरहिणी अपने अभीष्ट एवं मनोवांछित को घटित हुआ चित्रित कर उसके द्वारा मिलन के काल्पनिक आनन्द का अनुभव कर लेती है। विरह-व्यंजना की यह पद्धति क्या कुछ कम मनोवैज्ञानिक है?

पिया अब घर आज्यो मेरे, तुम मोरे हूँ तोरे (टेक)
मैं जण तेरा पंथ निहारूँ, मारग चितवत तोरे।
अवध बदीती अजहूँ न आये, दुतियन सूँ नेह जोरे।
मीराँ कहे प्रभु कबरे मिलोगे, दरसन विण दिन दोरे ॥61॥

व्याख्या—हे मेरे पिया! अब घर आजाओ। तुम मेरे हो और मैं तुम्हारी हूँ। तुम मेरे प्रियतम और मैं तुम्हारी प्रिया! अतः अब शीघ्र आकर मुझे कृतार्थ

1 सीताराम चौपाई (समयसुन्दर), पृष्ठ 181.
2 सीताराम चौपाई, पृष्ठ 211.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

करो [अथवा 'तुम····तोरे' पंक्ति का एक अन्यार्थ भी किया जा सकता है—तुमने मुझसे (नाता) तोड़ लिया है। परन्तु प्रथम अर्थ अधिक संगत है]। मैं तुम्हारी दासी अहर्निश तुम्हारी प्रतीक्षा में तुम्हारे आने की राह देखती रहती हूँ। अब तो तुम्हारे आने की अवधि भी बीत चुकी है परन्तु फिर भी तुम आए नहीं। जान पड़ता है तुमने दूतियों (मेरी संदेश-वाहिकाओं, कुट्टिनियों) अथवा अन्य ललनाओं से प्रीति जोड़ ली है। अर्थात् तुम अन्य वनिताओं के प्रेम-पाश में फँस गए हो। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधरलाल! आप कब मिलोगे? आपके दर्शन बिना मेरे दिन बड़े ही कष्टकर और दुसह्य होरहे हैं। दिन काटना कठिन होरहा है।

शब्दार्थ—मोरे = 1. मेरे, 2. अन्यार्थ में 'मुझसे'। तोरे = 1. तुम्हारे 2. अन्यार्थ में 'तोड़ लिया' (नेह)। जन = दासी (अपने प्रति)। अवधा = अवधि। बदीती = व्यतीत होगई। दुतियन = 1. दूतियों या कुट्टिनियों अथवा 2. अन्य ललनाओं।

दूतियाँ अपने कपटाचरण के लिए प्रसिद्ध रही हैं। यथा—'कपट जाँणई दूती।'[1] नायक का दूतियों के प्रेम-पाश में फँसने का वर्णन परम्परागत भी है। उदाहरणार्थ 'अमरुकशतक' का यह श्लोक देखिए—

निःशेष च्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो।
नेत्रे दूर मनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनूः।
मिथ्यावादिनि! दूति! बान्धवजनस्याज्ञात पीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।[2]

तथा—

1. देखै फिरती दूतियाँ, सूतौ धूँणै सीस।
फंसियो कामण फंद में, रसियो करै न रीस॥[3]

2. "कटाछि एक वार उहां जाय छै, एक वेर फिरि इहां आवै। तो जाणिजै छै इह दुहुँ का मन दंपति छै तो ये कदापि नहीं छै। ए दूति छै, विचि फिरै छै।"[4]

सामान्यार्थ में यह 'अन्य ललनाओं' का भी वाचक है, यथा—

नित क्यूँ बोले चातकवा मेरे पिउ के बैन।
घड़ी-घड़ी पल-पल कल न परत मोहि,
बिना पिया चैन न आवै।
देख सखी पिउ किन भरमाये,
किन दुतियन संग लग रहे नैन।[5]

1 सभाशृंगार।
2 अमरुकशतक।
3 कविराजा बाँकीदास।
4 वेलि टीका।
5 गीत की ये पंक्तियाँ मुझे अपने सम्मान्य मित्र, साहित्य व शास्त्रीय संगीत के मर्मज्ञ श्री सुधीन्द्रकुमारजी कुलश्रेष्ठ से सुनने को मिली हैं; तदर्थ उनका आभारी हूँ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

दोरै = कष्टकरे, कठिन, दुसह्य (सं० दुःखकर) उदाहरण—

आौ ऊपर ऊनालौ आयौ, दीन जनां दौरौ दरसायौ ।[1]
पांणी ग्यांत कोई नहिं पायौ, कूकै लोक हूवो अतिकायो ॥

विशेष—तुलनीय—

1. बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे ।[2]
सब कोई कहे तुम्हारी नारी, मोकों लागत आज रे ।
दिल से नहीं दिल लगाया, तब लग कैसा सनेह रे ।
अन्न न भावै नींद न आवै, गृह बन धरै न धीर रे ॥

इसी भाँति, सन्त दादू भी अपने प्रियतम राम का आह्वान करते हुए कहते हैं—

2. आवहु राम दया करि मेरे । बार-बार बलिहारी तेरे ।[3]
विरहिनि आतुर पंथ निहारइ । रामनाम करि पीव पुकारई ।

तथा—

3. आव पियारे मीत हमारे । निस दिन देखौं पाँव तुम्हारे ।[4]
सेज हमारी पीव सँवारी । दासी तुम्हारी सो धन वारी ॥

भवनपति तुम घरि आज्यौ हो । (टेक)
विथा लगी तन माहिने, म्हारी तपत बुझाज्यो हो ।
रोवत-रोवत डोलताँ, सब रैण बिहावै हो ।
भूख गई, निदरा गई, पापी जीव न जावै हो ।
दुखिया कूं सुखिया करो, मोहि दरसण दीजै हो ।
मीराँ व्याकुल विरहणी, अब बिलम न कीजै हो ॥62॥

व्याख्या—हे जगदीश्वर ! हे त्रिलोकीनाथ ! आप हमारे घर आओ । विरह-व्यथा ने मेरे तन-प्राण को जला दिया है । आप दर्शन देकर इस विरह-दाह को बुझाओ। आपके वियोग में रोते-रोते तथा इधर-उधर भटकते हुए ही मेरी सारी रात बीत जाती है । मेरी भूख और नींद सब चली गई, परन्तु एक पापी प्राण ही शरीर में से नहीं निकलते । अर्थात् इस असह्य वेदना को सहने की अपेक्षा मेरे प्राण ही चले जाते तो अच्छा था । हे जगन्नियन्ता ! अब इस दुखिया विरहिणी को दर्शन देकर सुखी कर दो । मीराँ तो आपके विरह में व्याकुल है । अतः अब दर्शन देने में विलम्ब न करो।

शब्दार्थ—भवनपति = जगत के स्वामी, जगदीश्वर । तपत = तपन, विरह-दाह ।

1 ऊमर काव्य ।
2 कबीर ग्रन्थावली, पृ० 192.
3 दादूदयाल की बानी (भाग 2) वे० वे० प्रेस; पृ० 134.
4 वही, पृ० 44.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जोगी म्हाँने, दरस दियाँ सुख होइ ।
नातरि दुख जग माँहि जीवड़ो, निस दिन झूरै तोइ ।
दरद दिवाणी भई बावरी, डोली सबही देस ।
मीराँ दासि भई है पंडर, पलट्या काला केस ॥63॥

व्याख्या—हे जोगी ! तुम दर्शन दोगे तभी हमें सुख मिलेगा, अन्यथा मेरे ये प्राण इस संसार में दुखी रहकर रात-दिन तुम्हें ही विसूरते रहेंगे। तुम्हारे लिए अहर्निश व्याकुल रहेंगे। तुम्हारे विरह की वेदना से पागल हुई मैं सब देश-देशान्तरों में घूम चुकी हूँ और अब तो तुम्हारी यह दासी मीराँ पाण्डुर (विरह-जन्य कृशता के कारण पीली) होगई है तथा इसके केश भी श्वेत होगए हैं। अर्थात् तुम्हारे विरह में जन्म भर दुःख झेलती हुई यह कृशकाय होकर अब वार्द्धक्य को प्राप्त हो गई है।

शब्दार्थ—नातरि = नहीं तो, अन्यथा। झूरै = व्याकुल रहती या विसूरती। पंडर=सं० पाण्डुर, विरह के कारण पीली। पलट्या = होगए। बदल गए (केश)।

विशेष—मीराँ के इस पद में उसके कृष्ण-प्रेम में विभोर होकर देश के विविध प्रान्तों में पर्यटन करने तथा वार्द्धक्य को प्राप्त होने सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण अंतर्साक्ष्य हैं परन्तु इनको हमें सतर्क होकर ही स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि अपने प्रेमी के लिए देश-विदेश में घूमते-फिरने तथा बाल्यावस्था से वार्द्धक्य को प्राप्त हो जाने का वर्णन करने की प्रायः एक प्राचीन परम्परा भी रही है। उदाहरणतः बाल्यावस्था से यौवन और यौवन से वृद्धावस्था की क्रमिक जीवन-स्थितियों का चित्रण करते हुए तथा जीवन की निष्फलता बताते हुए आम्रपाली कहती है—

कालका भमरवण्ण सदिसा वेलितग्गा मुद्धजा अहु।
ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥[1]

सन्त दादू भी कुछ ऐसी ही बात कहते हैं—

1. देखत ही दिन आइ गये। पलटि केस सब सेत भये।
आइ जुरा मीच अरु मरणा। आया काल अबै क्या करणा ॥[2]

गुरु नानक भी काले केशों के क्रमानुसार धूमिल व धूमिल से श्वेत हो जाने के विषय में ठीक ऐसा ही भाव व्यक्त करते हैं—

2. कलियाँ थों धउले भये, धउलियों भये सुपैद।
नानक मता मतों दियां, उज्जरि गइया खेडु ॥[3]

1 थेरगाथा; पृ. 252.
2 दादू; भाग 2, पृ. 94.
3 सन्त वाणी, भाग 1, पृ. 68/221.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इस भाँति, कबीर साहब भी जीवन की इस निष्फलता से कुछ कम विकल नही हैं—

3. बारह बरस बालापन खोयो, बीस बरस कछु तप न कियौ ।[1]
बीस बरस कै राम न सुमिर्‌यौ, फिर पछितान्यो विरधंभयो ।।

तथा

4. तरुनापन गई बीत बुढ़ापा आनि तुलाने ।[2]
काँपन लागे सीस चलत दोउ चरन पिराने ।।

अतः उपर्युक्त कवि-वर्णन-परम्परा के सन्दर्भ में ही हमें मीराँ के इन अन्तसक्ष्यिों पर विचार करना चाहिए ।

म्हारे घर रमतो ही जोगिया तू आव । (टेक)
कानाँ बिच कुंडल, गले बिच सेली, अंग भभूत रमाय ।
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है, ग्रिह अंगणो न सुहाय ।
मीराँ के प्रभु हरि अबिनासी, दरसण द्यौ न मोकूँ आय ।।64।।

व्याख्या—हे जोगी ! तू घूमता-घामता ही मेरे घर आजा । अर्थात् यदि केवल मेरे लिए तू न आ सके तो लोक में विचरण करता हुआ ही तू मेरे घर होता चला जा ताकि मैं तेरे दर्शन करलूँ । मुझे इसी से सन्तोष होजाएगा । मैं भी तेरे विरह में जोगन बन गई हूँ । मैंने कानों में कुंडल व गले में सेली (कंठी) पहनली है तथा अपने अंगों पर भस्म रमा ली है । तुम्हें देखे बिना मुझे एक पल भी चैन नहीं पड़ रहा है तथा घर-आँगन कुछ भी मुझे नहीं सुहाते हैं । हे मीराँ के अविनाशी प्रभु ! आप मुझे आकर दर्शन दो न ! मैं आपके दर्शन हेतु अत्यन्त लालायित हूँ, अधीर हूँ ।

शब्दार्थ—रमतो ही = घूमता-घामता ही; लोक में विचरण करता हुआ ही ! ग्रिह = घर (सं० गृह) । द्यौ न = दो न ।

आवो मनमोहन जी ! मीठा थाँरा बोल । (टेक)
बालपणाँ की प्रीत रमइयाजी, कदे नाहिं आयो थारो तोल ।
दरसण बिण मोहि जक न परत है, चित्त मेरो डाँवाडोल ।
मीराँ कहै मैं भई रावरी, कहो तो बजाऊँ ढोल ।।65।।

व्याख्या—हे मनमोहन ! आप आओ; मुझे दर्शन दे कृतार्थ करो । आपकी बोली कैसी मीठी है ! मैं तो इस वाग्माधुरी पर मुग्ध हूँ । हे रमैयाजी ! आपकी और मेरी प्रीति तो बचपन की है । अतः बाल्यकाल की इस घनिष्ठ और प्रगाढ़ प्रीति को

1 कबीर ग्रन्थावली, पृ. 170.
2 कबीर, सन्तवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 21.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अब सहज ही तोड़ो नहीं। आपके प्रीति-गाम्भीर्य की कभी थाह नहीं पाई है। अर्थात् आपके अगाध और निगूढ़ प्रेम का मर्म मैं कभी समझ नहीं सकी हूँ। हे मोहन! आपके दर्शन विना मुझे चैन नहीं पड़ रहा है तथा मेरा मन डाँवाडोल (विचलित) हो रहा है। मीराँ कहती हैं कि हे गिरधरलाल! मैं तो एकमात्र आपकी ही होगई हूँ। अर्थात मैंने तो अनन्य भाव से आपको ही अपने प्रियतम-रूप में वरण किया है। अब यदि इतना कहने पर भी आपको विश्वास नहीं हुआ हो तो आज्ञा दीजिए, मैं ढोल पीट-पीट कर यह बात कह दूँ। डंके की चोट इसका उद्घोष कर दूँ।

शब्दार्थ—बोल = बोली, वचन। तोल = थाह, गंभीरता। 'तोल देखणो' एक राजस्थानी मुहावरा है, जिसका अर्थ है किसी की थाह लेना या गाम्भीर्य का अंकन करना। यहाँ कृष्ण-प्रेम की अगाधता की ओर संकेत है, जो सर्वथा अप्रमेय है। तुलसी ने भी कहा है—

गूढ़ प्रेम लखि परउ न काहू।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसका अर्थ 'समझ में नहीं आया' कर दिया है, जो शायद इस शब्द का ठीक अर्थ व ध्वनि न समझ पाने के कारण ही है। एक टीकाकार का अर्थ "तुमने कभी उचित महत्त्व नहीं दिया है" तो निरा भ्रान्त है।

जक = चैन; 'जंक नहीं पड़णो' राजस्थानी मुहावरा है। रावरी = आपकी (आदर सूचक)। एक टीकाकार ने राजस्थान की राजोचित परम्पराओं से अपरिचित होने के कारण 'रावरी' का अर्थ भ्रमवश 'बावरी' कर डाला! एक उदाहरण लीजिए—

जांणी जी पना जांणी म्हें रावली रीत।[1]

कहो तो····ढोल = कहो तो ढिंढोरा पीट दूँ, डंके की चोट घोषणा कर दूँ। इस कथन में निहित खीझ दर्शनीय है।

विशेष—बचपन की प्रीति बड़ी प्रगाढ़, निश्छल और विशेष स्नेहाकर्षण से भरी होती है। प्रगाढ़ और अटूट प्रीति के लिए यह स्वयं अपना उपमान बन गई है, जिसका मध्यकालीन काव्यों में बहुशः उल्लेख हुआ है। यथा—

नल सरखी न मिलइ जोड़ी, बाला पणनी प्रीति त्रोड़ी।[2]

तथा इसी आशय का एक राजस्थानी दोहा तो अत्यन्त भावपूर्ण है—

नागा नागर वेल, पसरै पण फूलै नहीं।[3]
बाल पणै रो मेल, बिछड़ै पण भूलै नहीं॥

1 'रसीलै राज रा गीत' (महाराजा मानसिंहजी जोधपुर) पृ. 50; 'परम्परा'।
2 नल-दवदंती रास; पृ. 46; सं, डॉ. भोगीलाल साँडेसरा।
3 रसराज, 'परम्परा' अंक; सं. नारायणसिंह भाटी; पृ. 68.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्यारे दर्शन दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय। (टेक)
जल बिन कमल, चंद बिन रजनी, ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी।
आकुल-व्याकुल फिरूँ रैन-दिन, विरह कलेजा खाय।
दिवस न भूख, नींद नहिं रैना, मुख से कथन न आवै बैनाँ।
कहा करूँ कुछ कहत न आवै, मिल पिव तपत बुझाय।
क्यों तरसावो अंतरजामी, आय मिलो किरपा कर स्वामी।
मीराँ दासी जनम-जनम की, परी तुमारे पाँय ॥66॥

व्याख्या—हे प्रियतम ! आप शीघ्र आकर दर्शन दो। आपके बिना मुझसे रहा नहीं जाता। जैसे जल के बिना कमल मुरझा जाता है तथा चन्द्रमा के बिना रात की शोभा नीरस हो जाती है, वैसे ही आपके बिना मेरा जीवन भी नीरस व निष्फल हो रहा है। अर्थात् आपके बिना इसकी कोई सार्थकता नहीं है। आपके वियोग में आकुल-व्याकुल हुई मैं रात-दिन भटकती रहती हूँ तथा विरह का दारुण दुःख मेरे कलेजे को खाए जाता है। इस विरह-व्यथा के कारण मुझे न दिन को भूख लगती है और न रात की नींद आती है तथा अपनी इस मर्म व्यथा को मैं अपने मुँह से कह भी नहीं पाती। अर्थात् मेरी विरह-वेदना सर्वथा अकथ्य और अवर्णनीय है। हे सखी ! मैं क्या करूँ ? मुझसे तो कुछ भी कहते नहीं बनता। हे प्रियतम ! आप ही मिलकर मेरी यह तपन बुझाओ। हे अन्तर्यामी ! जाप मुझे अब अधिक क्यों तरसाते हो ? मैं यह विरह-यातना बहुत झेल चुकी हूँ। अतः हे स्वामी ! अब तो आप कृपा कर मुझसे आ मिलो ताकि मेरा दुःख जाता रहे। हे प्रियतम ! मीराँ तो आपकी जन्म-जन्मान्तरों की दासी है तथा आपके पैरों में पड़ी है। अतः इस चरणानुगता पर अनुग्रह कर, दर्शन दे, इसका विरह-दाह दूर करें।

शब्दार्थ—तपत = विरह-दाह।

घड़ी एक नहिं आवड़ै, तुम दरसण बिन मोय।
तुम ही मेरे प्राण जी, कासूँ जीवन होय।
धांन न भावै, नींद न आवे, विरह सतावै मोय।
घायल-सी घूमत फिरूँ रै, मेरो दरद न जाणै कोय।
दिवस तो खाय गमाइयो रै, रैण गमाई सोय।
प्राण गमायो झूरताँ रै, नैण गमाया रोय।
जो मैं ऐसा जानती रै, प्रीत किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती रै, प्रीत न कीज्यो कोय।
पथ निहारूँ, डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोय।
मीराँ के प्रभु ! कबरे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय ॥67॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—हे प्रियतम ! मुझे आपके दर्शन बिना एक घड़ी भी चैन नहीं मिलता और न ही मन लगता है। आप ही मेरे प्राणाधार हैं; सर्वस्व हैं। आपके बिना मेरा जीवन कैसे संभव है ? आपके विरह में न मुझे भोजन अच्छा लगता है, न नींद आती है। रात-दिन मुझे आपका विरह सताता है। आपके वियोग में मैं घायल-सी वन-वन छानती फिरती हूँ परन्तु मेरा दर्द कोई नहीं जानता।

आपके वियोग में मैंने (किसी तरह अपने को जीवित रखने के लिए) खा-पीकर ये दिन काटे हैं; सो कर (नींद के सहारे से) रातें बिताई हैं; बिसूरते-बिसूरते प्राणों का नाश कर दिया है (काया क्षीण करदी है) तथा रो-रोकर अपनी आँखें खो दी हैं। हे प्रियतम ! यदि मैं यह जानती कि प्रीति करने से ऐसा दुःख मिलता है तो नगर भर में ढिंढोरा पीट कर कहती कि कोई भूल कर भी प्रेम न करना। आपकी प्रतीक्षा में मार्ग में खड़ी मैं आपकी राह देखती हूँ; आपकी डगर बुहारती हूँ (आपके आने के मार्ग में अपने पलक-पाँवड़े बिछाए हूँ)। मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! आप कब मिलोगे ? आपके मिलने से ही मुझे सुख मिलेगा।

शब्दार्थ—आवड़ै = मन लगना। 'आवड़ना' ठेठ राजस्थानी शब्द है। **धान** = अन्न; भोजन।

विशेष—मीराँ का यह अतिशय भावपूर्ण पद है, जिसमें उसकी मनोव्यथा बड़े ही मार्मिक शब्दों में फूट पड़ी है।

म्हारा जनम-मरण रा साथी, थाँने नहीं बिसरूँ दिनराती।
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है, जानत मेरी छाती।
ऊँची चढ़-चढ़ पंथ निहारूँ, रोय-रोय अँखियाँ राती।
यो संसार सकल जन झूँठो, झूँठा कुल रा न्याती।
दोऊ कर जोड़्याँ अरज करत हूँ, सुन लीजो मेरी बाती।
पल-पल तेरा पंथ निहारूँ, निरख-निरख सुख पाती।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर ! हरिचरणाँ चित राती ॥67॥

व्याख्या—हे मेरे जन्म-मरण के साथी ! मैं तुम्हें रात-दिन एक क्षण के लिए भी नहीं भूलती। अहर्निश तुम्हारे ही ध्यान में तन्मय रहती हूँ। तुम्हें देखे बिना मुझे एक पल भी चैन नहीं पड़ता। इस अकथ्य व्यथा को बस मेरा हृदय ही जानता है। तुम्हारी प्रतीक्षा में मैं ऊँची चढ़-चढ़ कर राह देखती हूँ तथा तुम्हारे वियोग में रोते-रोते मेरी आँखें भी लाल होगई हैं। यह संसार और इसके सारे लोग मिथ्या हैं तथा कुल के सब स्वजन-सम्बन्धी भी मिथ्या हैं। अर्थात् यह संसार नश्वर है तथा इसके सारे लौकिक सम्बन्ध भी अस्थिर और अनित्य हैं। देह-त्याग के साथ ही इन लौकिक सम्बन्धों की भी इयत्ता होजाती है। हे प्रभु ! मैं दोनों हाथ जोड़ आपसे अर्ज करती हूँ। मेरी विनती सुन लीजिए। मैं प्रतिपल आपके आने

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की बाट जोहती हूँ तथा आपकी ही अनुपम छवि को निहारा करती हूँ। मीराँ के आराध्य तो एकमात्र गिरधरलाल ही हैं एवं उन्हीं के चरणों में उसका मन अनुरक्त है।

शब्दार्थ—जानत''''छाती = मन के इस दर्द को बस मेरा मन ही जानता है। इस पंक्ति में मीराँ की अंतस्थ मनोव्यथा बड़ी मार्मिकता से फूट पड़ी है। **राती** = लाल, रक्तिम। **न्याति** = (सं० ज्ञाति) सम्बन्धी। **राती** = अनुरक्त।

विशेष—

संसार व सांसारिक सम्बन्धों की अनित्यता का प्रायः सभी सन्तों व भक्तों ने वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में कुछ सन्त-वचन देखिए—

1. जग-रचना जंजाल, जीव माया ने घेरा।[1]

2. यहु ऐसा संसार है, जैसा सेंवल फूल।
दिन दिस के व्यौहार कौ, झूठे रंगि न भूलि।[2]

3. जैसे मोती ओस को, तैसो यह संसार।
विनसि जाय छिन एक में, दया प्रभू उर धार॥[3]

4. दूलन यहि जग आइकै, काको रहो दिमाक।
चंद रोज को जीवना, आखिर होना खाक॥[4]

5. यहु जग जाता देखकर, दादू करी पुकार।
घड़ी महूरत चालणाँ, राखै सिरजनहार॥[5]

6. सहजो भज हरिनाम कूँ, तजो जगत सूँ नेह।
अपना तो कोई है नहीं, अपनी सगी न देह॥[6]

सजन! सुध ज्यूँ जाणै त्यूँ लीजै हो (टेक)
तुम बिन मोरे अवर न कोई, क्रिपा रावरी कीजै हो।
दिन नहिं भूख, रैण नहिं निदरा, यूँ तन पलपल छीजै हो।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, मिल बिछुड़न मत कीजै हो॥69॥

व्याख्या—हे साजन! जैसे भी बने मेरी सुधि लो। मुझे यों निपट भुला न दो। मेरे, तुम्हारे सिवा और कोई नहीं है। अर्थात् मेरे तो जो भी कुछ हो, तुम्हीं हो। अतः मुझ पर कृपा करो। अपनी कृपा से मुझे वंचित न करो। हे प्रियतम!

1 तुलसी साहब, सं० वा० सं०, भाग 2, पृष्ठ 240.
2 कबीर-ग्रंथावली।
3 दयाबाई, सं० वा० सं० भाग 1, पृष्ठ 170.
4 दूलनदास, सं. वा. सं. भाग 1, पृष्ठ 136.
5 दादू, भाग 1, पृष्ठ 219.
6 सहजोबाई, सं. वा. सं. भाग 1, पृष्ठ 156.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तुम्हारे बिना मुझे न दिन में भूख लगती है, न रात में नींद आती है। इस प्रकार प्रतिपल मेरा तन शनैः शनैः क्षीण होता जारहा है। हे मीराँ के आराध्य गिरधरलाल! मिलकर बिछुड़न न कीजिए। अर्थात् मिलन का सुख देकर वियोग का दुःख न दीजिए।

शब्दार्थ—सजन = साजन, प्रियतम। ज्यूँ = जैसे भी बने; जैसे भी हो। अवर = दूसरा (सं० अपर)। रावरी = आपकी (आदर सूचक)। छीजै = क्षीण होता जारहा है। उदाहरण—

पाणी में पाखाण, भीजै पण छीजै नहीं।[1]
मूरख आगै ग्याँन, रीझै पण बूझै नही॥

विशेष—

तुलनीय

1. अब तोंहि जान न देहूँ राम पियारे।[2]
ज्यूँ भावै त्यूँ होइ हमारे॥

तथा

2. मिलण भलौ, बिछड़ण दुरो, मिल बिछड़ौ मत कोय।[3]
फिर मिलणा हँस बोलणा, देव करै जद होय॥

राम मिलण रो घणो उमावो, नित उठ जोऊँ बाटड़ियाँ (टेक)
दरस बिना मोहि कछु न सुहावै, जक न पड़त है आँखड़ियाँ।
तलफत-तलफत बहु दिन बीता, पड़ी विरह की पासड़ियाँ।
अब तो बेगि दया करि साहिब, मैं तो तुम्हारी दासड़ियाँ।
नैण दुखी दरसण कूँ तरसै, नाभि न बैठै साँसड़ियाँ।
राति-दिवस यह आरति मेरे, कब हरि राखै पासड़ियाँ।
लगी लगनि छूटण की नाही, अब क्यूँ कीजै आँटड़ियाँ।
मीराँ के प्रभु! कबरे मिलोगे, पूरौ मन की आसड़ियाँ॥70॥

व्याख्या—मेरे मन में राम (श्याम) से मिलने की बड़ी उमंग है, बड़ा उल्लास है, इसीलिए नित्य उठ-उठ कर उनकी राह देखा करती हूँ। उनके दर्शन बिना मुझे कुछ नहीं सुहाता तथा आँखों को तनिक भी कल नहीं पड़ती। उनके वियोग में तड़पते-तड़पते मुझे बहुत दिन होगए हैं। मेरे गले में विरह की फाँसी लग गई है। हे स्वामिन्! हे प्रियतम! अब तो शीघ्र कृपा करो, दर्शन दो। मैं तो

1 अज्ञात।
2 कबीर-ग्रन्थावली।
3 अज्ञात।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

आपकी ही दासी हूँ। मेरी दुखिया आँखें आपके दर्शन के लिए तरस रही हैं तथा विरह-जन्य कृशता के कारण मेरी साँसें नाभि में बैठ गई हैं। अर्थात् मैं जीवन के अन्तिम श्वास ले रही हूँ। रात-दिन मेरे लिए यही दुःख, यही व्याकुलता बनी रहती है कि मुझे प्रियतम श्याम कब अपने पास रखेंगे और मिलन का सुख देंगे। हे प्रियतम! आपसे लगी यह नेह की लगन अब छूटने की नहीं है। आपसे जो मेरी प्रीति जुड़ गई है, वह अब टूटने की नहीं है। फिर भला आप मुझसे यह बैर, यह अलगाव क्यों किए हो? मीराँ कहती है कि हे प्रभु! आप कब मिलोगे? दर्शन देकर मेरे मन की आशाएँ कब पूरी करोगे?

शब्दार्थ—उमावो = उमंग, उल्लास, उदाहरण—

अब घर आवौ म्हाँनै थारौ छै उमावौ हो।[1]

निर्त = नित्य। बाटड़ियाँ = बाट, मार्ग। जक = चैन 1. पासड़ियाँ (सं० पाश), = फाँसी, विरह का फन्दा, जो गले में पड़ा हुआ प्राण ले रहा है। आरति = प्रेमाकुलता। 2. पासड़ियाँ = पास, समीप। आँटड़ियाँ = आँट, बैर, अलगाव।

म्हारै घर होता जाज्यो राज! (टेक)
अबकै जिन, टाला दे जावो, सिर पर राखूँ विराज।
म्हे तो जनम-जनम की दासी, थे म्हाँका सिरताज।
पावणड़ा म्हाँके भला ही पधारो, सब ही सुधारण काज।
म्हे तो बुरी, थाँके भली छै घणेरी, तुम हो एक रसराज।
थाँने हम सबहिन की चिंता, तुम हो गरीबनिवाज।
सबके मुकुट सिरोमनि सिर पर, मानूँ पुण्य की पाज।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर! बाँह गहे की लाज ॥71॥

व्याख्या—हे महाराज! आप तनिक मेरे घर होते हुए ही जाएँ। मुझे दर्शन देते हुए पधारें। ऐसा न हो कि अबके भी आप मुझे छोड़ते हुए चले जाएँ। मैं आपको अपने मस्तक पर बिठा रखूँगी। अर्थात् अतिशय श्रद्धा एवं आदरपूर्वक आपका स्वागत-सत्कार करूँगी। हे प्यारे पाहुने! आप पधारे तो मैं अपने आपको धन्य समझूँगी। आप सभी काज सुधारने वाले हैं। आपके पधारने से मेरे सारे मनोरथ पूर्ण होजाएँगे। मैं चाहे लाख बुरी हूँ और आपके अनेकानेक भली हैं परन्तु मेरे लिए तो एक आप ही रसिक-शिरोमणि हैं। अतः आपको छोड़कर मैं और किससे प्रीति करूँ? आपको तो हम सभी की चिन्ता है क्योंकि आप गरीब-नवाज़ हैं। आप सबके मुकुट हैं; शिरोमणि हैं; जिन्हें हम सिर पर धारण किए हैं।

1 रसीले राज रा गीत (महाराजा मानसिंहजी, जोधपुर), पृष्ठ 182, 'परम्परा'।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हमारे लिए आप पुण्य के सेतु हैं। अर्थात् इस भवसिन्धु को पार कराने वाले हैं। हे मीराँ के आराध्य गिरधरलाल! मेरा हाथ पकड़ने की लाज रखिए। अर्थात् आपने मेरा पाणिग्रहण किया है। अतः उसका स्मरण कर अपनी प्रिया के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कीजिए।

शब्दार्थ—**टाला देना** = छोड़ते हुए चले जाना। **पाज** = मर्यादा, सीमा या सेतु। 'पाज' शब्द कभी सरोवर या समुद्र-तट-सीमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है, कभी पुल या सेतु के अर्थ में। प्रथम का उदाहरण देखिए—

बाबहिया! चढि डूंगरे, चढ़ि ऊँचइरी **पाज**।[1]

द्वितीयार्थ में प्रयोग के उदाहरण—

1. प्रभु दधि ऊपरि बांधण **पाज**, आयौ लंक ऊपरि राघव आज।[2]
2. वरी दध **पाज** महा नग धार।[3]
   पदम्म अढार उतारिय पार॥

प्रथम अर्थ में पुण्य की राशि अथवा मर्यादा स्थापित करने तथा द्वितीय में पुण्य के सेतु का अर्थ लिया जा सकता है।

बरसे बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की। (टेक)
सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिशि से आया, दामिनि दमकै झर लावन की।
नन्हीं-नन्हीं बूँदन मेहा बरसे, शीतल पवन सोहावन की।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, आनँद-मँगल गावन की ॥72॥

व्याख्या—सावन की बदरिया बरस रही है; सरस और मनभावने सावन की। ऐसे सावन में प्रियतम कृष्ण के आने की भनक कानों में पड़ते ही मेरा मन उमंग और उल्लास से नाच उठा है। चारों दिशाओं से बादल उमड़-घुमड़ कर छा गए हैं तथा वर्षागम की सूचक बिजलियाँ चमकने लगीं। बादलों से नन्हीं-नन्हीं बूँदों के रूप में वर्षा की फुहारें झरने लगीं तथा शीतल-सुहावनी पवन चलने लगी हैं। हे मीराँ के आराध्य गिरधरलाल! मेरे लिए तो यह आनन्द और मंगल-गीत गाने की घड़ी है।

1 ढोला-मारू रा दूहा; सं. डॉ. शंभूसिंह मनोहर।
2 पीरदान लालस-ग्रंथावली; पृ. 6, सं. श्री अगरचन्द नाहटा।
3 हरिरस; बारैठ ईसरदास; पृ. 17; सं. श्री बद्रीप्रसाद साकरिया।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

दरस बिन दूखन लाग नैन।
जबसे तुम बिछुड़े मोरे प्रभुजी ! कबहुँ न पायो चैन।
सबद सुणत मेरी छतियाँ कम्पै, मीठे लागै बैन।
विरह-बिथा कासूँ कहुँ सजनी ! बह गई करवत-ऐन।
कल न परत, हरि मग जोवत, भई छमासी रैण।
मीराँ के प्रभु ! कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख दैण ॥73॥

व्याख्या—हे प्रभु ! आपके दर्शन बिना मेरी आँखें दुखने लगी हैं। जबसे आप बिछुड़े हैं, तभी से हे प्रभु ! मुझे एक पल भी चैन नहीं मिला है। मैं आपके विरह में व्याकुल हूँ। आपके मधुर वचनों और प्रीति-संभाषणों की याद आते ही (सात्विक रोमांचवश) मेरा वक्ष सिहर उठता है। आपके प्रेमालाप की याद कर मैं पुलकित-उच्छ्वसित हो उठती हूँ। हे सखी ! मैं अपनी विरह-व्यथा किससे कहूँ ? मुझ पर तो जैसे करवत ही चल गई है। अर्थात् विरह की वेदना ने मुझे पूर्णतः घायल कर दिया है। कृष्ण के विना मुझे एक पल भी चैन नहीं मिलता। मैं रात-दिन उन्हीं का मार्ग देखा करती हूँ। उनके वियोग में रात भी छह मास जितनी लम्बी लगती है। अर्थात् एक-एक पल बड़ी कठिनता से बीतता है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! आप मुझसे कब मिलोगे ? मुझे कब दर्शन दोगे ? आप ही मेरे दुःखों को दूर कर सुख देने वाले हैं।

शब्दार्थ—ऐन = ठीक; भाव यह कि ठीक मेरे कलेजे पर करवत चल गई है।

म्हाँरे घर आज्यो प्रीतम प्यारा, तुम बिन सब जग खारा ॥टेक॥
तन मन धन सब भेंट करूँ, औ भजन करूँ मैं थारा।
तुम गुणवंत बड़े गुणसागर, मैं हूँ जी औगणहारा।
मैं निगुणी, गुण एकौ नाहीं, तुम हो बगसण हारा।
मीराँ कहै प्रभु कबहि मिलौगे, थाँ विण नैण दुखियारा ॥74॥

व्याख्या—हे प्यारे प्रियतम ! आप मेरे घर आओ ! आपके बिना यह सारा संसार मुझे अत्यन्त कटु (बड़ा बुरा) लगता है। मैं अपना तन-मन-धन सर्वस्व आपके अर्पण कर दूँगी तथा अनन्य भाव से आपका ही भजन करूँगी, स्तुति-गान करूँगी। आप परम गुणवान हैं। अनन्त गुणों के सागर हैं तथा मैं अवगुणों की भण्डार हूँ; दुर्गुणों से भरी हूँ। वस्तुतः मैं निपट गुण-शून्य हूँ। एक भी तो गुण मुझमें नहीं है एवं आप क्षमाशील हो, उदार हो। अतः मेरी पात्रता पर ध्यान न दे मुझ पर कृपा करो। मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! आप कब मिलोगे ? आपके बिना मेरी आँखें दुखी हैं। मेरे नेत्र आपके दर्शन हेतु आकुल हैं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दार्थ—खारा = कटु, भावार्थ में बुरा । बगसणहारा = बख्शने वाले, क्षमाशील ।

विशेष—तुलनीय

प्रभु, हौं सब पतितन को टीको ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तो जनमत ही कौ ।[1]

वारी-वारी हो राम हूँ वारी, तुम आज्यो गली हमारी (टेक)
तुम देख्याँ बिन कल न पडत है, जोऊँ बाट तुम्हारी ।
कूण सखी सूँ तुम रंग राते, हम सूँ अधिक पियारी ।
किरपा कर मोहि दरसण दीज्यो, सब तकसीर बिसारी ।
तुम सरणागत परमदयाला, भवजल तार मुरारी ।
मीराँ दासी तुम चरणन की, बार बार बलिहारी ॥75॥

व्याख्या—हे राम ! मैं तुम पर बलिहारी जाती हूँ; बारम्बार न्योछावर होती हूँ । तुम मेरी गली में आ जाओ । तुम्हें देखे बिना मुझे चैन नहीं पड़ता । रात-दिन तुम्हारी बाट जोहती हूँ । न जाने वह कौन सखी है, जिसके प्रेम में तुम फंस गए हो तथा जो तुम्हें हम से भी अधिक प्यारी हो गईहै । हे प्रियतम ! मेरे सारे दोष और अपराध भूलकर अब तो कृपा कर मुझे दर्शन दो । तुम शरणागत, प्रतिपालक एवं परम दयालु हो । अतः हे मुरारि ! मुझे इस भव-सागर से पार कर दो । अर्थात् इस संसार-चक्र से मुक्त कर दो । मीराँ तो तुम्हारे चरणों की दासी है तथा तुम पर बारम्बार बलिहारी जाती है ।

शब्दार्थ—वारी-वारी = बारम्बार बलिहारी जाना । 'वारी-वारी जाना' राजस्थान में बलिहारी होने के अर्थ में बड़ी-बूढ़ी महिलाओं द्वारा आज दिन तक प्रयुक्त होता है । रंग राते = प्रेम में फँस गए हो, अनुरक्त होगए हो । तकसीर = दोष, अपराध या कुसूर (अरबी शब्द है) उदाहरण—

रसराज पहैली प्रीत लगा नै ।[2]
छांडो छै किण तकसीर म्हांनै अकेलड़ी ॥

शरणागत = शरणागत-पालक । भवजल = संसार-सागर, आवागमन का चक्र ।

विशेष—'कूण सखी⋯अधिक पियारी' इस पंक्ति का भाव मिलाइये—

अै तो बिछड़या नैंण लगाय, बेदर्दी हो गया ।[3]
रह्या परदेसां में छाय, किसी बिलमा लिया ॥

1 सूरदास ।
2 रसीलै राज रा गीत (महाराजा मानसिंहजी, जोधपुर), पृ. 203, 'परम्परा' ।
3 वही, पृष्ठ 202.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

म्हारे आज्यो जी रामाँ, थारे आवत आस्याँ सामाँ (टेक)
तुम मिलियाँ मैं बोहो सुख पाऊँ, सरै मनोरथ कामा।
तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज धामा।
मीराँ के मन अवर न माने, चाहे सुन्दर स्यामाँ ॥76॥

व्याख्या—हे राम ! आप मेरे घर पधारो। आपके शुभागमन के अवसर पर मैं आपकी अगवानी कर आपका स्वागत करूँगी। बीच मार्ग में ही आपकी सेवा में उपस्थित होकर आपका अभिनन्दन करूँगी। आपके मिलने पर ही मुझे अतिशय सुख मिलेगा तथा मेरे सारे मनोरथ सिद्ध होंगे; मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी। हे भगवन्! मैं तो आपका ही अभिन्न अंश हूँ। आपमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, वैसे ही जैसे तत्वतः सूर्य और धूप में नहीं होता। अर्थात् धूप जैसे सूर्य का ही अभिन्न गुण है, उसका ही एक अनन्य रूप है, वैसे ही मैं आपका ही एक अनन्य चिदांश हूँ। आप और मेरे बीच कोई भेद या द्वैत नहीं है। हे श्याम ! मीराँ का मन और किसी को नहीं मानता। उसे और कोई नहीं भाता। वह तो एकमात्र अपने प्रियतम श्यामसुन्दर को ही चाहती है। उन्हीं में अनुरक्त है।

शब्दार्थ—आवत = आते हुए, आने पर। आस्याँ सामाँ = आगे बढ़ कर स्वागत करूँगी। राजस्थान में किसी विशिष्ट व्यक्ति अथवा अपने किसी प्रिय अतिथि के आगमन के अवसर पर उसकी अगवानी कर स्वागत किए जाने की परिपाटी है। इस स्वागत-पद्धति को 'सामाँ आवो' या 'सामाँ लेवो' (समक्ष उपस्थिति होना) कहते हैं, जो राजस्थान की राजोचित सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुरूप है। यह प्रथा आज दिन तक प्रचलित है। इसके लिए प्रायः गाँव की सीमा पर या उससे भी कुछ दूर जाकर आगत अतिथि की पेशवाई की जाती है। इससे अतिथि अपने को सम्मानित अनुभव करता है। इस प्रथा-सूचक शब्द-प्रयोग के उदाहरण देखिए—

1. धार नयरी (पहूतो) वीसल राव ।[1]
   साँम्हो आव्यो भोज खधार ॥
2. साला तो **आवै छै म्हारै सामै** पड़जान ।[2]
3. मारू आयो छै सौ कोसां सूँ चाल[3]
   बाई थांरै कारणी यै ।
   मंजन अंजन करो लाडली
   अतर संवारो बाल ॥
   पहरो भूखण वसन अमूलक
   ल्यावो सामाँ चाल ॥

1 वीसलदेवरासो, सं. सत्यजीवन वर्मा, पृ. 110.
2 'वरदा', वर्ष 2, अंक 1, पृ. 66.
3 रसीलै राज रा गीत (महाराजा मानसिहजी, जोधपुर), पृ. 22, 'परम्परा'।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

खेद है कि पारस्परिक सौहार्द्र और सम्मान के उच्च जीवन-मूल्यों पर आधारित ये परम्पराएँ अब लुप्त होती जा रही हैं।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने राजस्थान की इस विशिष्ट स्वागत-परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण इस शब्द का यह आनुमानिक अर्थ कर डाला—"सामा = मीठी-मीठी बातचीत या शान्ति।" वस्तुतः राजस्थान के सांस्कृतिक एवं सामाजिक आदर्शों तथा रीति-रिवाजों से अपरिचय के कारण ऐसी अर्थ-भ्रान्तियाँ अनेक स्थलों पर हुई हैं।

बोहो = बहुत, अतिशय। सरैं = पूर्ण हों। कामा = काम, मनोरथ, मनोकामनाएँ। घामा = धूप। अवर = दूसरा (कोई अन्य आराध्य) सुन्दर स्यामा = श्यामसुन्दर।

विशेष—मीराँ की इस पंक्ति 'तुम बिच....सूरज घामां' में रहस्यवादी काव्य प्रवृत्ति का आभास है, जो कविवर 'निराला' की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता से तुलनीय है। यह बौद्धिक अभेद नहीं, अपितु भावाद्वैत की अवस्था है। परन्तु मीराँ, आज के रूढ़ अर्थ में, रहस्यवादी कवयित्री नहीं थी। वस्तुतः अपने आराध्य के साथ अपनी अनन्यता का बोध करने के लिए ही मीराँ ने सहज भाव से इस उपमा का प्रयोग कर दिया है। अतः इस प्रासंगिक एवं एकांगी उल्लेख के आधार पर हमें उन्हें किसी वाद की सीमाओं में बाँधने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

पिया मोहिं दरसण दीजै, हो।
बेर-बेर मैं टेरहूँ, अहे क्रिपा कीजै, हो। (टेक)
जेठ महीने जल बिना, पंछी दुख होई हो।
मोर आसाढ़ाँ कुरलहे, घन चात्रग सोई हो।
सावण में झड़ लागियौ, सखि तीजाँ खेलै हो।
भादरवे नदिया वहै, दूरी जिन मेलै हो।
सीप स्वाति ही झेलती, आसोजाँ सोई हो।
देव काती में पूजहे, मेरे तुम होई हो।
मगसर ठंड बहोती पड़ै, मोहि वेगि सम्हालो हो।
पोस महीं पाला घणा, अबही तुम न्हालो हो।
माह महीं बसत पंचमी, फागाँ सब गावै हो।
फागुण फागां खेलहैं, वणराइ जरावै हो।
चैत चित्त में ऊपजी, दरसण तुम दीजै हो।
बैसाख वणराइ फूलवै, कोइल कुरलीजै हो।
काग उडावत दिन गया, बूझूँ पिंडत जोसी हो।
मीराँ विरहिणि व्याकुली, दरसण कब होसी हो ॥77॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—हे प्रियतम ! मुझे दर्शन दो। मैं बारम्बार आपको पुकार रही हूँ। अब तो कृपा करो। हे नाथ! जेठ का महीना लग गया है। ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से पृथ्वी का जल सूख गया है जिससे बेचारे पक्षी त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। आसाढ़ मास में प्रथम घन-घटा को देखकर मोर उमंग में भरे बोल रहे हैं तथा स्वाति-मेघ के लिए पपीहा भी 'पिउ-पिउ' की टेर लगाए है। इधर सावन में वर्षा की झड़ी लग गई है तथा सब सखी-सहेलियाँ मिल कर हर्षोल्लास में भरी तीज का त्योहार मना रही हैं, गीत-गान कर रही हैं। सावन के बाद भादों भी आगया है। प्रचुर जल-वृष्टि से जलापूर्ण नदियाँ बहने लगी हैं। हे प्रियतम! ऐसे समय में मुझे अपने से दूर न रखो। अर्थात् शीघ्र आकर मिलन का सुख दो। लो, आश्विन भी आगया। सीप स्वाति-बूँद को धारण करने हेतु उन्मीलित होगई। अर्थात् आसोज के महीने में ही सीप का बन्द मुँह स्वाति-मेघ से निःसृत वारि-विन्दु को धारण करने हेतु खुल जाता है, जो सीप में पड़ते ही मोती वन जाती है। इधर कार्तिक मास में सब लोग देव-पूजा में निरत होगए हैं। परन्तु हे श्याम! मेरे देवता तो तुम्हीं हो। अतः तुम्हें छोड़ मैं अन्य किस देवता की आराधना करूँ? कार्तिक के बाद मार्गशीर्ष का महीना भी आगया है, जिसमें अत्यधिक शीत पड़ता है। हे प्रियतम! मेरी तत्काल सुधि लो। पौष आते-आते तो शीत का प्रकोप और भी प्रचण्ड हो गया है। कड़ाके की ठण्ड पड़ने लगी है। शीताधिक्य से पानी भी जमने लगा है। हे प्रियतम! अब भी मुझ पर कृपा-दृष्टि डाल लो। माघ मास में वसन्त-पञ्चमी का मंगल पर्व आगया है। वसन्तागम के उपलक्ष्य में लोग उल्लसित हुए फाग के गीत गा रहे हैं। राग-रंग और हर्षोल्लास में निमग्न नर-नारी फाग खेल रहे हैं, वसन्तोत्सव की क्रीड़ाओं में लीन हो रहे हैं। नव पुष्प-पल्लवों से मंडित हो वन-श्री ने अपूर्व शोभा धारण कर ली है। वृक्षावलि की वह मोहक हरीतिमा विरहिणी के मन को जलाती है; उसकी विरह-वेदना को उद्दीप्त कर देती है क्योंकि उसके प्रियतम जो घर नहीं है। इधर चैत्र लगते ही चित में प्रिय-मिलन की चाह और भी चौगुनी होगई है। मन कन्त-समागम के लिए अकुला उठा है। हे साजन! अब तो शीघ्र दर्शन दो। वैशाख लगते-लगते तो वनराजि (वन-वृक्षावलि, वनस्थली) नवीन पुष्प-पल्लवों से पूर्णतः लहलहा उठी है। वसन्त का उन्मेष प्रकृति पर पूर्णतः छा गया है। कोयल मधुर स्वरों में बोलने लगी है, जिसे सुन-सुन विरहिणी का जी जला जाता है। हे प्रियतम! तुम्हारी प्रतीक्षा में काग उड़ाते-उड़ाते न जाने कितने दिन बीत गए। मैं ज्योतिषियों और पंडितों से भी पूछ-पूछ कर हार गई परन्तु कोई तुम्हारे आगमन की सही तिथि नहीं बता पाया। हे प्रियतम! तुम्हारी दासी मीराँ तुम्हारे विरह में अत्यन्त व्याकुल है। इसे न जाने कब तुम्हारे दर्शन होंगे? तुम्हारे वियोग में इसे एक-एक पल, एक-एक क्षण भारी हो रहा है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दार्थ—बेर-बेर = बारम्बार। **आसाढ़ाँ** = आसाढ़ मास लगते ही। 'मेघदूत' में आसाढ़ की प्रथम घन-घटा को देखकर ही विरही यक्ष को अपनी प्रिया की सुधि हो आई थी। **कुरलहै** = मेघों के लिए कातर हो-हो पुकारते हैं। घन = स्वाति-घन से तात्पर्य है। **चात्रग** = चातक।

तीजाँ = तीज का त्यौंहार। तीज और गणगोर राजस्थान के विशिष्ट सांस्कृतिक पर्व हैं। सावन मास के शुक्ल-पक्ष की तृतीया कुमारियों व सौभाग्यवती ललनाओं का एक अनूठा अनुराग पर्व है। सौभाग्यवतियाँ इस दिन अपने प्रवासी प्रियतम के संयोग की कामना करती हैं, उन्हें घर लौट आने का आह्वान करती हैं। उनके इन आह्वान-गीतों में प्रणय की उद्दाम रस-धारा छलकी पड़ती है, जिसके दुर्निवार आकर्षण से प्रेरित हो कोसों दूर बसता हुआ प्रेमी भी अपनी प्रिया के पास लौट आने के लिए आकुल हो उठता है। ये गीत की कड़ियाँ नहीं, स्वरों में पिरोई आँसुओं की लड़ियाँ हैं—

1. आई-आई सांवणीयाँ री तीज
हींडौ नै बंधावौ चंपाबाग में आलीजा जी म्हाँरा राज।
दे गल् बाँही मारवण सूं
हींडै म्हाँरौ भंवर सुजाण ॥[1]

और, ससुराल में अटकी एक परिणीता बेटी की यह पुकार तो किस माँ के मन को व्यथित नहीं कर देगी—

2. आई-आई माँ सावणिया री तीज।
माय सा पहले ने सावण मत राखे धिया ने सासरे।
मेलो-मेलो ए मा, बडोड़ो बीर।[2]

राजस्थान की इन्हीं सांस्कृतिक परम्पराओं में पली मीराँ के मन में सावन की तीज पर यदि अपने प्रियतम श्याम की याद उभर आई हो तो अस्वाभाविक क्या है?

दूरी जिन····मेलै = दूर न छोड़ो, वियुक्त न रखो। उदाहरण—
मेल्ही काँई [तूँ] ओलगि जाई।[3]

सीप स्वाति····झेलती = सीप का मुँह स्वाति-मेघ से निःसृत बूँद को झेलने हेतु खुल जाता है। रहीम का दोहा प्रसिद्ध है।

कदली, सीप, भुजंग मुख, स्वाति एक गुन तीन।

देव काती में पूजहे = धार्मिक क्रिया-कलापों व पूजार्चन की दृष्टि से राजस्थानी लोक-जीवन में, विशेषतः महिलाओं के जीवन में, कातिक मास का विशेष

1 रसलै रा राज गीत (महाराजा मानसिंहजी, जोधपुर) पृष्ठ 148, 'परम्परा'।
2 राजस्थानी लोकगीत, स्व. सूर्यकरण पारीक, पृ० 48.
3 बीसलदेवरासो; सं. सत्यजीवन वर्मा, पृ० 47.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

महत्त्व है। राजस्थान में कार्तिक मास में प्रातः स्नान, देवार्चन, भजन-कीर्तन आदि का विशेष आयोजन किया जाता है। कार्तिक मास में शुक्ल पक्ष की एकादशी को राजस्थान में 'देवऊठणी ग्यारस' (देवोत्थानी एकादशी) कहते हैं। धार्मिक विश्वासानुसार इस दिन भगवान् विष्णु सोकर उठते हैं। अतः इसका बड़ा माहात्म्य माना गया है। एक प्राचीन राजस्थानी ग्रन्थ से कार्तिक मास में होने वाले धार्मिक कृत्यों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

"तठा उपरान्ति देव जागिग्रा छै। काती मास रा बरत महोछव कीजै छै। घरि-घरि दीपमालिका रा बणाव हुइ नै रहिया छै।"[1]

अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के कारण मीराँ की कार्तिक मासान्तर्गत होने वाले इस देव-पूजार्चन में विशेष अभिरुचि होना स्वाभाविक है।

म्हालो = देखो; निहारो; कृपा-दृष्टि डालो। **माह** = माघ मास में (राज॰ 'माह')। **मही** = महीने में।

फागां..........गावँ हो। = 'फाग' नामक गीत-विशेष, जो फाल्गुन मास में गाए जाते हैं। गुजरात व राजस्थान में 'फागु' गीतों की एक अत्यन्त समृद्ध परम्परा रही है। डॉ॰ भोगीलाल साँडेसरा ने 'प्राचीन फागु-संग्रह' में इनका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। 'फागु' गाने सम्बन्धी कुछ उल्लेख देखिए—

1. फाग गाइ सवि गोरड़ी, जब आवइ मधुमास।[2]
2. गाइ अभिनव फाग, साचवइ श्री राग।[3]

फागुन..........खेलहैं = फागु के गाए जाने के साथ-साथ प्राचीन फागु-काव्य में 'फाग रमने', 'फाग-खेलने' आदि के भी विशद उल्लेख मिलते हैं। इनसे प्रतीत होता है कि वसन्तोत्सव से सम्बद्ध ये क्रीड़ाएँ कितनी व्यापक एवं लोकप्रिय थीं।

'फागु' या 'फाग' खेलने सम्बन्धी कुछ उल्लेख देखिए—

1. फागु खेलइ ते फरि-फरि नेमि जिणेसर बारि।[4]
2. फागु वसन्ति जि खेलइ, बेलइ सुगुण निधान।
   विजयवन्त ते छाजइ, राजइ तिलक समान॥[5]
3. आ फागण मासे फाग घट-घट खेलेरे।
   ए भाँतभांतनां भेष भाव न मेहेले रे॥[6]

1 राजान राउत रो बात वणाव, राज. सा. सं; भाग 1; पृ॰ 33; रा. पु. मं; जयपुर।
2 जयवन्तसूरिकृत 'स्थूलिभद्र-कोशा प्रेम विलास फाग'; प्रा. का. सं; सं. डॉ. साँडेसरा।
3 नारायण फागु, कडी 43.
4 पद्मकृत 'नेमिनाथ फाग', कड़ी 9.
5 जम्बुस्वामी फाग (अज्ञात कवि-कृत), कड़ी 59.
6 प्रागदासजी नी बारमासो।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सामूहिक रागरंग और हर्षोल्लास भरी ये फाग-क्रीड़ाएँ विरहिणियों के लिए दुःखदायी होती थीं, इसका भी बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है—

आज सखी मन कंपए, तालावेलि करेइ;
फागु-खेलण-दिन आवीउ, प्रिय देसान्तर लेइ ।।[1]

वणराइ = वनराजि; वृक्षावलि । श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसका अर्थ 'वनराज = जंगल के राजा' कर डाला है, जो प्रसंगानुसार निरर्थक और भ्रान्त है । 'वणराइ' वस्तुतः बनराजि, या वन-वृक्षावलि का वाचक है. जिसके सैंकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं । कुछ देखिए—

1. सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब **वनराइ** ।[2]
2. **खूंदन** तो धरती सहै, बाढ़ सहै **बनराइ** ।।[3]
3. कसिम परीमल रहिणउ जाइ, वनि वनि वहिस्यु [तौ] **वणराइ** ।[4]
4. व्यग्रचित वन लांघियउ, चालि गया चीत्रउडि ।'
   नाना विध **वनराइ** जिहा, चित्रांगदनी ठउडी ।।[5]

विद्ववर चतुर्वेदीजी द्वारा ऐसी अर्थ-भ्रान्ति चिन्त्य है ।

जरावै = जलाती है । विरहोद्दीपन कर हृदय में दाह उत्पन्न करती है। मधुवन को हरा-भरा देखकर सूर की गोपियाँ भी तो उसे कोसती हुई कह उठी थीं—

मधुवन तुम कत रहत हरे ।
विरह-वियोग स्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे ।

चैत चित्त......**ऊपजी** = चैत्र मास में प्रिय-मिलन की चाह मन में जाग उठी है । इसी भाव का यह राजस्थानी दोहा देखिए—

1. चैत मास की चाँनणी, कोयल बिच कूकंत ।
   पिव प्यारी नै पीव बिन, बैरण लगै बसन्त ।।[6]

तथा 2. चैत्र मासाँ चतुरंगी नारि । प्रिय विण जीवूं कवण अधार ?[7]

काग....**गया** = लोक-विश्वासानुसार प्रिय के आगमन की बात कहकर कौए को उड़ाए जाने पर यदि वह उड़ जाता है तो प्रिय-मिलन का असंदिग्ध सूचक माना जाता है । स्त्रियाँ प्रायः यह कहती हुई कौए को उड़ाती हैं—'उड़जा रे कागला...... आवे तो ।' इस पर यदि कौआ उड़ जाता है तो विरहिणी के हर्ष का कहना ही क्या ! राजस्थान में तो इस प्रसंग को लेकर शताधिक लोक-गीत हैं हीं, अपभ्रंश

1 विरह देसाउरी फाग; कड़ी 1.
2 कबीर-ग्रन्थावली ।
3 वही ।
4 चुपइ फागु (अज्ञात कवि-कृत) ।
5 सीताराम चौपाई, पृ० 44, समयसुन्दर-रचित ।
6 रसराज, 'परम्परा' ।
7 बीसलदेवरासो, पृ० 68, सं. सत्यजीवन बर्मा ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

काव्यों में भी इसके द्वारा प्रोषितपतिका नायिका के मिलनोत्साह की मार्मिक व्यंजना हुई है। यथा, आचार्य श्री हेमचन्द्र का यह दोहा देखिए—

वायसु उड्डावन्तिअए, पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥[1]

बूझूँ पिंडत जोसी = मध्ययुग में प्रवासी प्रियतम के आने की संभावित तिथि जानने के लिए विरहिणी नायिकाएँ प्रायः ज्योतिषियों अथवा पण्डितों की शरण जाया करतीं थीं। गाँवों की वृद्ध, भोली-भाली महिलाओं में यह आस्था अभी कुछ समय पहले तक भी विद्यमान थी, जो अब शिक्षा के प्रसार तथा विज्ञान-युग के प्रभाव से तेजी से लुप्त होती जा रही है। चन्द्रसखी भी इसी हेतु पण्डित का आह्वान करती है—

ना जाणूँ, कद घर आसी नणदी को बीर।
पण्डित आवो, सुगन मनाऊँ, जिया धरत नहिं धीर ॥[2]

विशेष—विरह-वर्णन के अन्तर्गत 'बारहमासा'-वर्णन की अपभ्रंश व हिन्दी-काव्य में एक प्राचीन परम्परा रही है। प्रस्तुत पद्य में बारहों महीनों का एक साथ ही वर्णन हुआ है, जिसके द्वारा प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण हुआ है। इस प्रकार की वर्णन-पद्धति यद्यपि परम्परागत है, तथापि इसमें परम्परा-निर्वाह में भी जनपदीय विशेषता है। तीज, फागोत्सव आदि राजस्थानी जन-जीवन के सांस्कृतिक पर्व हैं। इन सांस्कृतिक पर्वों के सन्दर्भ में विरह-वर्णन और भी मर्मस्पर्शी होगया है क्योंकि इसके पीछे प्रिय-संयोग अथवा प्रिय-मिलन की शत-सहस्रों वर्ष पुरानी परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं, जो राजस्थानी जन-मानस को आज भी रसोद्वेलित करने की क्षमता रखती हैं।

जोगिया जी ! आवो ने या देस।
नैणज देखूँ नाथ मेरो, ध्याइ करूँ आदेस।
आया साँवण मास सजनी, भरे जल-थल-ताल।
रावल कुण बिलमाइ राख्यौ, बिरहनि है बेहाल।
बिछड़ियाँ कोई भौ भयो, रे जोगी ! ऐ दिन अहला जाइ।
एक बेरि देहु फेरी, नगर हमारे आइ।
वा मूरत मेरे मन बसे, रे जोगी ! छिन भी रह्यौ न जाइ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनाशी, दरसण द्यौ हरि आइ ॥78॥

व्याख्या—हे जोगिया जी ! आप हमारे इस देश में भी आओ न ! अर्थात् हमें भी अपने दर्शन-प्रसाद से कृतार्थ करो। यदि मैं अपने नाथ (जोगी) को एक बार

1 अपभ्रंश-व्याकरण हेमचन्द्राचार्य।
2 चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत, पृ० 46.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भी अपनी आँखों से देख पाऊँ तो दौड़कर नमस्कार करूँ। हे सखी! सावन-मास आ गया है। सब स्थल व तालाब-सरोवरादि जल से भर गए हैं। न जाने किसने मेरे प्रियतम को अपने प्रेम में लुभाकर रोक रखा है, जिसके फलस्वरूप वह इस उद्दीपक पावन ऋतु में भी आ नहीं पा रहा है। इधर यह विरहिणी उसके बिना बेहाल हो रही है; व्याकुल हो रही है। हे योगी! तुम्हें मुझसे बिछुड़े पूरा जन्म बीत गया; जन्म से ही मैं तुम्हारी वियोगिनी हूँ। तुम्हारे विरह में मेरे जीवन के ये दिन निष्फल जा रहे हैं। हे योगी! कम से कम एक बार तो हमारे नगर में आकर फेरी दे जा, जिससे मैं तेरे दर्शन कर लूँ। तेरी वह मधुर मूर्ति अभी तक मेरे मन में बसी हुई है तथा अब तो क्षण भर भी तेरे बिना मुझसे रहा नहीं जाता। हे मीराँ के अविनाशी प्रभु! हे कृष्ण! अब आप शीघ्र आकर दर्शन दो।

शब्दार्थ—जोगिया जी = प्रियतम को प्यार भरा सम्बोधन। जैसा कि हम कह आए हैं, मीराँ पर नाथ व सन्त-मत की शब्दावली का प्रभाव यत्किंचित् रहा है, तथापि 'जोगिया' शब्द एकान्ततः नाथ-सम्प्रदायपरक ही नहीं है, जैसा कि अब तक समझा जाता रहा है। यह राजस्थानी काव्य में, रूढ़ व विशिष्टार्थ में, प्रियतम के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, जिसके उदाहरण स्वरूप निम्न पंक्तियाँ देखिए—

रसीलेराज **जोगिया** की मिहर तें
गोकुल त्रियन के वस किए हैं प्रान।[1]

अतः 'जोगिया' आदि शब्दों की इस विशिष्ट प्रयोग-परम्परा को देखते हुए इन शब्दों के आधार पर मीराँ का सम्बन्ध किसी जोगी-विशेष से जोड़ने अथवा उसे नाथ-सम्प्रदायानुयायिनी मानने की बात कोई महत्त्व नहीं रखती है। इन शब्दों का विशद्, विवेचन हम समीक्षा-खण्ड में कर आए हैं।

नैणज = नयनों से।

नाथ = जोगियों को बोलचाल में किया जाने वाला आदरसूचक सम्बोधन। राजस्थान में जोगियों को आज भी 'नाथ' या 'नाथजी' कहकर ही पुकारा जाता है। नाथ-मतावलम्बी होने के कारण 'नाथ' शब्द इनकी उपाधि बन गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'नाथ' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना, इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है, जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण।[2] श्री गोरखनाथ को इसी कारण नाथ कहा जाता है।"[3]

आदेस = नमस्कार, प्रणाम। योगियों में प्रचलित अभिवादन-शब्द।

1 रसीले राज रा गीत (महाराजा मानसिंहजी, जोधपुर) पृष्ठ 132 'परम्परा'।
2 नाथ सम्प्रदाय, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 3.
3 वही, नाकारोऽनादि रूप थकार; स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रय मेवैकः श्री गोरक्ष नमोऽस्तु ते॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उदाहरण—

1. सिध साधक योगी भणी रे, जाय कियो **आदेस** ।[1]
2. ध्रुवं रवि चन्द्र सु ध्यान धरेस ।
आदेस आदेस आदेस आदेस ।।146।।[2]
3. **आदेस** अजंपा हो आलेख, तू भव सम्बन्ध संसार भेख ।[3]

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसका अर्थ निवेदन किया है, जो अयुक्त है।

रावल = प्रियतम । रावल शब्द अनेकार्थवाची है । यह राजाओं व सामन्तों की उपाधि का द्योतक होने के साथ-साथ जोगियों के एक भेद तथा चारणों के एक वर्ग-विशेष का भी वाचक है । प्राचीन राजस्थानी साहित्य में यह सामान्य जोगी के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है । यथा—

1. जागा जोगी कनक **रावलिया**, गुरुदेव मेंहलौ बूठौ ।[4]
2. सुण रावत, जोगी कहै, करि **रावल** को वेस ।
इक सबदी भिख्या करो, यह मेरा उपदेश ।[5]

यहाँ पद में 'जोगिया जी' एवं 'नाथ' शब्दों का उल्लेख हुआ हे । अतः उक्त सम्बोधनों के सन्दर्भ में 'रावल' शब्द का वाच्यार्थ जोगी किया जा सकता है । परन्तु भावार्थ में यह प्रियतम का ही वाचक है, जैसा कि इस अर्थ में इसके प्रयोग की राजस्थानी काव्यों में परम्परा रही है । उदाहरणार्थ—दाम्पत्य-प्रेम के एक लोकगीत में एक मानिनी नायिका की यह उक्ति देखिए—

म्हे **रावल** सूँ नांय बोलां,
पखवाड़ा रो कोल कर्‌यो छो, छै मींना सूँ आया ढ़ोला,
म्हे **रावल** सूँ नांय बोलां ।[6]

विलमाइ = लुभाकर, प्रीत में फुसलाकर । **भौ** = जन्म; सं. भव । **अहला** = व्यर्थ; सं. अफल । देहु = दो । **फेरी** = चक्कर, साधु-संन्यासियों द्वारा नगर में घूमने को 'फेरी' देना कहते हैं ।

1 पद्मिनी चरित्र चौपई—लब्धोदय, पृष्ठ 10.
2 हरिरस—ईसरदास, पृष्ठ 61, सं. बदरीप्रसाद साकरिया ।
3 पीरदान लालस-ग्रन्थावली, पृ. 35.
4 गोरखवानी, पृ. 125, सं. डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ।
5 गोरा-बादल-चौपई, जटमल नाहर-कृत, पृ. 184.
6 एक लोकगीत, राजस्थानी [2] पृ. 88.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जोगिया ने कहज्यो जी आदेस। (टेक)
जोगियो चतुर सुजाण सजनी, ध्यावै संकर सेस।
आऊँगी मैं नाँ रहूँगी (रे म्हारा) पीव बिना परदेस।
करि किरपा प्रतिपाल मो परि, राखो न अपणै देस।
माला मुदरा मेखला रे बाला, खप्पर लूँगी हाथ।
जोगणि होई जुग ढूँढसूँ रे म्हारा रावलियारी साथ।
सावण आवण कह गया बाला, कर गया कौल अनेक।
गिणता-गिणता घँस गई रे, म्हाँरा आँगलियाँरी रेख।
पीव कारण पीली पड़ी बाला, जोवन बाली बेस।
दासि मीराँ राम भजि कै, तन मन कीन्हौं पेस ॥79॥

व्याख्या—हे सखी! जोगिया से हमारा प्रणाम कहना। जोगी परमगुणी और स्नेही है तथा शिव व शेष भी उसकी आराधना करते हैं। अर्थात वह सब देवी-देवताओं का वन्द्य है। हे सखी! मैं अपने प्रियतम के वियोग का दुःख बहुत झेल चुकी हूँ। उसके बिना अब मैं और अधिक न सह सकूँगी एवं अपने प्रवासी प्रियतम के पास चली जाऊँगी। हे भक्तों के प्रतिपालक! कृपा कर मुझे अपने देश में ही रखो न; अर्थात् मुझे सदा अपने चरणाश्रय में ही रहने का सौभाग्य दो न; [अथवा, मुझ पर कृपा कर मेरा प्रतिपालन करो एवं मुझे अपने ही देश में रखो न]। हे प्राणवल्लभ! मैंने तेरे लिए जोगिन होने का निश्चय कर लिया है। अर्थात् तुझे पाने हेतु मैं माला-मुद्रा और मेखला पहन कर खप्पर हाथ में ले लूँगी तथा जोगिन बनकर संसार भर में तेरी खोज करने के लिए निकल पड़ूँगी व सदा अपने प्यारे जोगी (प्रियतम) के साथ ही घूमती रहूँगी। हे वल्लभ! तुम सावन में आने को कह गए थे, परन्तु अभी तक तुम नहीं आए। इधर तुम्हारे आने के दिन गिनते-गिनते मेरी अँगुलियों की रेखाएँ भी घिस गई हैं। हे प्राणवल्लभ! यौवन की इस बाल्ही (प्रिय) वयस में [अथवा, नव-तारुण्य की इस वय में] एक तुम्हारे ही कारण तो मैं विरह में पीली पड़ गई हूँ। अर्थात् अपनी इस प्यारी यौवनास्था में, जबकि तारुण्य का उन्मेष अंग-प्रत्यंग में गदराया रहता है, मैं तुम्हारे ही विरह में बिसूर-बिसूर कर पाण्डुर पड़ गई हूँ; असमय ही कृशांगी होगई हूँ। दासी मीराँ ने तो अपने आराध्य राम का भजन कर अपना तन-मन सर्वस्व उन्हीं के चरणों में समर्पित कर दिया है।

शब्दार्थ—**आदेस** = प्रणाम, नमस्कार। **चतुर** = गुणी। **सुजाण** = स्नेही, प्रेमी, रूप-भेद 'सैण'। **नांह** = नहीं। **प्रतिपाल** = 1. हे प्रतिपालक! (सम्बोधन) अथवा 2. मेरा प्रतिपालन करें (क्रिया)। **देस** = राज्य में, भावार्थ में अपने आश्रय में। **मुद्रा** = योगियों द्वारा कान में पहनी जाने वाली बाली। **मेखला** = करधनी, जिसे योगी पहनते हैं। **बाला** = वाल्हा, प्रियतम, (सं. वल्लभ)। **जुग** = जगत (जग) उदाहरण—

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

'यह जुग है काँटे की बाड़ी, देषि पग धरणां ।'[1]

रावलिया = राजा या जोगी (भावार्थ में प्रियतम) ।

जोबन'....बेस = यौवन की बाल्ही (प्यारी) वयस में । 'बाली' शब्द 'बाल्ही' के अर्थ में जूनी गुजराती और प्राचीन राजस्थानी में बहुशः प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि इस शब्द की प्रयोग-परम्परा से प्रकट है—

1. हिमनी **बाली** कमलिनीजी, जिन दीसंई बिछाय ।[2]
2. म्हारी **बाली** नणद रा बीरा ।[3]

वस्तुतः 'जोबन बाली बेस' या 'बाली बेस' एक काव्य-रूढ़ि प्रतीत होती है, जिसका प्राचीन व मध्ययुगीन साहित्य में प्रचुर प्रयोग हुआ है ।

उदाहरणार्थ—

1. घर पाखइ वगडई वासइ, देस बिना परदेस ।
   पणि प्रीउ पाखइ नवि सरइ, **यौवन बाली बेस** ।।[4]
2. रूप अपूरब **बालिय बेस** ।[5]
3. सींगी जलि भरि पाणीइ तू, नवरंग छाटइ **बाली बेस** तू ।[6]
4. जोगी मत होवो **बाली बेस** में ।[7]

तथा इसी से मिलती-जुलती समानार्थक शब्दावली है—

5. कुल आवइ काटा प्रदेस, सोल अढारी चड़ती वेसि ।[8]
6. वालंभु विणजिडी चालियउ, मूकिय **जोबनि बेसि** ।।[9]

यौवन अस्थिर होता है । अतः मध्ययुगीन प्रेमाख्यानक काव्यों में जीवन-वसन्त के इस मधुर काल के प्रति कवियों का विशेष प्रशंसाभाव रहा है, जिसकी अस्थिरता का बारम्बार उल्लेख कर वे समग्र रहते उसका यथासम्भव उपभोग कर लेने का सन्देश देते हुए थके नहीं हैं । पेस = समर्पित ।

विशेष—विरह-वर्णन की पारम्परिक शैली में लिखा होने के कारण इस पद में अनेक काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग मिलता है । उदाहरणतः प्रेमिका का प्रियतम के

1 गोरखवानी, पृ० 26.
2 सीताराम चौपाई (समयसुन्दर), पृष्ठ 42.
3 रसीले राज रा गीत (महाराजा मानसिंहजी, जोधपुर), पृष्ठ 138 'परम्परा' ।
4 माधवानल-कामकंदला-प्रबन्ध, कवि गणपति-विरचित ।
5 बीसलदेवरासो, पृष्ठ 89, सं. सत्यजीवन वर्मा ।
6 कामीजन-विश्राम-तरंग-गीत (अज्ञात कवि-कृत) प्रा. फा. सं., पृष्ठ 110.
7 गोपीचन्द लोकगीत, 'वरदा', वर्ष 2 अंक 1, पृष्ठ 60.
8 चुपइ फागु (अज्ञात कवि-कृत) प्रा. फा. सं., पृष्ठ 112.
9 मोहिनी फागु (अज्ञात कवि-कृत) प्रा. फा. सं., पृष्ठ 109.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पास परदेश चले जाने, उसके लिए माला–मेखला धारण कर जोगिन बन जाने, प्रियतम द्वारा सावन में आने की कहकर भी न आने, अवधि के दिन गिनते-गिनते अंगुलियों की रेखाएँ घिस जाने, प्रिय-विरह के कारण तरुण वय में ही शरीर पाण्डुर होजाने आदि के वर्णन वस्तुतः काव्य-रूढ़ ही हैं, जिनका किंचित् रूपान्तर के साथ, अनेक कवियों ने उल्लेख किया है। परन्तु वर्णन-पद्धति वही है। यथा—

1. आँगुली गिणताँ दिन गया।
   काग उडावतां दूषइ छइ वाँह ।।[1]
2. आँगुलड़ी ही गलि गयां, नयन न बांचण देस।[2]
3. जमला मैं जोगण भई, पैरे म्रग की खाल।
   बन बन सारो ढूंढियौ, करत जमाल जमाल ।।[3]
4. साँवरे की खातर जोगन हूँगी, घर-घर ढूँगी फेरी।[4]

परन्तु परम्परागत होते हुए भी मीराँ द्वारा जोगन बन कर अपने प्रियतम को ढूँढने व उसको अपना सर्वस्व न्योछावर करने सम्बन्धी वर्णनों का एक और भी पक्ष है। वस्तुतः आत्म-समर्पण ही प्रेम का सार है। अपने प्रिय के लिए सर्वस्व त्याग ही प्रेमी का सर्वोपरि मनोरथ है। मीराँ भी अपने अनन्य प्रियतम 'जोगिया' (श्रीकृष्ण) के लिए जोगन तक बनने को उद्यत होजाती है। यह विरह की चरम स्थिति है, जिसमें अपने आराध्य की प्राप्ति के लिए कठोर से कठोर साधना भी वरणीय हो जाती है। वह प्रेमानुरक्ता विरहिणी जोगन बन अपने साँवरिया को पाने के लिए मचल उठती है। अपने प्यारे जोगिया के लिए प्रेम-योगिनी बन घर-घर उसकी खोज करने के लिए व्याकुल होजाती है। यही आकुलता है, यही तड़प है, जो मीरां की पंक्तियो में विविध शब्द-माध्यमों से फूट पड़ी है। यह नाथ या और किसी पन्थ का प्रभाव नहीं, पेम-पन्थ की विवशता है; योग की चाह नहीं, वियोग की आह है!

थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ !
मैं हाजिर नाजिर कबकी खड़ी ।।टेक।।
साजनियाँ दुसमण होय बैठ्या, सबने लगूँ कड़ी।
तुम बिन साजन कोइ नहीं है, डिगी नाव समँद अड़ी।
दिन नहिं चैन, रैन नहिं निंदरा, सूखूँ खड़ी-खड़ी।
बाण बिरह का लग्या हिये में, भूलूँ न एक घड़ी।
पत्थर की तो अहिल्या तारी, बन के बीच पड़ी।
कहा बोझ मीराँ में कहिये, सौ पर एक घड़ी ।।80।।

1 बीसलदेवरासो, पृष्ठ 76, सं. सत्यजीवन वर्मा।
2 ढोला–मारू रा दूहा–144. सं० डॉ० शंभुसिंह मनोहर।
3 रसराज, पृष्ठ 65, परम्परा, सं. नारायणसिंह भाटी।
4 चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत, पृष्ठ 45.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—हे दीनानाथ ! अब तो आप तनिक मेरी ओर देखो; कृपा-दृष्टि डालो। मैं दर्शनोत्सुका आपकी सेवा में कबसे हाजिर खड़ी हूँ ! हे दीनबन्धु ! मुझे तो केवल आपका ही भरोसा है। मेरे सब स्वजन-सम्बन्धी दुश्मन हुए बैठे हैं तथा मैं सबको ही बुरी लगती हूँ। कोई मुझे फूटी आँखों नहीं देखना चाहता। मेरे तो केवल आप ही प्रियतम हैं। आपके सिवा मेरा कोई अपना नहीं हैं। मेरी जीवन-नैया डगमगाती हुई भव-सागर में अटक गई है। अब आप ही इसे पार लगाओ। आपके बिना मुझे न दिन में चैन पड़ता है, न रात में नींद आती हैं। मैं विरह-दाह से दग्ध हुई खड़ी-खड़ी सूख रही हूँ। विरह का बाण मेरे हृदय में लग गया है, जिसे मैं एक क्षण भी भूल नहीं पाती। अर्थात् मैं आपके विरह-बाण से विद्ध हो उसकी वेदना से अनुक्षण छटपटा रही हूँ। हे प्रभु ! आपने अपने पद-स्पर्श से वन में उपेक्षित व शिलारूप में जड़ हुई पड़ी अहल्या का भी उद्धार कर दिया था। फिर भला इस मीराँ में ही कौन विशेष बोझ है, जो आप उसका उद्धार नहीं कर रहे हैं ? अहल्या की तुलना में तो मेरे पाप सौ में एक धड़ी अर्थात् पंसेरी बराबर (नगण्य) ही हैं। अतः आपने जब उसका उद्धार कर दिया तो हे कृपालु ! मेरे उद्धार में ही क्या अड़चन आ रही है ?

शब्दार्थ—उघाड़ो = खोलो। **हाजिर** = उपस्थित

नाजिर = देखने वाली, दर्शनोत्सुक। (अरबी शब्द है)। यदि 'नाजिर' को 'नजर' का रूपान्तर मानकर 'हाजिर-नजर' को सहचारी शब्द माना जाए तो अर्थ होगा 'आपकी नजरों तले हाजिर' या आपकी सेवा में उपस्थित। मीराँ यहाँ अपने परमाराध्य दीनानाथ कृष्ण की सेवा में उपस्थित हुई उनसे अपनी ओर कृपा-दृष्टि डालने का अनुनय कर रही हैं। अपने परमपुरुष कृष्ण के चरणों में समर्पित मीराँ के इस अनुरोध में भारतीय नारी का शील अपनी सम्पूर्ण गरिमा में मुखर उठा है।

साजनियाँ = स्वजन या सगे-सम्बन्धी। **कड़ी** = कड़वी; बुरी। **साजन** = 1. हे साजन ! (सम्बोधन)। 2. सम्बन्धी; अपना, प्रिय। **डिगी** = डगमगाती हुई। **अहल्या** = गौतम-पत्नी अहल्या के साथ ऋषि की अनुपस्थिति में काम-मोहित हुए देवराज इन्द्र द्वारा व्यभिचार किए जाने पर ऋषि ने अहल्या को शिला हो जाने का शाप दिया और कहा कि त्रेता में जब भगवान् राम वनवास करेंगे तब उनके चरण-स्पर्श से तेरा उद्धार होगा। तदनुसार भगवान् राम के पद-स्पर्श से अहल्या शाप-मुक्त हुई। महाकवि तुलसी ने केवट-प्रसंग में इस घटना का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। **वण** = वन।

सो पर·······धड़ी = एक लोकोक्ति है, जिसका मीराँ ने बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। 'धड़ी' एक पंसेरी तोल को कहते हैं। 'सो पर एक धड़ी' का तात्पर्य है सौ की तुलना में पाँच सेर, अर्थात् नगण्य। भावार्थ में मेरे (मीराँ के) पाप अहल्या की तुलना में नगण्य हैं, फिर मेरा उद्धार करने में आपको क्या हिचक होरही है ?

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विशेष—तुलनीय—

'बाण विरह का''''''''एक घड़ी ।'—

जाइ पूछो उस घाइलै, दिवस पीड़ तिस जाग ।
वाहण हारा जाणि है, कै जाणै जिण लाग ।।[1]

'दिन नहीं चैन''''''''खड़ी-खड़ी ।'—

नयणे नाठी नींदड़ी जी, अन्न न भावइ लगार ।
पाणी पणि नूतरंइ गलइ जी, हीयडु फाटणहार ।।[2]

म्हारा ओलगिया ! घर आज्यो जी ।
सुख-दुख खोलि कहूँ अन्तर की, बेगा बदन बताज्योजी ।
च्यार पहर च्यारूँ जुग बीत्या, नैणाँ नींद न आवैजी ।
पूरण ब्रह्म अखंड अविनासी, तुम बिन बिरह सतावैजी ।
नैणाँ नीर आभ ज्यूँ झरणा, ज्यूँ रे मेघ झड़ लायाजी ।
रतवंती इत राम कंत बिन, फिरत बदन बिलखायाजी ।
साधू सजन मिलै सिर साटै, तन-मन करूँ बधाईजी ।
जन मीराँ नै मिलो कृपा करि, जनमि-जनमि मिंतराईजी ।।81।।

व्याख्या—हे मेरे प्रवासी प्रियतम ! घर लौट आओ ! आपके आने पर ही मैं आपको अपने मन की सुख-दुःख की वात खोल कर कहूँगी । अतः शीघ्र दर्शन दो । आपके वियोग में चार पहर चार युग से बीतते हैं तथा मुझे आपके बिना नींद नहीं आती । आप पूर्ण ब्रह्म, अखंड और अविनाशी हैं । मुझे आपका विरह सताता है । पावस के आकाश की तरह मेरी आँखों से अविरल अश्रुधारा झरती है, मानों बादलों ने वर्षा की झड़ी लगादी है । अपने प्रियतम राम के विना उनकी यह प्रेमानुरागिनी व्याकुल-बदन विलखती फिरती है । साधु और सज्जन सिर के मोल भी मिलें तो मैं अपने तन-मन से उनकी अभ्यर्थना करूँ । हे प्रियतम ! अपनी दासी मीराँ पर कृपा कर अब आप शीघ्र मिलो । आपके और मेरे बीच तो जन्म-जन्म की प्रीति है ।

शब्दार्थ—ओलगिया = परदेशी या प्रवासी प्रियतम । 'ऊलग' या 'ओलग' प्रवास-सेवा के अर्थ में मध्ययुगीन राजस्थानी साहित्य में बहुशः प्रयुक्त हुआ है । विद्वद्वर डॉ. दशरथ शर्मा ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—''विशेषतः (सैनिक) सेवा के अर्थ में 'ऊलग' शब्द का प्रयोग हुआ है । 'ऊलगाणा' 'ऊलग' करने वाले के लिए प्रयुक्त है ।''

1 कबीर-ग्रन्थावली ।
2 सीताराम चौपाई; समयसुन्दर; पृ. 41.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

डॉ. शर्मा के अर्थ की पुष्टि हम्मीरायण के इस दोहे से हो जाती है—

उलगाणा खायइ सदा, ऊरण होह इक बार।
चाड घणी ठाकुर तणी, सारइ दोहिली बार ॥

वस्तुतः 'ओलगिया' या 'उलगाणा' शब्द अर्थसंकोच के फलस्वरूप कालान्तर में प्रवास सेवी प्रियतम के स्थान पर केवल प्रवासी प्रियतम के ही अर्थ में रूढ़ होगया एवं मध्यकालीन काव्यों में यह प्रायः इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मीराँ ने भी यहाँ प्रवासी प्रियतम के अर्थ में ही इसका प्रयोग किया है। मध्ययुग में 'ओलग' गए हुए (ओलगिये या उलगाणे) प्रियतम के कारण उसकी प्रिया को कितनी पीड़ा, कितना कष्ट उठाना पड़ता था, इसका अनुमान इन पंक्तियों से किया जा सकता है—

जोबन राखो चोर ज्युं,
पगी पगी स्वामी लागु हूं पाय।
ईणी भवि उलिगाणौ हुवौ,
आवतइ भवि होई कालो हो साँप ॥

'ओलगिया' शब्द में राजस्थान की विरहिणी नारी का वह दर्द ही घनीभूत होकर उभर पड़ा है, जिसके साथ प्रिय के दीर्घ प्रवास-काल की न जाने कितनी कष्ट और संकटों से भरी गाथाएँ जुड़ी हुई हैं, जिसके फलस्वरूप यह शब्द मध्य-युगीन नारी की प्रिय-विरह-जन्य वेदना का ही प्रतीक बन गया है।

बेगा = शीघ्र। **बदन** = मुख। **आभ** = 1. आकाश, 2. बादल। **रतवंती** = अनुरागिनी; प्रेममयी। **सिर साटै** = सिर के मोल। **बधाई** = अभ्यर्थना, अभिनंदन। **मितराई** = प्रीति; मित्रता।

म्हारे घर आवो स्याम, गोठड़ी कराइयै।
आनंद उछाव करूँ, तन मन भेंट धरूँ।
मैं तो हूँ तुम्हारी दासी, ताकूँ तो चितारियै।
गगन गरजि आयौ, बदरा बरसि भायौ।
सारंग सबद सुनि, ब्रिहनी पुकारियै।
घर आवो स्याम मेरे, मैं तो लागूँ पाँय तेरे।
मीराँ कूँ सरणि लीजै, बलि बलिहारियै ॥82॥

व्याख्या—हे श्याम! हमारे घर आइए और हमें अपने आतिथ्य सत्कार का सौभाग्य दीजिए। (अन्यार्थ-अथवा हमें अपने प्रीति-संभाषण का सुख दीजिए)। आपके आगमन पर मैं आनन्दोत्सव मनाऊँगी तथा अपना तन-मन आपके अर्पित कर दूँगी। मैं तो आपकी दासी हूँ। आप तनिक इसे तो स्मरण कीजिए; इस पर तो आप विचार कीजिए। आकाश में बादल गर्जन करते हुए घुमड़ आए हैं तथा

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अतुल जल-वृष्टि करने लगे हैं। पपीहे (अथवा मोर) की पुकार सुन विरहिणी भी अपने प्रियतम को पुकार उठी है। हे श्याम! मेरे घर आइए। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ। मीरा को अपनी शरण में लीजिए। यह आप पर बारम्बार बलिहारी जाती है—न्यौछावर होती है।

शब्दार्थ—गोठड़ी = गोठ या गोठड़ी (सं० गोष्ठि) अनेकार्थक शब्द है। सामान्यतः प्रीतिभोज के अतिरिक्त यह (1) आतिथ्य-सत्कार, मेहमानदारी या मेजबानी (राज. 'मिजमानी') तथा (2) बातचीत, मुख्यतः प्रीति-वार्ता अथवा प्रेम-संभाषण का भी वाचक है। हमारे विचार से यहाँ प्रसंग-परम्परानुसार प्रथम अर्थ—आतिथ्य-सत्कार या मेहमानदारी ही उद्दिष्ट प्रतीत होता है, जो राजस्थानी काव्यों में उपलब्ध इस शब्द की प्रयोग व भाव-परम्परा से भी पुष्ट है। उदाहरणतः—

1. भोजन विविध चाव भूंजाई, सदा नव नवी गोठ सवाई।[1]
2. आजौ म्हाँरै सांवड़ला थे मिजमांन आज।[2]
3. पना मारू चालौ म्हांरै घर मिजमांन।
   तन मन करस्याँ अजी वारणै रै॥[3]
4. सांवलड़ा थे आज्यो जी मिजमांन।[4]

तथापि, जूनी गुजरात या राजस्थानी में यह प्रेम-वार्ता के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणतः—

1. कवहीं दुज्जण सरसि **गोठ**, कि सज्जन वंचणा,
   दैव नचावइ नाचि, तेणी परि नाचणा।[5]

इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ. साँडेसरा लिखते हैं—"गोठ, स्त्री० प्रेम भरी बात (सं० गोष्ठि—गोट्ठि सर० गुज० 'गोठडी', 'गोठियो' इत्यादि)।"[6]

2. 'इवकै जणांगा म्हें पूतजी,
   म्हें तो करां ए साजनियां सैं **गोठड़ी** जी।'[7]

उछाव = उत्सव। यहाँ 'उछाव' शब्द 'उत्सव' से व्युत्पन्न व उसीका वाचक है, जिसके राजस्थानी में उच्छव, उच्छब, उच्छरंग, उछवाह, उछाव, उछाह आदि अनेक रूप-भेद प्रचलित हैं।[8] 'उत्साह' का अपभ्रष्ट रूप भी 'उछाव' या 'उछाह'

1 राजरूपक, रतनू वीरभांण-कृत।
2 रसीलैराज रा गीत (महाराज मानसिंहजी, जोधपुर) 'परम्परा' पृ. 101.
3 वही, पृ. 149.
4 वही, पृ. 199.
5 नल दवदंती रास, पृ. 43 : सं० डॉ. भोगीलाल साँडेसरा।
6 देखिए 'शब्द कोश'—नल दवदंती रास, डॉ. भोगीलाल साँडेसरा।
7 राजस्थानी लोकगीत : सं. रावत सारस्वत, पृ. 93 (बधावो लोकगीत)।
8 देखिए राजस्थानी सबद कोस, प्रथम खण्ड, पृ. 268 : सं. सीताराम लालस।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

होता है, परन्तु प्रसंगानुसार अर्थभेद किया जाना चाहिए। यहाँ हम उदाहरणों द्वारा इस अन्तर को स्पष्ट करेंगे। उछाव या उछाह शब्द के उत्सववाची प्रयोग के निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

1. देस मालागिर हुवउ हों **उछाव** ।[1]
   राजमती कउ रचउ वीवाह ॥

2. नितवा मौरे आइलौ मोरी मा,
   करूँगी मैं आनंद **उछाह** मा ।[2]

3. सखियां मारू नूँ कहइ, हुवउ अणंद **उछाव** ।[3]

इसी भाँति, इसके उत्साहवाची प्रयोग के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

1. जिण वेला रो म्होकसिंघरो तेज अरु **उछाह** ईसड़ो दरसावै तिणरो कवेसुर बाषाण करै तो ही **उछाह** अरु प्राक्रमरो पार न पावै ।[4]
2. पइसारो सबलो सज्यो रे, अति घणो अंगि **उछाह** रे ।[5]
3. धम जग्र तोप **उछाह** की, तम्बूर त्रम्बक बज्जयं ।[6]

इनसे स्पष्ट हो जाता है कि 'उछाह' या 'उछाव' शब्द प्रसंगानुसार 'उत्सव' व 'उत्साह' दोनों का बोध कराता है। यहाँ प्रस्तुत पद में 'आनन्द उछाव करूँ' पाठ है। अतः अर्थ होगा—'आनन्दोत्सव मनाऊँ' न कि 'आनन्द उत्साह करूँ।'

चितारियै = याद कीजिए, विचारिए। **सारंग** = अनेकार्थक शब्द है, परन्तु यहाँ मोर या पपीहे का अर्थ लेना संगत है। ब्रिहनी=विरहिणी।

भीजे म्हाँरो दाँवन चीर, सावणियो लूम रह्यो रे। (टेक)
आप तो जाय विदेसाँ छाये, जिवड़ो धरत न धीर।
लिख-लिख पतियाँ संदेसा भेजूँ, कब घर आवै म्हाँरो पीव।
मीराँ के प्रभू गिरधर नागर, दरसन दो ने बलवीर ॥83॥

व्याख्या—सावन की घटाएँ घिर आई हैं, जिन्हें देख-देखकर श्याम के विना मेरा आँचल-छोर आँसुओं से भीगा जा रहा है। वे आप तो परदेश में जा बैठे हैं और हमें विरह का दुःख झेलने के लिए यहाँ छोड़ गए हैं। मेरा हृदय किसी भाँति भी तो धीरज नहीं धर रहा है। प्रिय-मिलन के लिए यह अतिशय आकुल होरहा है। मैं बार-बार पत्र लिख-लिखकर संदेश भेजती हूँ कि मेरे प्रियतम घर

1 वीसलदेवरासो, पृ. 15, सं. सत्यजीवन वर्मा।
2 रसीलै राज रा गीत (महाराजा मानसिंहजी, जोधपुर) पृ. 99, 'परम्परा'।
3 ढोला-मारू रा दूहा; सं० डॉ० शंभुसिंह मनोहर।
4 प्रतापसिंघ म्होकमसिंघरी वात, 35; रां. सा. सं, भाग 2.
5 सीताराम चौपाई, पृ० 184.
6 लावारासा।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

आएँ और मुझे दर्शन दें। परन्तु प्रियतम आए नहीं। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधरलाल! हे कृष्ण! अब तो दर्शन दो न!

शब्दार्थ—दाँवन-चीर = आँचल या आँचल-छोर। उदाहरण—

'तोरा कंचुवा समाल पला दावन का।'[1]

लूम रह्यो = झुक रही, घिर रही (भावार्थ में सावन की घटाओं से आशय है)। **बलवीर** = कृष्ण।

मेरे प्रीतम प्यारे राम कूँ, लिख भेजूँ रे पाती। (टेक)
स्याम सनेसो कबहुँ न दीन्हौ, जानि बूझ गुझबाती।
डगर बुहारूँ, पंथ निहारूँ, जोइ जोइ अँखियाँ राती।
तुम देख्यां बिन कल न पड़त है, हीयो फटत मेरी छाती।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, पूरब जनम के साथी ॥84॥

व्याख्या—अपने प्राण-प्यारे प्रियतम राम को मैं बारम्बार पत्र लिख-लिखकर भेजती हूँ, लेकिन श्याम की ओर से एक भी सन्देश नहीं आया। अर्थात् स्वयं अपनी ओर से सन्देश भेजना तो दूर, उन्होंने मेरे पत्रों का उत्तर तक नहीं दिया। कैसे निष्ठुर हैं वे? लगता है, वे जान-बूझकर इस प्रीति की बात को गुप्त रखना चाहते हैं। इसीलिए लोक-लाज से डरते वे सन्देश तक नहीं भेजते, यह सोच कर कि कहीं यह निगूढ़ प्रीति का रहस्य प्रकट न हो जाए। इधर मैं उनकी अहर्निश प्रतीक्षा करती रहती हूँ। उनकी डगर (मार्ग) बुहारती हुई सतत उनके आने की राह देखा करती हूँ, जिसे देखते-देखते मेरी आँखें भी लाल होगई हैं। तुम्हें देखे बिना मुझे रात-दिन एक पल भी चैन नहीं मिलता तथा विरह के दारुण दुःख से मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है; छाती फटी जाती है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु! आप कब मिलोगे? आप, जो मेरे पूर्व जन्म के साथी हैं; मेरे जन्म-जन्मान्तरों के जीवन-संगी हैं।

शब्दार्थ—जानि बूझ = जान बूझ कर। **गुझबाती** = गुप्त-बात; [सं॰ गुह्य-वार्ता] प्रच्छन्न प्रीति की बात! जूनी गुजराती या प्राचीन राजस्थानी में 'गुझ' शब्द 'छानी बात', के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है [सं॰ गुह्य, प्रा॰ गुज्झ, सर. गुज. गूझूं = खीसूं][2]

उदाहरणतः—

1. पंनरपिं गुझ प्रकासी कहइ, एकि झीलइ एकि पालइ रहइ।[3]

1 रसीले राज रा गीत: पृ॰ 124: 'परम्परा'।
2 देखिए डॉ. भोगीलाल ज॰ सांडेसरा की टिप्पणी–प्राचीन फागु संग्रह, पृष्ठ 255.
3 अज्ञात कवि-कृत 'चुपइ फागु', प्रा. फा., सं., पृष्ठ 112.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तथा—

2. सा भलि सषि गूझ
मझ वालंभ आव्यु ढूकडु रे ।[1]

3. सुभट परीक्षा जाणीइ, हुइ ज्यारइ झूझ ।
गंभीर पणाँ तूं पारखूं, राखी रहइ चित्ति गूज्झ ॥[2]

4. ए तुम्ह नइ हो कही गुह्यनी वातकि,
स्त्री नउ रूप प्रगट कीयउ ।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से पता चलता है कि 'गुझ' या 'गूझ' शब्द 'गुप्त बात' और विशेषतः 'प्रेम की गुप्त बात' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ भी प्रसंगानुसार 'गुझवात' शब्द से यही उद्दिष्ट है।

राती = लाल (सं० रक्तिम)। **हीयो** = अन्तर्मन।

मेरे घर आवौ सुन्दर स्याम। (टेक)
तुम आया बिन सुख नहीं मेरे, पीरी परी जैसे पान।
मेरे आसा और न स्वामी, एक तिहारो ध्यान।
मीराँ के प्रभु बेग मिलौ अब, राखो जी मेरो मान ॥85॥

व्याख्या—हे श्यामसुन्दर ! मेरे घर आओ। तुम्हारे आए विना मेरे सुख नहीं है। अर्थात् मैं सुखी नहीं हूँ एवं तुम्हारे विरह में मैं पत्ते की तरह पीली पड़ गई हूँ। हे नाथ ! आपके सिवा मेरे और कोई आशा नहीं है। आप ही मेरे एकमात्र अवलम्ब हैं एवं मैं केवल आपका ही ध्यान किया करती हूँ। मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! आप शीघ्र मिलो तथा मेरी लाज रखलो। अर्थात् दर्शन दे कर मेरी टेक रखलो।

शब्दार्थ—**सुन्दर श्याम** = श्यामसुन्दर। **पान** = पत्ता (सं० पर्ण)।

गोविंद गाढा छौ जी, दील रा मिंत। (टेक)
वार निहारूँ, पंथ बुहारूँ, ज्यूँ सुख पावै चित।
मेरे मन की तुमही जानौ, मेरे ही जीव नीचिंत।
मीराँ के प्रभु हरि अबिनासी, पूरब जनन को कंत ॥86॥

व्याख्या—हे गोविन्द ! तुम मेरे मन के गाढ़े (पक्के या घनिष्ट) मीत हो ! मेरे सच्चे प्रियतम हो। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी देखा करती हूँ; तुम्हारी बाट जोहती रहती हूँ तथा नित्य तुम्हारे आने का मार्ग बुहारती रहती हूँ क्योंकि

1 अज्ञात कवि-कृत फागु; प्रा. फा. सं.।
2 नल दवदंती रास, पृष्ठ 82, सं. डॉ. साँडेसरा।
3 समयसुन्दर-रचित सीताराम चौपाई, पृ. 57, सं. अगरचंद, भँवरलाल नाहटा।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इससे मेरे मन को सुख मिलता है। मेरे मन की पीड़ा को, मेरे हृदय की व्यथा को बस तुम्हीं जानते हो; इसीलिए मेरे प्राण भी निश्चिन्त हैं क्योकि मुझे यह सन्तोष है कि मेरी विरह-वेदना तुमसे छिपी नहीं है। मीराँ के आराध्य तो अविनाशी कृष्ण हैं और वे ही उसके पूर्व भव के स्वामी हैं, प्रियतम हैं।

शब्दार्थ—गाढ़ा = पक्के, घनिष्ट या सच्चे (सं० प्रगाढ़)। इस अर्थ में इसका राजस्थानी काव्यों में प्रचुर प्रयोग हुआ है। उदाहरण—

1. हरसा बीर मेरा रै,
   बैनड़ भाई री **गाढ़ो** नेह।[1]
2. मांहो मांहि हे सखि! मांहो मांहि हे रंग,
   गाढ़ा हे सखि! **गाढ़ा** सुख दोन्यूं सगाजी।[2]
3. म्हारा **गाढ़ा** मारू वसोनी आजरी हो रैणा।[3]

दीलरा = दिल के; मन के। **मिंत** = मीत; प्रेमी, प्रियतम। **बार** = द्वार। **नीचिंत** = निश्चिन्त। **कंत** = पति, स्वामी।

मैं तो तोरे चरन लगी गोपाल! (टेक)
जब लागी तब कोउ न जाने, अब जानी संसार।
किरपा कीजौ, दरसण दीजौ, सुध लीजो ततकाल।
मीराँ कहै प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल बलिहार ॥87॥

व्याख्या—हे गोपाल! मैं तो आपके चरणों में आ लगी हूँ। अर्थात् मैं आपके चरणों में अनुरक्त होगई हूँ। जब प्रथम बार यह अनुराग जगा था (जब मेरी आपसे प्रीति हुई थी) तब यह भेद किसी ने नहीं जाना था परन्तु अब तो यह बात जगत में विख्यात होगई है, सर्व-विदित होगई है। अतः आप इस प्रीति के प्रकट होने का संकोच छोड़कर अब मुझे शीघ्र ही दर्शन दीजिए। यह प्रीति का भेद तो प्रकट हो चुका है, फिर डर काहे का? हे प्रियतम! मेरी अविलम्ब सुधि लीजिए। मैं आपके वियोग में व्यथित हूँ। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधरलाल! मैं तो आपके चरण-कमलों पर बलिहारी हूँ।

शब्दार्थ—चरण लगी = चरणों में अनुरक्त होगई हूँ (आपसे प्रीति कर ली है, नेह लगा बैठी हूँ)। **जब लागी** = जब प्रारम्भ में नेह लगा ही था।

1 एक राजस्थानी लोकगीत।
2 पद्मिनी चरित्र चौपाई, लब्धोदय-कृत, पृ. 15.
3 एक लोकगीत, राजस्थान का वासन्तिक पर्व गणगोर; सं. दीनदयाल ओझा, पृ० 89.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सांवरिया ! म्हारी प्रीतड़ली तो न्हिभाज्यो । (टेक)
प्रीत करो तौ स्वामी ऐसी कीज्यो, अधबिच मत छिटकाज्यो ।
तुम तो हो स्वामी गुण रा सागर, म्हारा ओगण चित मत ल्याज्यो ।
काया-गढ़ घेरा जो पड़्या छै, ऊपर आप रखाज्यो ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, चरणाँ चित्त रखाज्यो ॥88॥

व्याख्या—हे श्याम ! मेरे प्रति अपनी प्रीति तो निभाना ! अर्थात् मुझसे प्रीति करो तो सच्ची करना; अध बीच में छोड़ मत देना ! हे स्वामी ! आप तो अनन्त गुण निधान हैं; मेरे अवगुणों पर ध्यान मत देना । इस शरीर रूपी गढ़ के चारों ओर माया-मोहादि षट् विकारों तथा जरा-रोगादि व्याधियों ने घेरा डाल रखा है । इन शत्रुओं से रक्षा करने हेतु आप मुझ पर अपनी कृपा-दृष्टि बनाए रखना । हे मीराँ के आराध्य गिरधरलाल ! मेरे मन को अपने चरणों में ही लीन रखना ।

शब्दार्थ—ऊपर = कृपा ।

मिलता जाज्यो हो जी गुमानी ! थाँरी सूरत देखि लुभानी । (टेक)
मेरो नाम बूझि तुम लीज्यो, मैं हूँ बिरह दिवानी ।
रात-दिवस कल नाहिं परत है, जैसे मीन बिन पानी ।
दरस बिना मोहिं कछु न सुहावे, तलफ-तलफ मुरझानी ।
मीराँ तो चरणन की चेरी, सुण लीजो सुखदानी ॥89॥

व्याख्या—हे मेरे गर्वीले प्रियतम ! मेरे मान-भरे साजन ! तुम मुझसे मिलते हुए ही जाना; बिना मिले न चले जाना । मैं तेरी सूरत (सुन्दर रूप-छवि) देख कर लुभा गई हूँ । अर्थात् तेरे सौन्दर्य-सम्मोहन से मोहित हो चुकी हूँ । अतः तुझे देखने के लिए मैं उत्कण्ठित और अधीर हो रही हूँ । यदि तुम्हें मेरा घर ढूँढने में कठिनाई हो तो किसी से भी मेरा नाम पूछ लेना । सभी जानते हैं कि मैं तुम्हारी विरह-दीवानी हूँ; तुम्हारे प्रेम में पागल हूँ । इस विरह-विह्वला को भला कौन नहीं जानता है ? मुझे तुम्हारे बिना रात और दिन, एक पल भी चैन नहीं मिलता एवं तुमसे वियुक्त हुई मैं वैसे ही तड़पती हूँ, जैसे जल के बिना मछली । हे प्रियतम ! मुझे तुम्हारे दर्शन बिना और कुछ भी नहीं सुहाता एवं यदि तुमने शीघ्र दर्शन न दिए तो मैं निश्चय ही तड़प-तड़प कर मर जाऊँगी । मीराँ तो एकमात्र तुम्हारे ही चरणों की दासी है—इस बात को हे सुखदायक ! भली प्रकार सुन लेना । अर्थात् तुम्हें छोड़कर यह और कहीं भी तथा किसी का भी आश्रय लेने वाली नहीं है ।

शब्दार्थ—गुमानी = गर्वीले; मानी प्रियतम । अतिशय प्रीतिवश अपने प्रियतम को इस सम्बोधन से पुकारा गया है । प्रियतम का यह मान-भरा रूप प्रियतमा के लिए दुखद होने पर भी सुखद है । क्यों ? यह शायद प्रीति का ही कोई

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रहस्य है ! राजस्थानी प्रेम-गीतों में इस प्यार और खीज भरे सम्बोधन की परम्परा रही है । उदाहरण—

1. रसराज प्रीति लगाई तो साँवरे,
   लोकां दे वहांणै नहीं सरमाणा **गुमानीड़ा** ।
2. झूठी ना करो, मैं तो थारी,
   कांई तकसीर करी छै सायबा **गुमानीड़ा** ।

सुखदानी = सुख-दाता; सुख दायक ।

विशेष—जैसाकि हमने पुस्तक की भूमिका में "मीराँ के 'जोगी' या 'जोगिया' का मर्म" शीर्षक लेख में तथा अन्यत्र भी यथाप्रसंग स्पष्ट किया है, मीराँ द्वारा अपने आराध्य कृष्ण के लिए प्रयुक्त—जोगी, जोगिया, सायब, गुमानीड़ा, आदि शब्दों का अर्थ हमें राजस्थानी काव्यों में प्रचलित प्रियतमवाची विशाल सम्बोधन-परम्परा के संदर्भ में ही ग्रहण करना चाहिए अन्यथा हम मीराँ के आराध्य एवं उसकी प्रेमा भक्ति के विषय में गहरा धोखा खा जाएँगे । हमारे हिन्दी के अधिकांश मूर्धन्य विद्वानों ने इस तथ्य से अपरिचित होने के कारण कभी मीराँ का सम्बन्ध निर्गुण सम्प्रदाय से जोड़ दिया है तो कभी किसी नाथ मतानुयायी जोगी विशेष से ! इससे बढ़ कर मीराँ के विषय में और कोई भ्रांति नहीं हो सकती । उन विद्वानों को चाहिए कि मीराँ पर कलम उठाने से पहले राजस्थानी की इस विशिष्ट भाव-गर्भित सांस्कृतिक शब्दावली का अध्ययन करें ताकि वे यहाँ के प्रेम-काव्यों में प्रयुक्त प्रियतमवाची शब्दों की विशिष्ट परम्परा से परिचित हो सकें ।

कोई कहियौ रे प्रभु आवन को, आवन की मन भावना की । (टेक)
आप न आवै, लिख नहिं भेजै, बाँण पड़ी ललचावन की ।
ए दोइ नैण कह्यौ नहिं मानैं, नदियाँ बहै जैसे सावन की ।
कहाँ करूँ नहिं बस मेरो, पाँख नहीं उड़ जावन की ।
मीराँ कहै प्रभु ! कबरे मिलोगे, चेरी भई हूँ तेरे दावन की ।।90।।

व्याख्या—अरे ! कोई प्रभु से आने की कहे; मेरे मनभावने प्रियतम को आने की विनती करे । वे न तो आप आते हैं न संदेश ही भेजते हैं । उन्हे तो ललचाने की आदत पड़ गई है । इधर मैं उनके विरह में रो-रो कर बेहाल होरही हूँ । मेरे ये दोनों नेत्र कहा नहीं मानते; समझाए समझते नहीं, जिसके फलस्वरूप इनसे ऐसी अविरल अश्रुधारा उमड़ रही है, जैसे सावन की नदियाँ बहती हैं । हाय ! मैं क्या करूँ ? मेरा अपने पर वश नहीं रहा है । अर्थात् श्याम का वियोग मेरे लिए असह्य होगया है । पंख होते तो मैं उड़कर उनके पास चली जाती । मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! आप कब मिलोगे ? मैं तो आपके दामन की चेरी हूँ । आपकी चरणाश्रिता दासी हूँ । मुझे दर्शन देकर कृतार्थ कीजिए ।

शब्दार्थ—**दावन** = दामन ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

आग्रो मनमोहनाजी ! जोऊँ थारी बाट । (टेक)
खान-पान मोहि नेक न भावै, नैण न लगे कपाट ।
तुम आयाँ बिन सुख नहिं मेरे, दिल में बहोत उचाट ।
मीराँ कहे मैं भई रावरी, छाँडो नाहिं निराट ॥91॥

व्याख्या—हे मनमोहन ! आग्रो, मुझे दर्शन दो; मैं आपकी बाट जो रही हूँ । आपके बिना मुझे खान-पान आदि कुछ भी अच्छा नहीं लगता तथा मेरे नयन-कपाट आपकी दर्शनाशा में सदा खुले रहते हैं । अर्थात् मैं अनिमेष एवं अपलक नयनों से आपकी प्रतीक्षा करती रहती हूँ । आपके आए बिना मुझे तनिक भी सुख नहीं है तथा मन सदा विरक्त और उदास रहता है । अर्थात् मेरा मन सदा आपमें बसा होने से और किसी में भी नहीं लगता । वस्तुतः मीराँ तो आपके बिना (आपके वियोग में) पागल होगई है । आप इसे निपट निरवलम्ब न छोड़ दीजिए ।

शब्दार्थ—उचाट = विरक्त व उदास । किसी काम में मन न लगने की मनस्थिति । गहन दुःख से उत्पन्न मन का विरक्ति-जन्य अवसाद ।

निराट = निपट, एकदम । उदाहरण—

1. कर जोड़ै भाऊ कँवर, नटियो साच **निराट** ।[1]
2. निरमल होऊँ **निराट**, तैं भेट्यां भागीरथी ।[2]

तुम सुनो दयाल म्हारी अरजी । (टेक)
भौसागर में बही जात हूँ, काढो तो थारी मरजी ।
यो संसार सगो नहिं कोई, साँचा सगा रघुवरजी ।
मात-पिता और कुटुम्ब कबीलो, सब मतलब का गरजी ।
मीराँ की प्रभु ! अरजी सुन ल्यो, चरण लगाओ गिरधरजी ॥92॥

व्याख्या—हे दयालु ! आप मेरी प्रार्थना सुनलो । मैं इस संसार-सागर में बही जारही हूँ; आपकी मर्जी हो तो निकाल लो । अर्थात् इस भव-चक्र से मेरा उद्धार करदो । यह संसार बड़ा स्वार्थी है । यहाँ अपना कोई नहीं है । सब स्वार्थ के साथी हैं । यदि कोई सच्चे सम्बन्धी हैं तो एकमात्र भगवान् राम । अन्यथा माता-पिता तथा कुटुम्ब-परिवार तो सब अपने मतलब के गरजी हैं । हे प्रभु ! हे गिरधरलाल ! आप मीराँ की प्रार्थना सुन लो तथा इसे अपने चरणों में आश्रय दे दो ।

शब्दार्थ—काढो = निकालो ।

1 वंशभास्कर ।
2 पृथुदास ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पिया ! तें कहाँ गयो नेहरा लगाय ? (टेक)
छाँडि गयौ अब कहाँ बिसासी, प्रेम की बाती बराय।
विरह-समुद्र में छाँडि गयो पिव ! नेह की नाव चलाय।
मीराँ के प्रभु ! गिरधरनागर, तुम बिनु रह्यौ न जाय ॥93॥

व्याख्या—हे प्रियतम ! तुम मुझसे नेह लगा कर (प्रीति जोड़ कर) कहाँ चले गए ? हे विश्वासघाती ! प्रेम की बाती जलाकर तुम मुझे यों बीच में ही कहाँ छोड़ गए ? हे प्रियतम ! प्रेम की नौका चला कर तुम मुझे इस अपार विरह-सिन्धु में निरवलम्ब छोड़ कर चल दिए। हे मीराँ के आराध्य गिरधरलाल ! तुम्हारे बिना अब रहा नहीं जाता। तुम्हारा असह्य विरह अब सहा नहीं जाता।

शब्दार्थ—बिसासी = विश्वासघाती ।

देखत राम हँसे सुदामाँ कूँ, देखत राम हँसे। (टेक)
फाटी तो फुलड़ियाँ, पाँव उभाणे, चलते चरण घसे।
बालपणे का मिंत सुदामा, अब क्यों दूर बसे।
कहा भावज ने भेंट पठाई, तांदुल तीन पसे।
कित गई प्रभु ! मोरी टूटी टपरिया, हीरा-मोती-लाल कसे।
कित गई प्रभु ! मोरी गउ अरु बछिया; द्वारां बिच हाथी फसे।
मीराँ के प्रभु ! हरि अबिनासी, सरणौं तोरे बसे ॥94॥

व्याख्या—राम (कृष्ण) अपने बाल्य-सखा सुदामा को देखते ही सौहार्द्र से हँस पड़े। उनके पैरों में बिबाई फटी हुई थीं, नंगे पैर थे तथा पैदल चलने से पद-तल घिस गए थे। मिलते ही कृष्ण ने पूछा—'मेरे बाल्य-सखे सुदामा ! तुम मुझसे इतने दूर कहाँ जा बसे, जो कभी दीखे ही नहीं ? भला यह तो बताओ कि भाभी ने हमारे लिए क्या भेंट भेजी है ?' इस पर सुदामा ने अपनी पत्नी द्वारा साथ बाँधे गए तीन मुट्ठी चावल बड़े संकोच से सामने रख दिए (जिन्हें श्याम चटखारे ले-ले कर खा गए !)। जब विदा लेकर लौटे तो देखा कि उनकी टूटी टपरिया नदारद है ! यह देख बेचारे हैरान हुए सुदामा सबसे पूछते फिरे—"हाय प्रभु ! मेरी वह टूटी टपरी कहाँ चली गई ? यहाँ तो हीरे, मोती और लाल लटक रहे हैं ! और प्रभु ! मेरी वह गाय और बछिया कहाँ गई ? यहाँ तो द्वार पर हाथी डटे हुए हैं !" हे मीराँ के आराध्य अविनाशी प्रभु ! यह तुम्हारी ही लीला थी। मीराँ ने भी तुम्हारी ही शरण ली है।

शब्दार्थ—फुलड़ियाँ = बिवाइयाँ; फूलड़ी = बिबाई। पसे = पसर, मुट्ठी।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गली तो चारों बन्द हुई, मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय ? (टेक)
ऊँची-नीची राह रपटणी, पाँव नहीं ठहराय।
सोच-सोच पग धरूँ जतन से, बार-बार डिग जाय।
ऊँचा-नीचा महल पिया का, हमसे चढ्या न जाय।
पिया दूर पंथ म्हारो झीणो, सुरत झकोला खाय।
कोस-कोस पहरा बैठ्या, पैंड-पैंड बटमार।
हे विधना ! कैसी रच दीन्हीं, दूर बस्यो घर बार।
जुगन-जुगन से बिछड़ी मीराँ, घर लीन्हा मैं पाय।
मीराँ के प्रभु ! गिरधरनागर ! सतगुरु दिया बताय ॥95॥

व्याख्या—प्रभु-मिलन का मार्ग (प्रेम का मार्ग) बड़ा कठिन है; बाधाओं से भरा है। चतुर्दिक कोई राह नहीं सूझती; फिर भला मैं हरि से जाकर कैसे मिलूँ ? ऊँची-नीची राह फिसलन-भरी है, जहाँ पाँव नहीं ठहरते। मैं सोच-समझ कर बड़ी सावधानी से पैर रखती हूँ पर फिर भी बार-बार डिग जाता है। मेरे पिया का महल ऊँचा-नीचा है, जहाँ हमसे चढ़ा नहीं जाता। उधर, पिया दूर हैं तथा उन तक जाने का मार्ग संकरा है; ध्यान की नाव मोहादि षट् विकारों की लहरों से बारम्बार झकोले खारही है। कोस-कोस पर पहरे बैठे हुए हैं तथा पद-पद पर लुटेरे घात लगाए बैठे हैं। हे विधाता ! तुमने यह प्रेम-मार्ग कैसा संकटापन्न बनाया है। मेरा घर-बार बहुत दूर बसा हुआ है। हे मीराँ के आराध्य गिरधरलाल ! यह आपकी असीम अनुकम्पा है, जो युग-युग से बिछुड़ी मीराँ ने अपना घर पा लिया है; अपने परम प्राप्य तक पहुँच गई है। सतगुरु (ईश्वर) ने ही यह मार्ग बताया हैं।

शब्दार्थ—**रपटणी** = फिसलनी। **पंथ····झीणो** = मार्ग सँकरा है। मिलाओ—'प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाय।' **सुरत** = ध्यान। **झकोला**=हिचकोले। **बटमार** = लुटेरे। **जुगन-जुगन से**=युग-युग से।

रे साँवलिया ! म्हारे आज रँगीली गणगोर छै जी। (टेक)
काली-पीली बादली में बिजली चमके, मेघ-घटा घनघोर छै जी।
दादुर-मोर पपीहा बोले, कोयल कर रही सोर छै जी।
आप रँगीला, सेज रँगीली और रँगीलो सारो साथ छै जी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर ! चरना में म्हारो सीर छै जी ॥96॥

व्याख्या—हे श्याम ! आज मेरे गणगोर का रंगीला पर्व है; आप अवश्य आएँ। काली-पीली बादलियों में बिजली चमक रही है। घनघोर घटाएँ घुमड़ आई हैं। दादुर, मोर और पपीहे बोल रहे हैं। कोयल 'कुहू-कुहू' ध्वनि करती कूज रही है। आप रंगीले (रसिक-प्रेमी) हैं; सेज भी रंगीली (प्रेम के मादक सपनों से सजी) है तथा आपका साथ (समवयस्क सखाओं का समूह) भी रंगीला है। सब

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तरफ रंगीनी ही रंगीनी है; प्रेम और सौन्दर्य का मस्ती-भरा माहौल है। ऐसे में, हे श्याम! आप दूर न रहें। हे मीराँ के आराध्य गिरधरलाल! मेरा तो आपके चरणों में ही आश्रय है।

शब्दार्थ—रँगीली = सुन्दर; मोहक। **साथ** = समूह; समवयस्क सखाओं की टोली। **सीर** = भाग, हिस्सा।

विशेष—तीज और गणगोर राजस्थान के विशिष्ट सांस्कृतिक त्योहार हैं; प्रेमियों के अनूठे अनुराग-पर्व, जिस दिन कोसों दूर बसता हुआ हर प्रवासी प्रियतम अपनी प्रिया के पास लौट आने को आकुल हो उठता है। श्याम की दीवानी मीराँ को भी आज गणगोर के रंगीले पर्व हर सहसा श्याम की याद आगई हो तथा वह मिलन-कामना से उद्वेलित हो उठी हो, तो अस्वाभाविक क्या है?

मीराँ के इस प्रणय-निवेदन में राजस्थान की सांस्कृतिक परम्पराओं की भी सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति होगई है।

लागी सोही जाणै कठण लगण दी पीर। (टेक)
विपद पड्याँ कोई निकट न आवै, सुख में सबको सीर।
बाहरि घाव कछू नहिं दीसै, रोम-रोम दी पीर।
जन मीराँ गिरधर के ऊपर, सदकै करूँ सरीर ॥97॥

व्याख्या—प्रेम की मर्मान्तक पीड़ा को वही जानता है, जिसे प्रेम की चोट लगी है; जो प्रेम में घायल हुआ है। सुख में तो सभी साझी होजाते हैं पर संकट में कोई साथ नहीं देता; पास भी नहीं फटकता। यह प्रेम की चोट भी कैसी विचित्र है। इसमें बाहर से कोई घाव दिखाई नहीं देता पर रोम-रोम पीड़ा से सिसकता है। प्रेम की ज्वाला एक ऐसी ही निर्धूम ज्वाला है, जिसमें मन रात-दिन प्रिय का ही ध्यान करता हुआ अन्तर्दाह में जलता है। मीराँ तो अपने आराध्य गिरधरलाल पर अपना तन-मन न्योछावर करती है।

शब्दार्थ—कठण = मर्मान्तक। **दी** = की। **सीर** = भाग।

सखी! म्हारो कानूडो कलेजे की कोर। (टेक)
मोर-मुकुट पीताम्बर सौहै, कुण्डल की झकझोर।
वृन्दावन की कुंज-गलिन में, नाचत नन्द किशोर।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर! चरण-कँवल चितचोर ॥98॥

व्याख्या—हे सखी! मेरा कन्हैया मेरे कलेजे की कोर है। प्राणों से भी प्यारा है। उसके मोर-मुकुट और पीताम्बर शोभित हैं तथा कानों में कुण्डलों की चकाचौंध हैं। वृन्दावन की कुंज-गलियों में वह नन्दकिशोर नाचता हुआ मन मोह लेता है। हे मीराँ के आराध्य गिरधरलाल! आपके चरण-कमलों पर मेरा मन रीझ-रीझ जाता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दार्थ—कलेजे की कोर = प्राणाधिक प्रिय। राजस्थान में अपने सर्वाधिक प्रिय के लिए कहा जाता है—'काल़जा की कोर।' **झकझोर** = जगमगाहट, चकाचौंध।

पिया! इतनी विनती सुनो मोरी। (टेक)
औरन सूँ रस-बतियाँ करत हो, हमसे रहे चित चोरी।
तुम बिन मेरे और न कोई, मैं सरणागत तोरी।
आवन कह गए, अजहुँ न आये, दिवस रहे अब थोरी।
मीराँ के प्रभु! कबरे मिलोगे, अरज करें कर जोरी ॥99॥

व्याख्या—हे प्रियतम! मेरी इतनी विनती तो सुनलो! क्या हम औरों से बुरे हैं, जो आप उनसे तो रस-भरी बातें करते हो और हमसे चित्त चुराते हो? क्या आप जानते नहीं कि मेरे तो सिवा आपके और कोई नहीं है? मैं तो अनन्य भाव से आप ही की शरण हूँ। आप कबके आने की कह गए थे पर अभी तक नहीं आए। अब तो जीवन के दिन थोड़े ही रह गए हैं। आप अभी नहीं आए तो फिर कब आएँगे? हे प्रभु! आप कब मिलोगे? मैं हाथ जोड़कर आपको अर्ज करती हूँ कि अब तो शीघ्र ही आकर दर्शन दीजिए।

शब्दार्थ—रस-बतियाँ = प्रेमालाप।

यहि विधि भगति कैसे होय? (टेक)
मन की मैल हिये तें न छूटी, दियो तिलक सिर धोय।
काम-कूकर, लोभ-डोरी, बाँधि मोह-चंडाल।
क्रोध-कसाई रहत घट में, कैसे मिले गोपाल?
बिलार-विषया लालची रे, ताहि भोजन देत।
दीन-हीन ह्वै छुधा-रत से, राम-नाम न लेत।
आप ही आप पुजाय के रे, फूले अँग न समात।
अभिमान-टीला किये बहु, कहु जल कहाँ ठहरात?
जो हिये अन्तर की जानै, तासों कपट न बनै।
हिरदै हरि को नाम न आवै, मुख ते मनिया गनै।
हरी हितु से हेत कर, संसार आसा त्याग।
दासि मीराँ लालगिरधर! सहज कर वैराग ॥100॥

व्याख्या—इस तरह भक्ति कैसे हो सकती है? मन की मलिनता तो हृदय से दूर हुई नहीं और सिर धोकर तिलक लगा लिया। अर्थात् मन साफ हुए बिना बाहरी तिलक-छापा व्यर्थ है। काम रूपी शिकारी कुत्ते को लोभ की डोरी से बाँधे हुए मोह रूपी चण्डाल तथा क्रोध रूपी कसाई तुम्हारे मन-प्रांगणमें बसे हुए हैं। फिर भला गोपाल कैसे मिल सकते हैं? भाव यह कि काम-क्रोधादि षट् विकारों के मन में

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रहते भगवान् का स्वरूप हृदय में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। मन रूपी विषय-वासनाओं के लालची बिलाव को तुम सदा भोजनादि से तृप्त करते रहते हो तथा दीन-हीन और संयमी होकर कभी राम का नाम लेते नहीं। फिर तुम्हारे अंतःकरण में भगवद्भक्ति की इच्छा कैसे जागेगी? आप ही अपनी पूजा करवा कर तुम फूले नहीं समाते। फलतः तुम्हें अत्यधिक गर्व और अभिमान होगया है। ऐसे में, प्रभुभक्ति का जल तुम्हारे अभिमान रूप ऊँचे-ऊँचे टीलों पर कैसे ठहर सकता है? वह तो विनय और दैन्य की अंजलि में ही ग्राह्य है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो ईश्वर अन्तर्यामी है; सबके घट-घट की जानता है, उसीसे तुम कपट रखते हो? परन्तु उसके आगे तुम्हारा कपट चलेगा नहीं। तुम सच्चे मन से तो कभी राम का नाम लेने नहीं और केवल मुँह से जाप करते हुए माला के मणिये फेरते रहते हो। तुम्हारी यह कपट-लीला ईश्वर से छिपी नहीं है।

अतः यदि तुम सचमुच अपना उद्धार चाहते हो तो सांसारिक विषय-वासनाओं की मरीचिका को छोड़ कर परम हितैषी भगवान् से प्रेम करो। उनसे प्रीति जोड़ो। दासी मीराँ कहती है कि हे मानव! इन सांसारिक विषयों के प्रति सहज ही वैराग्य धारण कर। इनसे उपराम होजा। तभी तेरा कल्याण सम्भव है।

शब्दार्थ—छुधा-रत = क्षुधार्त; अर्थात् संयमी होकर।

विशेष—'हिरदै हरि....मनिया गनै' वाली पंक्ति कबीर के निम्नांकित दोहे से तुलनीय है—

चन्दन तिलक लगाया लम्बा, लम्बी माला जपता है।
पेट में तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है॥

तथा—

करका मनका छाँड कर, मन का मनका फेर।

चलो अगम के देश, काल देखत डरे। (टेक)
जहाँ भरा प्रेम का हौज, हंस केला करे।
ओढन लज्जा-चीर. धीरज को घाघरो।
छिमता-काँकण हाथ, सुमत को मूँदरो।
दिल दुलड़ी दरियाव, साँच को दोवड़ो।
उबटण गुरु को ग्यान, ध्यान को धोवणो।
कान अखोटा ग्यान, जुगत को झूटणो।
बेसर हरि को नाम, चूड़ो चित ऊजलो।
जेहरि सील सन्तोष, निरत को घूघरो।
बिंदली गज अरु हार, तिलक गुरू ग्यान को।
सजि सोलह सिणगार, पहिरि सोनै राखड़ी।
साँवलिया सूँ प्रीत, औराँ सूँ आखड़ी।
पतिबरता की सेज प्रभूजी पधारिया।
गावै मीराँबाई, दासी कर राखिया ॥101॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्या—उस अगम्य (ईश्वर) के देश को चलें, जिसे देख कर काल भी डर जाता है। अर्थात् जहाँ काल का वश नहीं चलता। वहाँ स्वच्छ प्रेम-जल से भरा हौज है, जहाँ हंस (मुक्तात्माएँ) क्रीड़ा करते हैं। वहाँ प्रियतम-रूप ईश्वर को रिझाने के लिए मैं स्थूल लौकिक शृंगार करूँगी। वह यह कि लज्जा की ओढ़नी होगी; धैर्य का घाघरा (अधो वस्त्र) होगा; हाथों में क्षमाशीलता के कंकण होंगे; अंगुलियों में सुमति (विवेक) की अँगूठी होगी; दरियादिली (मनोगत औदार्य) का दोलड़ा हार होगा; साँच का दोवड़ा होगा; गुरु-ज्ञान का उबटन होगा; ध्यान का प्रक्षालन (सफाई) होगा; ज्ञान रूपी कान का अखोटा होगा; युक्ति का झूटणा होगा; हरि-नाम की बेसर होगी; निर्मल मन का चूड़ा होगा; शील-सन्तोष की जेहरी होगी; ईश्वर की असीमता या अनन्तता का बोध रूपी घुँघरू होगा; गुरु-ज्ञान रूपी बिंदिया, गजमोतियों का हार और तिलक होगा। इस प्रकार सोलह शृंगार कर तथा सोने की राखड़ी सजा मैं अपने प्रियतम साँवलिया से प्रीति करूँगी तथा औरों से दूर रहने का व्रत लूँगी। ऐसी शृंगार-सज्जिता मुझ पतिव्रता की सेज पर अनुग्रह कर प्रभु पधारे तथा मीराँ को अपनी दासी बना कर कृतार्थ किया।

शब्दार्थ—**अगम** = ईश्वर। **हंस** = 1. हंस पक्षी एवं 2. मुक्तात्माएँ। **केला**= क्रीड़ा। **छिमता** = क्षमा। **दोवड़ो** = दो परत वाली ओढ़ने की चादर। उदाहरण—

पग-पग बावल चूँरी खुदायी, दीनी **दोवड़** दात।[1]

धोवणो = धोना; सफाई, प्रक्षालन। जैसे जल से धोकर घर-आँगन को साफ किया जाता है, वैसे ही भगवान् के ध्यान से मन को निर्मल करूँगी। **अखोटा** = एक कर्णाभूषण ?। **झूटणो** = एक शिरोभूषण। **बेसरि** = नथ। **जेहरि** = एक पादाभूषण। **निरत** = 1. नृत्य; भगवदार्चन, 2. 'सुरति और 'निरति' सन्त-साहित्य में बहुशः प्रयुक्त शब्द है। कबीर ने 'सुरति' को शरीर और मन से सम्बद्ध ससीमता की स्थिति माना है तथा 'निरति' को असीमता की। 'सुरति' को इसीलिए उन्होंने 'जाल' कहा है—

कबीर सूषिम सुरति का, जीव न जाणै जाल।

'सुरति' की स्थिति की 'निरति' में परिणति ही साधक का वांछ्य है—

सुरति समाणी निरति में, अजपा माँहे जाप।

आखड़ी = किसी कार्य को न करने का व्रत या प्रतिज्ञा। राजस्थानी साहित्य में रामदास वेरावत की 84 आखड़ियाँ प्रसिद्ध हैं।

दासी''''राखिया = यहाँ प्रिया-रूप में स्वीकारने से तात्पर्य है। परम्परागत भारतीय पत्नी अपनी सहज विनय-भावनावश अपने को पति की दासी ही समझती है। आज के नारी-समानाधिकार के युग में यह चाहे अनुचित जान पड़े किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अपने इसी उदार, सेवापरायण व्यक्तित्व के बल पर वह अपने पति की हृदय-स्वामिनी बन कर प्रतिष्ठित हुई है।

———

1 एक राजस्थानी लोकगीत।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

परिशिष्ट 1

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी, राजस्थानी व अन्य

1. अपभ्रंश-व्याकरण : आचार्य हेमचन्द्र
2. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डॉ० दीनदयाल गुप्त
3. ईरान के सूफी कवि : बाँकेबिहारी व कन्हैयालाल
4. उदयपुर राज्य का इतिहास (2 भाग) : म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
5. उत्तरी भारत की संत-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी
6. ऊमर-काव्य : ऊमरदान
7. ओलूं : डॉ० नारायणसिंह भाटी
8. कबीर : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
9. कबीर-ग्रन्थावली : सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास
10. कविकुलबोध : उदयराम बारैठ
11. कल्याणसिंघ नगराजोत वाढेल री वात।
12. कान्हड़दे प्रबन्ध : पद्मनाभ
13. कुमारपालप्रतिबोध : सोमप्रभसूरि
14. गज-उद्धार ग्रन्थ : महाराज अजीतसिंह जी, जोधपुर 'परम्परा'।
15. गुजराती और उसका साहित्य : पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
16. गोरखबानी : सं० डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
17. गोरखनाथ और उनका युग : डॉ० रांगेय राघव
18. 'गोरा हट जा' : 'परम्परा' जोधपुर
19. गोराबादलचौपाई : जटमल नाहर-कृत
20. घनानंद-कवित्त : पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
21. चन्द्रसखी और उनका काव्य : पद्मावती शबनम
22. चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत : सं० प्रभुदयाल मीतल
23. चौबोली : सं० डॉ० कन्हैयालाल सहल व प्रो० पतराम गौड़
24. चौरासी वैष्णवन की वार्ता : सं० द्वारकादास
25. जयमलवंशप्रकाश : ठा० गोपालसिंह राठौड़ मेड़तिया

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

26. जया-जयन्त : दलपतराम नान्हाराम
27. जायसी ग्रन्थावली : सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
28. जांभोजी : विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी का डी० लिट्० के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।
29. जेठवे सा सोरठा : 'परम्परा', जोधपुर
30. ढोला-मारू रा दूहा : ना० प्र० स० काशी, संपादकत्रय
31. ढोला-मारू रा दूहा : सं० डॉ० शंभुसिंह मनोहर
32. तसव्वुफ और सूफी मत : चन्द्रबली पाण्डेय
33. दादू दयाल का सबद : ना० प्र० स० काशी
34. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता : सं० ब्रजभूषण शर्मा तथा द्वारकादास पारीक
35. धनदत्त श्रेष्ठि चौपाई : समयसुन्दर
36. नरसी मेहता को बड़ो माहरो : प्र० बनवारीलाल दाधीच
37. नलदवदंतीरास : महीराज, सं० डॉ० भोगीलाल सांडेसरा
38. नागर-समुच्चय : नागरीदास, सं० बा० राधाकृष्णदास
39. नाथ-सम्प्रदाय : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
40. नाथपंथ और निर्गुण संत काव्य : डॉ० कोमलसिंह सोलंकी
41. पलक दरियाव री बात
42. पलटू साहब की बानी : बेलवेडियर स्टी० प्रि० व० इलाहाबाद
43. पश्चिमी भारत की यात्रा : कर्नल जेम्स टाड, अनु० गोपालनारायण बहुरा
44. पद्मिनी चरित्र चौपइ : लब्धोदय
45. प्रतापसिंघ-म्होकमसिंघ री बात : र० सा० सं०, भाग 2, सम्पादक डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
46. पाण्डवयशेन्दु-चन्द्रिका : स्वामी स्वरूपदासजी
47. प्राचीन फागु संग्रह : सं० डॉ० भोगीलाल सांडेसरा
48. प्राचीन साहित्य : कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर
49. पीरदान लालस-ग्रन्थावली : सं० अगरचन्द नाहटा
50. ब्रज-साहित्य का इतिहास : डॉ० सत्येन्द्र
51. बाँकीदास ग्रन्थावली (3 भाग) : ना० प्र० स० काशी
52. बिहारी सतसई :
53. बिहारी की वाग्विभूति : पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
54. बीसलदेवरासो : सं० सत्यजीवन वर्मा
55. भक्तनामावलि : ध्रुवदास
56. भक्तमाल : नाभादास

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

57. भक्तमाल : प्रियादास
58. भाटी वरसै तिलोकसी री बात
59. भीम प्रकाश : रामदान लालस
60. भोजन-विच्छित्ति (हस्तलिखित प्रति)
61. महिला-मृदुवाणी : मुंशी देवीप्रसाद
62. मध्यकालीन धर्म-साधना : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
63. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ : डॉ० सावित्री सिन्हा
64. मलूकदास की बानी
65. महाराजा जयसिंह आमैर रै धणी री वारता
66. मध्यकालीन प्रेम-साधना : परशुराम चतुर्वेदी
67. माधवानल-कामकंदला प्रबन्ध : गणपति, गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज, बड़ौदा
68. मारवाड़ का इतिहास (2 भाग) : पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ
69. मिश्रबन्धु विनोद
70. मीराँबाई और उनकी पदावली : देशराजसिंह भाटी
71. मीराँबाई का जीवन चरित्र : मुंशी देवीप्रसाद
72. मीराँ स्मृति ग्रन्थ : बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता
73. मीराँ : एक अध्ययन : पदमावती शबनम
74. मीराँ-मंदाकिनी : नरोत्तमदास स्वामी
75. मीराँ-माधुरी : ब्रजरत्नदास
76. मीराँ : जीवनी और काव्य : महावीरसिंह गहलोत
77. मीराँ-दर्शन : मुरलीधर श्रीवास्तव
78. मीराँबाई का काव्य : मुरलीधर श्रीवास्तव
79. मीराँ, सहजो और दयाबाई : वियोगी हरि
80. मीराँ-पदावली : विष्णुकुमारी मंजु
81. मीराँ-पदावली : परशुराम चतुर्वेदी
82. मीराँ की प्रेम-साधना : भुवनेश्वर मिश्र, 'माधव'
83. मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह : पद्मावती शबनम
84. मीराँबाई : डॉ० श्रीकृष्णलाल
85. मीराँबाई का जीवन-चरित्र : कार्तिक प्रसाद खत्री
86. मीराँ और उनकी प्रेमवाणी : ज्ञानचन्द्र जैन
87. मीराँ-सुधा-सिन्धु : स्वामी आनन्दस्वरूप
88. मीराँबाई : डॉ० प्रभात
89. मुंहणोत नैणसी की ख्यात (2 भाग) : ना० प्र० स०, काशी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

90. रसराज : परम्परा, जोधपुर
91. रसीलै राज रा गीत : महाराज मानसिंहजी जोधपुर, 'परम्परा' (सं० डॉ० नारायण सिंह भाटी)
92. राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० मोतीलाल मेनारिया
93. राजस्थान का पिंगल साहित्य : डॉ० मोतीलाल मेनारिया
94. राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी
95. राजस्थानी लोकगीत : सं० स्व० सूर्यकरण पारीक
96. राजस्थानी लोकगीत : सं० रावत सारस्वत
97. राजस्थान रा दूहा : सं० नरोत्तमदास स्वामी
98. रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना : भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'
99. रामचरितमानस
100. राजस्थानी भाषा : डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
101. राजस्थान का वासंतिक पर्व : गणगोर : सं० दीनदयाल ओझा
102. राजान राउत रो वात-बणाव : रा० सा० सं०, भाग 1, सं० नरोत्तमदास स्वामी
103. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग) : उदयसिंह भटनागर
104. राजरूपक; रतनू वीरभाँण : ना० प्र० स०, काशी
105. लावारासा
106. वसन्त विलास फागु : सं० मधुसूदन चिमनलाल मोदी
107. वंश भास्कर : सूर्यमल्ल
108. वर्णक-समुच्चय : डॉ० भोगीलाल साँडेसरा
109. विचार-विमर्श : चन्द्रबली पाण्डेय
110. विनयपत्रिका : तुलसी
111. वीरविनोद : कविराजा श्यामलदास
112. वीरमदे सोनीगरा री बात : रा० सा० सं०, भाग 2, सं० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
113. वेलि क्रिसन-रुकमणी री : राठौड़ पृथ्वीराज
114. वेलि टीका
115. शिवसिंह सरोज
116. सन्त-वाणी-संग्रह : वेलवेडियर प्रेस
117. सन्तवाणी (दादू वचनामृत) : स० पं० लक्ष्मीदत्त गोपाल शास्त्री

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

118. संदेश-रासक : सं० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी व विश्वनाथ त्रिपाठी
119. सभा श्रृंगार : सं० अगरचन्द नाहटा
120. सहजोबाई की बानी
121. समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि : अगरचन्द, भंवरलाल नाहटा
122. साकल्य : शान्तिप्रिय द्विवेदी
123. सीताराम-चौपाई : समयसुन्दर
124. सूरसागर
125. सूरजप्रकाश : करणीदान, सं० सीताराम लालस
126. हरिरस : ईसरदास
127. हम्मीरायण : सं० भँवरलाल नाहटा
128. हाला झालाँ रा कुण्डलिया : ईसरदास, सं० पं० मोतीलाल मेनारिया
129. हिन्दी साहित्य, उसका उद्भाव और विकास : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
1:0. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आ० रामचन्द्र शुक्ल
131. हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना : डॉ० श्यामनारायण पाण्डेय

संस्कृत

1. अमरुकशतक
2. उज्ज्वलनीलमणि : रूपगोस्वामी
3. नानार्थरत्नमाला : इ० दंडानिधाथ
4. नारदभक्तिसूत्र
5. महाभारत
6. मेघदूत
7. शाण्डिल्यभक्तिसूत्र
8. शिशुपालवध
9. श्वेताश्वेतरोपनिषद्
10. श्रीमद्भागवत्
11. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु : रूपगोस्वामी

गुजराती

1. कविचरित : केशवराम काशीराम शास्त्री
2. कुँवर बाई नुं मामेरूँ : प्रेमानन्द
3. कुँवर बाई नुं मोसालुँ : विष्णुदास

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

4. गुजराती भाषा अने साहित्य : प्रो० न० भो० दिवेटिया
5. गुजराती साहित्य ना स्वरूपो : भ० र० मजमुदार
6. मीराँबाई नी भजनो : हरिसिद्धभाई वजुभाई दिवेटिया
7. मीराँबाई : एक मनन : डॉ० मंजुलाल मजमुदार
8. साहित्य प्रवेशिका : हींमतलाल अंजारिया
9. वृहत् काव्य दोहन् (भाग 1, 2, 5, 6, 7)

अंग्रेजी

1. An Outline of the Religious Literature of India : J. N. Farquhar
2. Annals and Antiquities of Rajasthan : Col. James Tod
3. Gujrati & Its Literature : K. M. Munshi
4. Milestones in Gujrati Literature : K. M. Jhaveri
5. Mediaeval Mysticism of India : K. M. Sen
6. Mirabai : Her Life & Times; A Tentative Critical Biography : Journal of the Gujrat Research Society, Vol. XVIII.
7. Selections from Classical Gujrati Literature, Vol. I, Mirabai : Dr. I. J. S. Taraporewala
8. Selections from Hindi Literature : Lala Sita Ram; Book IV Calcutta.
9. Sufism : A. J. Arbery, 1950.
10. Sufism : Its Saints and Shrines : John A. Subhan.
11. The Story of Mirabai : Bankey Behari
12. Mirabai : Herman Goetz

कोश ग्रन्थ

1. राजस्थानी सबद कोस : सं० सीताराम लालस
2. वृहत् हिन्दी कोश
3. मानक हिन्दी कोष
4. डिंगल-कोश (परम्परा) सं० डॉ० नारायणसिंह भाटी
5. गुजराती हिन्दी कोश : गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

परिशिष्ट

पदानुक्रमणिका

क्र. सं.		पद-संख्या
1.	आली री ! मेरे नयनन बान पड़ी ।	9
2.	आओ सहेल्याँ रली कराँ हे, पर घर गवण निवारि ।	17
3.	आओ मनमोहन जी ! मीठा थाँरा बोल ।	65
4.	आओ मन मोहना जी ! जोऊँ थारी बाट ।	91
5.	ऐसी लगन लगाई कहाँ तू जासी ।	28
6.	करणाँ सुणि स्याम मेरी ।	60
7.	कोई दिन याद करोगे रमता राम अतीत ।	32
8.	को बिरहिणि को दुख जाणै हो ?	45
9.	किण संग खेलूँ होली, पिया तज गये हैं अकेली ।	50
10.	कोई काईयौ रे प्रभु आवन की ।	90
11.	गोविंद ! गाढा छौ जी दील रा मित ।	86
12.	गली तो चारों बन्द हुई, मैं हरि से मिलूँ कैसे जाई ?	95
13.	गिरधर ! रूसणूँ जी कोंण गुन्हाँ ?	36
14.	घड़ी एक नहीं आवड़ै, तुम दरसण बिन मोय ।	67
15.	चलो अगम के देस, काल देखत डरै ।	101
16.	छोड़ मत जाज्यो जी महाराज !	27
17.	जबतें मोहि नँदनंदन दृष्टि पर्यो माई ।	7
18.	जोगियाजी ! निस दिन जोऊँ बाट ।	25
19.	जोगी ! मत जा, मत जा, पाई परूँ मैं तेरी चेरी हो ।	26
20.	जोगिया से प्रीत कियाँ दुख होई ।	30
21.	जोगिया री प्रीतड़ी दुखड़ा रो मूल ।	31
22.	जावा दे, जावा दे जोगी किसका मीत ।	33

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

क्र. सं.		पद-संख्या
23.	जोगी ! म्हाँने दरस दिया सुख होई ।	63
24.	जोगियाजी ! आवो ना थे देस ।	78
25.	जोगिया नै कह ज्यो जी आदेस ।	79
26.	डारि गयो मनमोहन पासी ।	40
27.	तुम सुनो दयाल म्हारी अरजो ।	92
28.	तनक हरि ! चितवौ जी मोरी ओर ।	4
29.	थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ !	80
30.	दरस बिन दूखण लागै नैन ।	73
31.	देखत राम हँसे सुदामा कूँ, देखत राम हँसे ।	94
32.	धूतारा जोगी ! एकरसूँ हँसि बोल ।	34
33.	निपट बँकट छवि नैनां अटके ।	6
34.	नैनां लोभी रे बहुरि सके नहीं आय ।	8
35.	नहिं भावै थांरो देसड़लो रंग रूड़ो ।	19
36.	नातो नाम को रे मोसूं, तनक न तोड़्यो जाय ।	44
37.	पग घुंघरु बाँध मीराँ नाची रे !	21
38.	पियाजी ! म्हारे नैणा आगे रहज्यौ जी ।	29
39.	प्रभुजी ! थे कहाँ गया नेहड़ो लगाय ?	39
40.	परम सनेही राम की नित ओलूंरी आवै ।	42
41.	पतियाँ मैं कैसे लिखूं, लिख्योरी न जाय ।	47
42.	पपहया रे ! पिव की वाणी न बोल ।	53
43.	प्रभु बिन ना सरै माई ।	57
44.	पिया ! अब घर आज्यो मेरे, तुम मोरे हूँ तोरे ।	61
45.	प्यारे दर्शन दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय ।	66
46.	पिया ! मोंहि दरसण दीज्यौ हो ।	77
47.	पिया ! ते कहाँ गयोनेहरा लगाय ?	93
48.	पिया ! इतनी विनती सुनो मोरी ।	99
49.	बसो मेरे नैनन में नँदलाल !	2
50.	बड़े घर ताली लागी रे, म्हारा मनरी उणारथ भागी रे ।	15
51.	बरजी मैं काहू की नाहिं रहूँ ।	18
52.	बादल देख डरी हो स्याम ! मैं बादल देख डरी ।	52
53.	बरसे बदरिया सावन की ।	72
54.	भवनपति ! तुम घरि आज्यो हो ।	62
55.	भीजै म्हारो दाँवन चीर, सावणियो लूम रह्यो रे ।	83

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

क्र. सं.		पद-संख्या
56.	मतवारो बादर आयो रे, हरि को सनेसो नहिं लायो रे !	51
57.	मन रे परस हरि के चरण।	1
58.	मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।	10
59.	मैं तो साँवरे के रँग राची।	11
60.	मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।	12
61.	माई री ! मैं तो लियो गोविन्दो मोल।	13
62.	मैं गिरधर रंग राती, सैयाँ मैं····	14
63.	मीराँ लागो रंग हरी, और रंग सब अटक परी।	16
64.	मीराँ मगन भई हरि के गुण गाय।	23
65.	माई ! हरि हूँ न बूझी बात।	41
66.	मैं विरहिन बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली।	55
67.	म्हारै घर रमतो ही जोगिया तू आव।	64
68.	म्हारा जनम मरण रा साथी ! थानै नहिं बिसराऊँ दिन-राती।	68
69.	म्हारे घर होता जाज्यो राज !	71
70.	म्हारे घर आज्यो प्रीतम प्यारा ! तुम बिन सब जग खारा।	74
71.	म्हारे आज्यौ जी रामा, थारे आवत आस्यां सामा।	76
72.	म्हारा ओलगिया ! घर आज्यो जी।	81
73.	म्हारे घर आवो स्याम गोठड़ी कराइये।	82
74.	मेरे प्रीतम प्यारे राम कूँ, लिख भेजूँ रे पाती।	84
75.	मेरे घर आवो सुन्दर स्याम !	85
76.	मैं तो तोरै चरण लगी गोपाल !	87
77.	मिलता जाज्यो होजी गुमानी ! थाँरी सूरत देखि लुभानी।	89
78.	यहि विधि भगति कैसे होय ?	100
79.	राजाजी ! थे क्यांने राखो म्हांसू बैर।	20
80.	राणाजी ! थे जहर दियो म्हे जाणी।	22
81.	रमैया ! मेरे तोही सूं लागी नेह।	35
82.	रमैया ! बिन नींद न आवै हो।	46
83.	राम मिलण के काज सखी ! मेरे आरति उर में जागी री।	58
84.	राम मिलण रो घणो उमावो, नित उठ जोऊँ बाटड़ियाँ।	70
85.	रे सांवलिया ! म्हारे आज रंगीली गणगोर छै जी।	96
86.	लागी सो ही जाणै कठण लगण दी पीर।	97
87.	वारी-वारी हो राम ! हूँ वारी, तुम आज्यो गली हमारी।	75
88.	सखी री ! मेरी नींद नसानी हो।	56

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

क्र. सं.		पद-संख्या
89.	सइयां ! तुम बिण नींद न आवै हो ।	59
90.	सजन ! सुध ज्यूं जाणै त्यूं लीजै हो ।	69
91.	सांवरिया ! म्हारी प्रीतड़ली तो न्हिभाज्यो ।	88
92.	सखी ! म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर ।	98
93.	हरि मेरे जीवन प्राण आधार ।	3
94.	हे री मां ! नंद के गुमानी म्हारे मनड़े बस्यो ।	5
95.	हेली म्हांसू हरि बिन रह्यो न जाय ।	24
96.	हरि ! तुम हरो जन की भीर ।	37
97.	हरि बिन कूण गति मेरी ।	38
98.	हे री ! मैं तो दरद दिवानी, मेरा दरद न जाणै कोय ।	48
99.	होली पिया बिन मोहि लागै खारी, सुनो री सखी मोरी प्यारी ।	48
100.	होली पिया बिन मोहि न भावै, घर-आंगण न सुहावै ।	49
101.	हे मेरो मनमोहना !	54

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मीराँ पदावली

मीराँ पदावली के इस संशोधित संस्करण में राजस्थानी के अधिकारी विद्वान् डॉ. शम्भुसिंह मनोहर ने मीराँ के जीवन व कृतित्व से सम्बद्ध प्रायः प्रत्येक पक्ष पर मौलिक प्रकाश डाला है। राजस्थानी के विशिष्टार्थक शब्दों का अर्थ ठीक से न समझने के कारण मीराँ विषयक जो अनेक भ्रान्त स्थापनाएँ कर दी गई हैं, विद्वान् लेखक ने उपयुक्त उदाहरणों एवं पुष्ट प्रमाणों के आधार पर उनका सयुक्ति खंडन किया है।

इस दृष्टि से, मीराँ पर प्रकाशित यह प्रथम अधिकृत व्याख्या है। विशद समीक्षात्मक भूमिका के अन्तर्गत मीराँ-काव्य के विविध पक्षों का सर्वांगीण, साधार एवं सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो मीराँ की काव्य-चेतना को अपने सम्यक् परिप्रेक्ष्य में समझने में अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा।

यों, राजस्थान की इस प्रमुख भक्त-कवयित्री के पदों का एक राजस्थानी विद्वान् द्वारा सम्पादित यह एक प्रामाणिक संकलन है, जो मीराँ-काव्य-प्रेमियों तथा अध्येताओं के लिए सर्वथा अपरिहार्य एवं संग्रहणीय है।

डॉ. शम्भुसिंह मनोहर

जन्म-तिथि व भूमि	:	11 फरवरी, 1929; भादवा, जि. जयपुर (राज.)
शिक्षा	:	इंटर (1947) व बी. ए. (1949) में आर्डर आफ मैरिट में प्रथम; एम. ए. (हिन्दी, 1951) प्रथम श्रेणी; एल्-एल्. बी. (1952) प्रथम श्रेणी; पी-एच. डी. (1974); 'डॉ. एल्. पी. टैसीटरी स्वर्णपदक' से सम्मानित
अध्यापन	:	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (1962 से कार्यरत) सम्प्रति एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी
प्रकाशित कृतियाँ	:	1. ढोला-मारू रा दूहा (पूर्वार्द्ध); 2. निराला-कृत तुलसीदास (व्याख्या); 3. मीराँ-पदावली; 4. वीर सतसई (सूर्यमल्ल-प्रणीत); 5. वचनिका : राठौड़ रतनसिंघ जी-महेसदासोत री; खिड़िया जगा री कही; 6. राजस्थानी रसधारा।

मीराँ पदावली—शम्भुसिंह मनोहर   Rs. 95/-

Devavani Parishad New Delhi